प्रकाशक :

अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ

जोधपुर

शाखा कार्यालय

नेहरू गेट बाहर, ब्यावर (राजस्थान)

✆ : (01462) 251216, 257699, 250328

आवश्यक सूत्र

(शुद्ध मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन सहित)

आवरण सौजन्य

विद्या बाल मंडली सोसायटी, मेरठ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ साहित्य रत्न माला का १३० वाँ रत्न

आवश्यक सूत्र

(शुद्ध मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन सहित)

सम्पादक

नेमीचन्द बांठिया

पारसमल चण्डालिया

प्रकाशक

श्री अखिल भारतीय सुधर्म

जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर

शाखा-नेहरू गेट बाहर, ब्यावर-305901

(01462) 251216, 257699 फेक्स नं. 250328

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य सहायक

उदारमना श्रीमान् सेठ जशवंतलाल भाई शाह, बम्बई

प्राप्ति स्थान

१. श्री अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, सिटी पुलिस, **जोधपुर** ☎ 2626145

२. शाखा-अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, नेहरू गेट बाहर, **ब्यावर** ☎ 251216

३. महाराष्ट्र शाखा-माणके कंपाउंड, दूसरी मंजिल आंबेड़कर पुतले के बाजू में, **मनमाड़**

४. श्री जशवन्तभाई शाह एदुन बिल्डिंग पहली धोबी तलावलेन पो० बॉ० नं० 2217, **बम्बई-2**

५. श्रीमान् हस्तीमल जी किशनलालजी जैन प्रीतम हाऊ० कॉ० सोसा० ब्लॉक नं० १० स्टेट बैंक के सामने, **मालेगांव (नासिक)**

६. श्री एच. आर. डोशी जी-३६ बस्ती नारनौल अजमेरी गेट, **दिल्ली-६** ☎ 23233521

७. श्री अशोकजी एस. छाजेड़, १२१ महावीर क्लॉथ मार्केट, **अहमदाबाद**

८. श्री सुधर्म सेवा समिति भगवान् महावीर मार्ग, **बुलडाणा**

९. श्री श्रुतज्ञान स्वाध्याय समिति सांगानेरी गेट, **भीलवाड़ा**

१०. श्री सुधर्म जैन आराधना भवन २४ ग्रीन पार्क कॉलोनी साउथ तुकोगंज, **इन्दौर**

११. श्री विद्या प्रकाशन मन्दिर, ट्रांसपोर्ट नगर, **मेरठ** (उ. प्र.)

१२. श्री अमरचन्दजी छाजेड़, १०३ वाल टेक्स रोड़, **चैन्नई** ☎ 25357775

१३. श्री संतोषकुमार बोथरा वर्द्धमान स्वर्ण अलंकार ३६४, शांपिंग सेन्टर, **कोटा** ☎ 2360950

मूल्य : ३०-००

द्वितीय आवृत्ति

१०००

वीर संवत् २५३३

विक्रम संवत् २०६३

फरवरी २००७

मुद्रक - स्वास्तिक प्रिन्टर्स प्रेम भवन हाथी भाटा, अजमेर ☎ 2423295

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

जैन आगम साहित्य जगत् में आवश्यक सूत्र का विशेष ही नहीं अपितु अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के संयमी साधकों के लिए प्रतिदिन सुबह और सायंकाल प्रतिक्रमण (आवश्यक) करना अनिवार्य है। यदि कोई साधक इसका उल्लंघन करता है, तो वह अपने श्रमण धर्म से च्यूत माना जाता है क्योंकि आवश्यक निर्युक्ति में प्रथम और चरम तीर्थंकर के शासन में प्रतिक्रमण सहित धर्म प्ररूपित किया गया है। इसलिए संयमी साधक द्वारा दिन-रात्रि में चाहे किसी भी प्रकार के दोष का सेवन न भी हुआ तो भी उसके लिए प्रतिक्रमण करना अनिवार्य है। यह संयमी साधक की जीवन शुद्धि, दोष परिमार्जन का श्रेष्ठ साधन माना गया है। आगम साहित्य में आवश्यक को साधना का प्राण कहा है एवं सभी गुणों का इसमें निवास स्थान माना गया है।

आवश्यक जैन साधना का मुख्य अंग है। इसके अन्तर्गत साधक अपनी दैनिक प्रवृत्तियों का आत्मसाक्षी से अवलोकन करता हुआ स्खलनाओं का परिमार्जन कर शुद्धिकरण करता है। संयमी जीवन में अन्य आगमिकज्ञान की न्यूनाधिकता तो चल सकती है। परन्तु आवश्यक सूत्र का ज्ञान (कण्ठस्थ) होना तो अनिवार्य है, क्योंकि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर प्रभु का धर्म आवश्यक सूत्र सहित ही है। आवश्यक सूत्र की साधना के छह अंग है यथा - १. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वंदना ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान। आवश्यक सूत्र की साधना का जो क्रम दिया गया है, वह कार्य-कारण भाव की शृंखला पर अवस्थित है तथा पूर्ण वैज्ञानिक है। इसमें प्रथम स्थान सामायिक को दिया है। साधक के जीवन में सर्व प्रथम समता भाव का प्राप्त होना आवश्यक है। इसके बिना कोई भी साधना क्षेत्र में आगे नहीं बढ़ सकता है। दूसरा स्थान वीतराग प्रभु के गुण कीर्त्तन नामक चतुर्विंशतिस्वत का है। जिसका हृदय सरल होगा उसी के मन में महापुरुषों के प्रति स्तुति करने की भावना जागृत होगी। तीसरा स्थान वंदना का है। अपने गुरु भगवन्तों के प्रति आदर भाव से वंदना भी वही करता है, जिसमें नम्रता-विनय का गुण प्रस्फुटित हुआ हो। चौथे स्थान पर प्रतिक्रमण है। समता, सरलता और विम्रता की पृष्ठ भूमि वाला साधक ही अपने दोषों को निहार कर उनका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिमार्जन कर सकता है। पांचवां स्थान कायोत्सर्ग का है। इसमें तन और मन के योगों को स्थिर किया जाता है। छट्ठा स्थान प्रत्याख्यान का है। जिस साधक का तन-मन स्थिर होता है वही इच्छाओं का निरुन्धन कर प्रत्याख्यान की भूमिका प्राप्त कर सकता है। अत एव इसका स्थान अन्तिम रखा गया है। इस प्रकार ये छह आवश्यक आत्म-निरीक्षण, आत्म-परीक्षण एवं आत्मोत्कर्ष के श्रेष्ठ साधन है। अब प्रत्येक आवश्यक का अपनी-अपनी विशेषता के साथ विवेचन किया जायेगा।

१. सामायिक आवश्यक - आवश्यक सूत्र के जो छह अंग हैं, उसमें सामायिक का पहला स्थान है। क्योंकि जैन दर्शन में सामायिक को सम्पूर्ण साधना का सार कहा गया है। क्योंकि अतीत काल में जो भी साधक मुक्त हुए वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा जो मुक्त हो रहे हैं और भविष्य में जो भी मुक्त होगे उनकी मुक्ति होने का एक मात्र आधार सामायिक की साधना ही रही। पाँच चारित्र कहे गये हैं, उनमें से चार चारित्र तो सभी तीर्थंकरों के शासन पाये भी जाते हैं और न भी पाये जाते हैं यानी चार चारित्र की तो सभी तीर्थंकरों के समय मिलने की भजना है, किन्तु सामायिक चारित्र की तो प्रत्येक तीर्थंकर के समय में पाने की नियमा है।

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशक ९ में भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के कालास्यवेषिपुत्र अनगार ने भगवान् महावीर स्वामी की परंपरा के स्थविर भगवन्त से पूछा सामायिक क्या है? और सामायिक का क्या अर्थ है? स्थविर भगवन्तों ने इसके उत्तर में फरमाया -

"हमारी आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।"

इसका आशय यह है कि जब आत्मा समस्त पापमय प्रवृत्तियों का त्याग कर समभाव (समत्व भाव) में रमण करता है, तब सामायिक होती है। यानी कषाय एवं पाप वृत्तियों का त्याग कर आत्म भाव में रमण करना ही सामायिक है। इसका दूसरा आशय यह भी है कि आत्मा का बाह्य (विषम) दृष्टि का त्याग कर अर्न्तदृष्टि (समत्व) अपनाना ही सामायिक है।

सामायिक की साधना कोई सामान्य साधना नहीं प्रत्युक्त अति उत्कृष्ट साधना है जिस साधक ने इसकी सही साधना कर ली, उसका संसार परिभ्रमण या तो समाप्त हो जाता अथवा परिमित तो अवश्य हो ही जाता है। सम्बोध प्रकरण में बतलाया गया है -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तिव्वतवं तवमाणो जं न वि निद्दवइ जम्मकोडीहिं।

तं सममावियचित्तो खवेइ कम्मं खणद्धेणं॥११९॥

भावार्थ - कोटि जन्म तक तीव्र तपश्चर्या से तपता हुआ जीव, जितने कर्मों को क्षय नहीं कर सकता, उतने कर्म समभाव युक्त (सामायिक सहित) चित्त वाला जीव, अर्द्ध क्षण में क्षय कर देता है। इसी सम्बोध प्रकरण में अल्प कालीन शुद्ध सामायिक साधना का फल इस प्रकार बतलाया गया है -

दिवसे दिवसे लक्खं देइ सुवण्णस्स खंडियं एगो।

एगो (इयरो) पुण सामाइयं करेइ ण पहुप्पए तस्स॥११३॥

अर्थ - कोई दानेश्वरी, प्रतिदिन लाख-लाख खाँडी सोने का दान करे और कोई अन्य जीव, सामायिक करे, तो दानेश्वरी का वह दान, सामायिक से बढ़ कर नहीं होता।

सामाइयं कुणंतो समभावं, सावओ य घडियदुगं।

आउं सुरेसु बंधइ, इत्तियमित्ताइं पलियाइं॥११४॥

अर्थ - दो घड़ी समभाव युक्त सामायिक करने वाला श्रावक, आगे कहे हुए पल्योपम जितने देव का आयुष्य बाँधता है।

बाणवईकोडीओ लक्खा गुणसट्ठि सहस्स पणवीसं।

णवसय पणवीसाए सतिहा अडभागपलियस्स॥११५॥

अर्थ - बाणु करोड़ उनसठ लाख पच्चीस हजार नौ सौ पच्चीस पल्योपम और एक पल्योपम के आठ भाग में से तीन भाग सहित देव आयुष्य को बांधे।

अल्प कालिन शुद्ध सामायिक साधना का जब इतना फल है, तो फिर जो जीवन पर्यन्त इस की शुद्ध साधना - आराधना करते हैं, उनका तो मुक्ति गमन निश्चय है। आगमों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। अन्तगडदशा में अर्जुन अनगार का ज्वलंत प्रमाण है। उन्होंने समत्व भाव की साधना से मात्र छह माह में ही मुक्ति प्राप्त कर ली।

उत्तराध्ययन सूत्र के ९वें अध्ययन में नमिराजर्षि फरमाते हैं -

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥३४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ - जो पुरुष, दुर्जय, संग्राम में दस लाख सुभटों पर विजय प्राप्त करता है और एक महात्मा अपनी आत्मा को जीतता है। इन दोनों में उस महात्मा की यह विजय ही श्रेष्ठ विजय है।

व्यवहार सामायिक चार प्रकार की होती हैं -

१. **श्रुतसामायिक** - सम्यक् श्रुत का अभ्यास करना।

२. **सम्यक्त्व सामायिक** - मिथ्यात्व की निवृत्ति और यथार्थ श्रद्धान के प्रकटीकरण रूप चतुर्थ गुणस्थान की प्राप्ति।

३. **देश विरत सामायिक** - श्रावकों के देशव्रत - पंचम गुणस्थान की प्राप्ति।

४. **सर्व विरति सामायिक** - साधुओं के सर्व विरति रूप महाव्रतादि छठे गुणस्थान और इससे आगे के गुणस्थान की उन्नत दशा।

सामायिक का प्रारम्भ जैनत्व प्राप्ति रूप चतुर्थ गुणस्थान से होकर सिद्ध तक पहुँचता है। यानी जैनत्व प्राप्ति इसका प्रारम्भ और अन्त स्वयं की आत्मा का सामायिकमय बनकर सदा काल उसी रूप में स्थित हो जाना है। वास्तव में जैनत्व प्राप्ति और जिनत्व तथा सिद्धत्व सभी सामायिक के शुद्धत्व रूप है। इतना सामायिक का महत्त्व है। आवश्यकंता है समत्व भाव से इस की आराधना की। जितने जितने अंशों में समत्व भाव की विशुद्धता बढती है उतने उतने अंशों में ही साधक मोक्ष के नजदीक पहुँचता है।

२. **चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक** - आवश्यक सूत्र के छह अंगों में दूसरा स्थान चतुर्विंशस्तिव का है। जब साधक सावद्य योग से निवृत्त होकर समत्व भाव में रमण करता है, तो उसे अपने समत्वभाव को स्थिर रखने हेतु किसी आदर्श को सामने रखना होता है, उनकी स्तुति करने पर आत्मा में अलौकिक शान्ति की प्राप्ति होती है। तीर्थंकर सर्वोच्च पुण्य प्रकृति है। तीर्थंकर प्रभु त्याग-तप-संयम साधना एवं समत्व साधना आदि सभी दृष्टि से उच्चतम शिखर पर पहुँचे हुए महापुरुष होते हैं, जो जन्म के साथ तीन ज्ञान, दीक्षा अंगीकार करते ही जिन्हें चौथा मनःपर्यव ज्ञान और कालान्तर में केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार तीर्थंकर प्रभु ज्ञान की अपेक्षा सर्वोच्च केवलज्ञान के धारक, दर्शन की अपेक्षा क्षायिक सम्यक्त्व के धारी और चारित्र की अपेक्षा यथाख्यात रूप उत्कृष्ट चारित्र के धारक होते हैं। इनकी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्तुति कीर्तन करने से वासनाएं शान्त होती, हृदय शान्त और पवित्र बनता है। इन उत्तम पुरुषों की स्तुति करने से साधक के जीवन में पोरुष जागृत होता है, उपसर्ग-परीषह को समभाव पूर्वक सहन की करने की शक्ति विकसित होती है, इसलिए समत्व भाव एवं आध्यात्मिक शक्ति के विकास हेतु आवश्यक सूत्र के छह अंगों में इसका दूसरा स्थान रखा गया है।

३. वंदना आवश्यक - आवश्यक सूत्र में चतुर्विंशतिस्तव के पश्चात तीसरा स्थान गुरु वंदना का है। देव पद में तीर्थंकर प्रभु की स्तुति के बाद अपने प्रत्यक्ष उपकारी गुरु, जिन्होंने संसार के दावानल से निकाल कर संयम के अति शुभ मार्ग पर आरूढ़ होने की प्रेरणा प्रदान की। अत एव साधक को अपने उपकारी गुरु भगवन्त के श्री चरणों में मन-वचन और काया से समर्पित होकर वंदन करना चाहिए। जैन आगम साहित्य में विनय को धर्म का मूल कहा है। जो शिष्य अन्तर हृदय से जितना अपने गुरु (रत्नादि) का विनय कर उनके चित्त की आराधना करेगा, उतना ही उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों का विकास होगा। जिस प्रकार पानी में डाली गई तेल की बूंद का विस्तार होता है, उसी प्रकार वंदना विनय करने से शिष्य के जीवन का विकास निरन्तर बढ़ता चला जाता है।

वंदन करने से अहंकार का नाश एवं विनय गुण प्रकट होता है। साथ ही नीच गोत्र रूप बंधे कर्मों का क्षय और उच्च गोत्र कर्म का बंध एवं सौभाग्य नाम का उपार्जन होता है। यह सब फल वंदन कर्त्ता को तब ही प्राप्त होता जब वह वंदन सद्गुणों के धारक सद्गुरु जो द्रव्य और भाव चारित्र से सम्पन्न हो तथा शिष्य द्वारा बिना किसी लोभ, लालच, भय, प्रलोभन, प्रतिष्ठा के द्रव्य और भाव रूप वंदना की जाय। इसके अलावा वंदना के जो बत्तीस दोष आगम में बतलाये उनका भी साधक को टाला करना आवश्यक है, तभी साधक को वंदन का सही लाभ मिल सकता है। इस प्रकार मन, वचन, काया के द्वारा सद्गुरु को वंदन करने से साधक के आवश्यक के तीसरे अंग की आराधना निर्मल, शुद्ध बनती है।

४. प्रतिक्रमण आवश्यक - यह आवश्यक सूत्र का चतुर्थ एवं प्रमुख अंग है। जीव अनादि काल से मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग रूपी रोगों से घिरा हुआ है, जिसके कारण विषय वासना इसमें अपना प्रभुत्व जमाये बैठे हुए हैं। अत एव सावधानी रखते हुए भी इस जीव के द्वारा समय-समय पर इनका सेवन होना स्वाभाविक है। उन का परिष्कार प्रतिक्रमण के द्वारा किया जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण का शाब्दिक अर्थ है, पुनःलौटना। प्रश्न होता है, कौन से स्थान से, कहाँ से लौटना? इसका समाधान है, विभाव दशा से स्वभाव दशा में, अशुभ योग से शुभ योग में लौटना। मिथ्यात्व, प्रमाद, अव्रत, कषाय और अशुभ योग आत्मा के ऐसे भयंकर शत्रु हैं, जो अनादि काल से आत्मा के साथ लगे हुए हैं, वे सावधानी रखते हुएं आत्मा को अपने जाल में फंसा ही लेते हैं। इन पांचों में से किसी कारण के प्रभाव से साधक के गृहीत व्रत, नियम मर्यादा में अतिक्रमण होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में साधक प्रातः और संध्या दोनों समय अपनी आत्म साक्षी से अन्तर्निरीक्षण करे, यदि किसी अकरणीय स्थान का उसके द्वारा सेवन हो गया हो, तो उस स्थान की वह आलोचना, निंदा आदि के द्वारा शुद्धिकरण कर लेता है। कदाच् दोष न भी लगा हो तो प्रतिक्रमण, गृहित व्रतों को पुष्टि प्रदान करता है। आगमकार महर्षि प्रतिक्रमण को ऐसी औषधि बतलाई है, जो रोग होने पर उससे मुक्त करती है और रोग न होने की अवस्था में उसके शरीर को पोष्टिकता प्रदान करती है।

वास्तव में कुशल व्यापारी वही होता है, जो प्रतिदिन अपनी आमदनी और खर्च का लेखा-जोखा रखता है, दिन भर में उसे कितनी आमदनी हुई। जिसे अपनी आमदनी का ज्ञान नहीं, जो अंधाधुंध व्यापार में लगा रहता है। वह सफल व्यापारी नहीं हो सकता, उसे अंततोगत्वा पछताना ही पड़ता है। ठीक इसी प्रकार जो साधक अपने प्रतिदिन की संयम चर्चा का अवलोकन नहीं करता और अपने द्वारा हुई स्खलानाओं का परिमार्जन नहीं करता वह भी अपने लक्ष्य से भटक जाता है। प्रतिक्रमण साधक के साधना जीवन की एक ऐसी डायरी है, जिसमें वह प्रतिदिन अपने व्रतों में हुए अतिक्रमण की नोंध कर उसका सुबह-शाम दोनों टाईम प्रतिक्रमण के द्वारा शुद्धिकरण कर सकता है। इस प्रकार प्रतिक्रमण जीवन को सुधारने का श्रेष्ठ साधन है। इसे आध्यात्मिक जीव की धुरी कहा जा सकता है।

५. कायोत्सर्ग आवश्यक - कायोत्सर्ग आवश्यक सूत्र का पांचवाँ अंग है। दो शब्दों के संयोग से इसकी व्युत्पत्ति हुई है-(काय+उत्सर्ग) जिसका तात्पर्य है काया का त्याग।

यहाँ काया त्याग से आशय शारीरिक चंचलता और देह आसक्ति त्याग से है। यानी देह में रहते हुए, देहातीत होना। इसमें शरीर की ममता का त्याग यानी अर्न्तमुखी बन कर आत्मावलोकन करना। आत्मावलोकन करने पर उसे शरीर और आत्मा के पृथक् अस्तित्त्व का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान होता है आत्मा अजर-अमर अविनाशी, अनन्त शक्ति का पुंज है। जबकि शरीर क्षणभंगुर नाशवान् है। कायोत्सर्ग की निरन्तर साधना से अन्तर्मानस में बल का संचार होता है, परिणाम स्वरूप साधक का जीवन इतना दृढ़ संकल्पी बन जाता है कि उसके समक्ष मनुष्य, तिर्यंच, देव सम्बन्धी के कोई उपसर्ग उपस्थित होने पर भी वह विचलित नहीं होता।

कायोत्सर्ग साधना जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिए किया जाता है। इस बात की सिद्धि कायोत्सर्ग के इस सूत्र से होती है **"तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्त करणेणं विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं णिग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं"** यानी आत्मा पर लगे मैल (पाप) को विशेष शुद्ध करने के लिए, पापों का नाश करने के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ। वैसे तो प्रतिक्रमण से पापों की आलोचना करने से शुद्धि हो ही जाती है, फिर यदि कोई दाग रह जाता है, तो उसे कायोत्सर्ग के द्वारा उसे हटाया जाता है। इसलिए अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग को व्रणचिकित्सा कहा है। साधना जीवन में लगे दोष रूपी घावों को ठीक करने के लिए कायोत्सर्ग एक प्रकार का मरहम है। जो अतिचार रूपी घावों को ठीक कर डालता है। इसी विशेष शुद्धि के लक्ष्य से संयमी साधक को बार-बार कायोत्सर्ग करने का आगम में विधान किया गया है।

६. प्रत्याख्यान आवश्यक - यह आवश्यक सूत्र का छठा एवं अन्तिम अंग है, सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मा पर लगे हुए दोषों का परिमार्जन किया जाता है। जबकि प्रत्याख्यान आवश्यक अंग में इच्छाओं का निरुन्धन किया जाता है। मानव की इच्छायें असीम हैं, जिन्हें पाने के लिए चित्त में अशांति बनी रहती है। उस अशान्ति को समाप्त करने का एक मात्र उपाय इच्छाओं का निरुन्धन यानी प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान धारण करने के पश्चात् इच्छाएं सीमित हो जाती है, जिससे चित्त में समाधि के साथ आस्रव का निरुन्धन हो जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र के २९ वें अध्ययन में प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है, इसके लिए बतलाया गया है।

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं णिरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छाणिरोहं जणयइ इच्छाणिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ॥१३॥

अर्थ - प्रत्याख्यान करने से आस्रव द्वारों का निरोध होता है, प्रत्याख्यान करने से इच्छा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का निरोध होता है, इच्छा का निरोध होने से जीव सभी पदार्थों में तृष्णारहित बना हुआ शीतीभूत-परम शांति से विचरता है।

इस प्रकार शुद्ध भाव से कालोकाल (सुबह-सायंकाल) छह आवश्यक की आराधना करने से महान् कर्मों की क्षपणा होती है एवं उत्कृष्ट रसायन आने पर तीर्थंकर नाम कर्म का बंध भी हो सकता है। अतएव प्रत्येक साधक को द्रव्य और भाव पूर्वक दोनों समय प्रतिक्रमण करना चाहिये।

हमारे संघ द्वारा आवश्यक सूत्र (प्रतिक्रमण) का प्रकाशन छोटी साईज में हुआ, जिसकी ६ (छह) आवृत्तियाँ निकल चुकी है। किन्तु संघ की आगम-बत्तीसी प्रकाशन योजना के अन्तर्गत यह ३२वाँ अन्तिम आगम बड़ी साईज में विवेचन युक्त प्रथम बार पाठक बन्धुओं के श्रीचरणों में रखते हुए प्रसन्नता हो रही है। इसके अनुवाद का कार्य मेरे सहयोगी **श्रीमान् पारसमलजी सा. चण्डालिया** ने प्राचीन टीकाओं के आधार पर किया है। इस अनुवाद को धर्मप्रेमी **सुश्रावक श्रीमान् राजकुमारजी कटारिया, जगदलपुर** ने वर्तमान ज्ञानगच्छाधिपति श्रुतधर भगवंत की आज्ञा से आगमज्ञ पूज्य लक्ष्मीचन्दजी म. सा. को सुनाने की कृपा की। पूज्यश्री ने जहाँ कहीं भी आगमिक धारणा सम्बन्धी न्यूनाधिकता महसूस की वहाँ संशोधन करने का संकेत किया। अतः हमारा संघ पूज्य गुरु भगवन्तों का एवं धर्मप्रेमी **सुश्रावक श्रीमान् राजकुमारजी कटारिया** का हृदय से आभार व्यक्त करता है। तत्पश्चात् मैंने इसका अवलोकन किया।

इसके अनुवाद में भी संघ द्वारा प्रकाशित भगवती सूत्र के अनुवाद (मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन) की शैली का अनुसरण किया गया है। यद्यपि इस आगम के अनुवाद में पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी रखने के बावजूद विद्वान् पाठक बन्धुओं से निवेदन है कि जहाँ कहीं भी कोई त्रुटि, अशुद्धि आदि ध्यान में आवे वह हमें सूचित करने की कृपा करावें। हम उनका आभार मानेंगे और अगली प्रकाशित होने वाली आवृत्ति में उन्हें संशोधित करने का ध्यान रखेंगे।

संघ का आगम प्रकाशन का काम पूर्ण हो चुका है। इस आगम प्रकाशन के कार्य में **धर्म प्राण समाज रत्न तत्त्वज्ञ सुश्रावक श्री जशवंतलाल भाई शाह एवं श्राविका रत्न श्रीमती मंगला बहन शाह, बम्बई** की गहन रुचि है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आपकी भावना है कि संघ द्वारा जितने भी आगम प्रकाशन हों वे अर्द्ध मूल्य में ही बिक्री के लिए पाठकों को उपलब्ध हो। इसके लिए उन्होंने सम्पूर्ण आर्थिक सहयोग प्रदान करने की आज्ञा प्रदान की है। तदनुसार प्रस्तुत आगम पाठकों को उपलब्ध कराया जा रहा है, संघ एवं पाठक वर्ग आपके इस सहयोग के लिए आभारी है।

आदरणीय शाह साहब तत्त्वज्ञ एवं आगमों के अच्छे ज्ञाता हैं। आप का अधिकांश समय धर्म साधना आराधना में बीतता है। प्रसन्नता एवं गर्व तो इस बात का है कि आप स्वयं तो आगमों का पठन-पाठन करते ही हैं, पर आपके सम्पर्क में आने वाले चतुर्विध संघ के सदस्यों को भी आगम की वाचनादि देकर जिनशासन की खूब प्रभावना करते हैं। आज के इस हीयमान युग में आप जैसे तत्त्वज्ञ श्रावक रत्न का मिलना जिनशासन के लिए गौरव की बात है। आपके पुत्र रत्न **मयंकभाई शाह** एवं **श्रेयांसभाई शाह** भी आपके पद चिन्हों पर चलने वाले हैं। आप सभी को आगमों एवं थोकड़ों का गहन अभ्यास है। आपके धार्मिक जीवन को देख कर प्रमोद होता है। आप चिरायु हो एवं शासन की प्रभावना करते रहें, इसी भावना के साथ।

जैसा कि पाठक बुन्धुओं को मालूम ही है कि वर्तमान में कागज एवं मुद्रण सामग्री के मूल्य में काफी वृद्धि हो चुकी है। फिर भी **आदरणीय शाह साहब** के आर्थिक सहयोग से इसका मूल्य मात्र **रु० 30) तीस रुपया** रखा है जो कि वर्तमान परिपेक्ष्य में ज्यादा नहीं है।

आवश्यक सूत्र की प्रथम आवृत्ति का प्रकाशन जून २००६ में हुआ था। अब यह द्वितीय आवृत्ति पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। आगम रसिक बंधु इससे अधिक से अधिक लाभान्वित हो, इसी शुभ भावना के साथ!

ब्यावर (राज.)
दिनांक : १ फरवरी २००७

संघ सेवक
नेमीचन्द बांठिया
अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अस्वाध्याय

निम्नलिखित बत्तीस कारण टालकर स्वाध्याय करना चाहिये।

आकाश सम्बन्धी १० अस्वाध्याय	**काल मर्यादा**
१. बड़ा तारा टूटे तो-	एक प्रहर
२. दिशा-दाह *	जब तक रहे
३. अकाल में मेघ गर्जना हो तो-	दो प्रहर
४. अकाल में बिजली चमके तो-	एक प्रहर
५. बिजली कड़के तो-	आठ प्रहर
६. शुक्ल पक्ष की १, २, ३ की रात-	प्रहर रात्रि तक
७. आकाश में यक्ष का चिह्न हो-	जब तक दिखाई दे
८-९. काली और सफेद धूंअर-	जब तक रहे
१०. आकाश मंडल धूलि से आच्छादित हो-	जब तक रहे
औदारिक सम्बन्धी १० अस्वाध्याय	
११-१३. हड्डी, रक्त और मांस,	ये तिर्यंच के ६० हाथ के भीतर हो। मनुष्य के हो, तो १०० हाथ के भीतर हो। मनुष्य की हड्डी यदि जली या धुली न हो, तो १२ वर्ष तक।
१४. अशुचि की दुर्गंध आवे या दिखाई दे-	तब तक
१५. श्मशान भूमि-	सौ हाथ से कम दूर हो, तो।

* आकाश में किसी दिशा में नगर जलने या अग्नि की लपटें उठने जैसा दिखाई दे और प्रकाश हो तथा नीचे अंधकार हो, वह दिशा-दाह है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१६. चन्द्र ग्रहण-	खंड ग्रहण में ८ प्रहर, पूर्ण हो तो १२ प्रहर

(चन्द्र ग्रहण जिस रात्रि में लगा हो उस रात्रि के प्रारम्भ से ही अस्वाध्याय गिनना चाहिये।)

१७. सूर्य ग्रहण-	खंड ग्रहण में १२ प्रहर, पूर्ण हो तो १६ प्रहर

(सूर्य ग्रहण जिस दिन में कभी भी लगे उस दिन के प्रारंभ से ही उसका अस्वाध्याय गिनना चाहिये।)

१८. राजा का अवसान होने पर,	जब तक नया राजा घोषित न हो
१९. युद्ध स्थान के निकट	जब तक युद्ध चले
२०. उपाश्रय में पंचेन्द्रिय का शव पड़ा हो,	जब तक पड़ा रहे

(सीमा तिर्यंच पंचेन्द्रिय के लिए ६० हाथ, मनुष्य के लिए १०० हाथ। उपाश्रय बड़ा होने पर इतनी सीमा के बाद उपाश्रय में भी अस्वाध्याय नहीं होता। उपाश्रय की सीमा के बाहर हो तो यदि दुर्गन्ध न आवे या दिखाई न देवे तो अस्वाध्याय नहीं होता।)

२१-२४. आषाढ़, आश्विन, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा	दिन रात
२५-२८. इन पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदा-	दिन रात
२९-३२. प्रातः, मध्याह्न, संध्या और अर्द्ध रात्रि- इन चार सन्धिकालों में-	१-१ मुहूर्त्त

उपरोक्त अस्वाध्याय को टालकर स्वाध्याय करना चाहिए। खुले मुंह नहीं बोलना तथा सामायिक, पौषध में दीपक के उजाले में नहीं वांचना चाहिए।

नोट - नक्षत्र २८ होते हैं उनमें से आर्द्रा नक्षत्र से स्वाति नक्षत्र तक नौ नक्षत्र वर्षा के गिने गये हैं। इनमें होने वाली मेघ की गर्जना और बिजली का चमकना स्वाभाविक है। अतः इसका अस्वाध्याय नहीं गिना गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक सूत्र
विषयानुक्रमणिका

क्रं०	विषय	पृष्ठ
१.	उत्थानिका	१
२.	गुरु वंदन सूत्र	४
	सामायिक नामक प्रथम अध्ययन	**९-३८**
३.	उत्थानिका -	९
४.	नमस्कार सूत्र	१०
५.	सामायिक सूत्र (सामायिक चारित्र लेने का पाठ)	१५
६.	प्रतिक्रमण सूत्र	१८
७.	उत्तरीकरण सूत्र (तस्स उत्तरी का पाठ)	२५
८.	ज्ञानातिचार सूत्र	२८
	चतुर्विंशतिस्तव नामक द्वितीय अध्ययन	**३९-४४**
९.	उत्थानिका -	३९
१०.	चतुर्विंशतिस्तव सूत्र (लोगस्स का पाठ)	४०
	वंदना नामक तृतीय अध्ययन	**४५-५२**
११.	उत्थानिका	४५
१२.	द्वादशावर्त्त गुरु-वंदन सूत्र (इच्छामि खमासमणो का पाठ)	४६
१३.	खमासमणो (द्वादशावर्त्त वंदन) विधि	४८
	प्रतिक्रमण नामक चौथा अध्ययन	**५३-११२**
१४.	प्रतिक्रमण का अर्थ	५३
१५.	प्रतिक्रमण के भेद	५४
१६.	प्रतिक्रमण आवश्यक क्यों है?	५७
१७.	प्रतिक्रमण से लाभ	५८
१८.	मंगलादि सूत्र (चत्तारि मंगलं का पाठ)	५९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रं०	विषय	पृष्ठ
१९.	आलोचना सूत्र (इच्छाकारेणं का पाठ)	६१
२०.	शय्या सूत्र (निद्रा दोष निवृत्ति का पाठ)	६४
२१.	गोचरचर्या सूत्र (भिक्षा दोष निवृत्ति का पाठ)	६६
२२.	काल प्रतिलेखना सूत्र (चाउक्काल सज्झायस्स का पाठ)	७०
२३.	तेतीस बोल का पाठ	७३
२४.	प्रतिज्ञा सूत्र (नमो चउवीसाए का पाठ)	१६०
२५.	क्षमापना सूत्र, आयरिय उवज्झाए का पाठ	१२०
	कायोत्सर्ग नामक पांचवाँ अध्ययन	**१२३-१२५**
२६.	प्रायश्चित्त का पाठ	१२४
	प्रत्याख्यान नामक षष्ठ अध्ययन	**१२६-१३१**
२७.	प्रत्याख्यान सूत्र	१२८
	१. नवकारसी	१२८
	२. पौरुषी	१२९
	३. पूर्वार्द्ध	१३०
	४. एकाशन	१३१
	५. एकस्थान (एकलठाणा)	१३२
	६. आयम्बिल	१३३
	७. उपवास (चौविहार)	१३४
	तिविहार उपवास	१३५
	८. दिवसचरिम	१३६
	९. अभिग्रह	१३७
	१०. निर्विकृतिक (निवि)	१३७
२८.	प्रत्याख्यान पारणा सूत्र	१३८
	परिशिष्ट प्रथम	**१४०-२०७**
२९.	श्रमण आवश्यक सूत्र	१४०
३०.	प्रणिपात सूत्र (णमोत्थुणं का पाठ)	१४०
३१.	इच्छामि णं भंते का पाठ	१४४

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रं०	विषय	पृष्ठ
३२.	दर्शन सम्यक्त्व का पाठ	१४५
३३.	कायोत्सर्ग का पाठ (१२५ अतिचार)	१४८
३४.	एक सौ पच्चीस अतिचारों का समुच्चय पाठ	१५२
३५.	पहले महाव्रत की पाँच भावना	१५२
३६.	दूसरे महाव्रत की पाँच भावना	१५३
३७.	तीसरे महाव्रत की पाँच भावना	१५३
३८.	चौथे महाव्रत की पाँच भावणा	१५३
३९.	पाँचवें महाव्रत की पाँच भावना	१५४
४०.	छठे व्रत की दो भावना	१५४
४१.	ईर्या समिति के चार अतिचार	१५५
४२.	भाषा समिति के दो अतिचार	१५५
४३.	एषणा समिति के सैंतालीस अतिचार	१५५
	उद्गम् के सोलह दोष	१५५
	उत्पादना के सोलह दोष	१५७
	एषणा के दस दोष	१५८
	माण्डला के पाँच दोष	१५९
४४.	आदन-भाण्ड मात्र (अर्थात् पात्र शेष सबका ग्रहण भण्ड शब्द से) निक्षेपणा समिति के दो अतिचार	१६०
४५.	उच्चार पासवण खेल जल्ल सिंघाण परिट्ठावणिया समिति के दस अतिचार	१६०
४६.	गुप्ति के नौ अतिचार	१६१
४७.	पाँच महाव्रत की पच्चीस भावनाओं का विस्तार	१६२
	प्रथम् महाव्रत की ५ भावनाएं	१६२
	दूसरे महाव्रत की पाँच भावनाएं	१६५
	तीसरे महाव्रत की पाँच भावनाएं	१६७
	चौथे महाव्रत की पाँच भावनाएं	१७०
	पांचवें महाव्रत की पांच भावनाएं	१७२
४८.	मूल गुण आदि का पाठ	१७६

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रं०	विषय	पृष्ठ
४९.	अठारह पाप स्थान का पाठ	१७६
५०.	कायोत्सर्ग विशुद्धि का पाठ	१७७
५१.	एक सौ पच्चीस अतिचारों का प्रकटीकरण	१७७
५२.	पाँच महाव्रत	१७७
५३.	पाँच समिति	१८०
५४.	तीन गुप्ति	१८२
५५.	संलेखना के पाँच अतिचारों का पाठ	१८३
५६.	तस्स सव्वस्स का पाठ	१८४
५७.	पाँच पदों की वंदना	१८४
५८.	चोरासी लाख जीवयोनि का पाठ	२००
५९.	देवसियादि प्रायश्चित्त का पाठ	२०१
६०.	समुच्चय पच्चक्खाण का पाठ	२०१
६१.	प्रतिक्रमण का समुच्चय का पाठ	२०२
६२.	श्रमण प्रतिक्रमण की विधि	२०२
६३.	संस्तार-पौरुषी सूत्र	२०४
६४.	रत्नाधिकों को खमाने का पाठ	२०७
	परिशिष्ट द्वितीय	**२०८-२६३**
६५.	श्रावक आवश्यक सूत्र	२०८
६६.	इच्छामि णं भंते का पाठ	२०८
६७.	प्रतिज्ञा सूत्र (करेमि भंते का पाठ)	२०९
६८.	इच्छामि ठामि का पाठ	२१०
६९.	बारह व्रतों के अतिचार	२१३
७०.	अतिचारों का समुच्चय पाठ	२१७
७१.	बारह व्रतों के अतिचार सहित पाठ	२१७
	१. अहिंसा अणुव्रत	२१७
	२. सत्य अणुव्रत	२२०
	३. अचौर्य अणुव्रत	२२२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्रं०	विषय	पृष्ठ
	४. ब्रह्मचर्य व्रत	२२४
	५. अपरिग्रह अणुव्रत	२२६
	६. दिशा परिमाण व्रत	२२७
	७. उपभोग परिभोग परिमाण व्रत	२२९
	८. अनर्थ दण्ड विरमण व्रत	२३४
	९. सामायिक व्रत	२३७
	१०. देशावकाशिक व्रत	२३८
	११. प्रतिपूर्ण पौषध व्रत	२४१
	१२. अतिथि संविभाग व्रत	२४३
७२.	बड़ी संलेखना का पाठ	२४६
७३.	[तस्स धम्मस्स का पाठ]	२५१
७४.	पच्चीस मिथ्यात्व का पाठ	२५१
७५.	सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति के स्थान का पाठ	२५५
७६.	श्रमण सूत्र के पाठों के विषय में चर्चा	२५६
७७.	ढ़ाई द्वीप का पाठ	२५८
७८.	प्रतिक्रमण करने की विधि	२५९
	परिशिष्ट तृतीय	२६४-२८४
७९.	आवश्यक सम्बन्धी विशेष विचारणा	२६४
	१. आवश्यक का शब्दार्थ	२६४
	२. आवश्यक के पर्यायवाची शब्द	२६५
	३. आवश्यक के ६ प्रकार	२६६
	४. आवश्यक का आध्यात्मिक फल	२६७
	५. आवश्यक के भेद	२६८
	६. आवश्यक की महत्ता	२७३
	७. आवश्यक का विस्तृत विवेचन	२७३
	भाव सामायिक के प्रकार और परिभाषा	२७४
	८. आवश्यक क्रम	२८३

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री अ० भा० सुधर्म जैन सं० रक्षक संघ, जोधपुर आगम बत्तीसी प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशित आगम

अंग सूत्र

क्रं.	नाम आगम	मूल्य
१.	आचारांग सूत्र भाग-१-२	५५-००
२.	सूयगडांग सूत्र भाग-१,२	६०-००
३.	स्थानांग सूत्र भाग-१, २	६०-००
४.	समवायांग सूत्र	२५-००
५.	भगवती सूत्र भाग १-७	३००-००
६.	ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र भाग-१, २	८०-००
७.	उपासकदशांग सूत्र	२०-००
८.	अन्तकृतदशा सूत्र	२५-००
९.	अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र	१५-००
१०.	प्रश्नव्याकरण सूत्र	३५-००
११.	विपाक सूत्र	३०-००

उपांग सूत्र

१.	उववाइय सुत्त	२५-००
२.	राजप्रश्नीय सूत्र	२५-००
३.	जीवाजीवाभिगम सूत्र भाग-१,२	८०-००
४.	प्रज्ञापना सूत्र भाग-१,२,३,४	१६०-००
५.	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	५०-००
६-७.	चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति	२०-००
८-१२.	निरयावलिका (कल्पिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा)	२०-००

मूल सूत्र

१.	दशवैकालिक सूत्र	३०-००
२.	उत्तराध्ययन सूत्र भाग-१, २	८०-००
३.	नंदी सूत्र	२५-००
४.	अनुयोगद्वार सूत्र	५०-००

छेद सूत्र

१-३.	त्रीणिछेदसुत्ताणि सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार)	५०-००
४.	निशीथ सूत्र	५०-०

१. आवश्यक सूत्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संघ के अन्य प्रकाशन

क्रं.	नाम	मूल्य
१.	अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग १	१४-००
२.	अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग २	४०-००
३.	अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग ३	३०-००
४.	अंगपविट्ठसुत्ताणि संयुक्त	८०-००
५.	अनंगपविट्ठसुत्ताणि भाग १	३५-००
६.	अनंगपविट्ठसुत्ताणि भाग २	४०-००
७.	अनंगपविट्ठसुत्ताणि संयुक्त	८०-००
८.	अनुत्तरोववाइय सूत्र	३-५०
९.	आयारो	८-००
१०.	सूयगडो	६-००
११.	उत्तरज्झयणाणि(गुटका)	१०-००
१२.	दसवेयालिय सुत्तं (गुटका)	५-००
१३.	णंदी सुत्तं (गुटका)	अप्राप्य
१४.	चउछेयसुत्ताइं	१५-००
१५.	आचारांग सूत्र भाग १	२५-००
१६.	अंतगडदसा सूत्र	१०-००
१७-१९.	उत्तराध्ययनसूत्र भाग १,२,३	४५-००
२०.	आवश्यक सूत्र (सार्थ)	१०-००
२१.	दशवैकालिक सूत्र	१०-००
२२.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग १	१०-००
२३.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग २	१०-००
२४.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग ३	१०-००
२५.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग ४	१०-००
२६.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह संयुक्त	१५-००
२७.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग १	८-००
२८.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग २	१०-००
२९.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग ३	१०-००
३०-३२.	तीर्थंकर चरित्र भाग १,२,३	१४०-००
३३.	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग १	३५-००
३४.	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग २	३०-००
३५-३७.	समर्थ समाधान भाग १,२,३	५७-००
३८.	सम्यक्त्व विमर्श	१५-००
३९.	आत्म साधना संग्रह	२०-००
४०.	आत्म शुद्धि का मूल तत्वत्रयी	२०-००
४१.	नवतत्वों का स्वरूप	१३-००
४२.	अगार-धर्म	१०-००
४३.	Saarth Saamaayik Sootra	१०-००
४४.	तत्त्व-पृच्छा	१०-००
४५.	तेतली-पुत्र	४५-००
४६.	शिविर व्याख्यान	१२-००
४७.	जैन स्वाध्याय माला	१८-००
४८.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग १	२२-००
४९.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग २	१५-००
५०.	सुधर्म चरित्र संग्रह	१०-००

क्रं.	नाम	मूल्य
५१.	लोंकाशाह मत समर्थन	१०-००
५२.	जिनागम विरुद्ध मूर्ति पूजा	१५-००
५३.	बड़ी साधु वंदना	१०-००
५४.	तीर्थंकर पद प्राप्ति के उपाय	५-००
५५.	स्वाध्याय सुधा	७-००
५६.	आनुपूर्वी	१-००
५७.	सुखविपाक सूत्र	२-००
५८.	भक्तामर स्तोत्र	२-००
५९.	जैन स्तुति	६-००
६०.	सिद्ध स्तुति	३-००
६१.	संसार तरणिका	७-००
६२.	आलोचना पंचक	२-००
६३.	विनयचन्द चौबीसी	१-००
६४.	भवनाशिनी भावना	२-००
६५.	स्तवन तरंगिणी	५-००
६६.	सामायिक सूत्र	१-००
६७.	सार्थ सामायिक सूत्र	३-००
६८.	प्रतिक्रमण सूत्र	३-००
६९.	जैन सिद्धांत परिचय	३-००
७०.	जैन सिद्धांत प्रवेशिका	४-००
७१.	जैन सिद्धांत प्रथमा	४-००
७२.	जैन सिद्धांत कोविद	३-००
७३.	जैन सिद्धांत प्रवीण	४-००
७४.	तीर्थंकरों का लेखा	१-००
७५.	जीव-धड़ा	२-००
७६.	१०२ बोल का बासठिया	०-५०
७७.	लघुदण्डक	३-००
७८.	महादण्डक	१-००
७९.	तेतीस बोल	२-००
८०.	गुणस्थान स्वरूप	३-००
८१.	गति-आगति	१-००
८२.	कर्म-प्रकृति	१-००
८३.	समिति-गुप्ति	२-००
८४.	समकित के ६७ बोल	२-००
८५.	पच्चीस बोल	३-००
८६.	नव-तत्त्व	६-००
८७.	सामायिक संस्कार बोध	४-००
८८.	मुखवस्त्रिका सिद्धि	३-००
८९.	विद्युत् सचित्त तेऊकाय है	३-००
९०.	धर्म का प्राण यतना	२-००
९१.	सामण्ण सन्निधम्मो	अप्राप्य
९२.	मंगल प्रभातिका	१.२५
९३.	कुगुरु गुर्वाभास स्वरूप	४-००

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

॥ णमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

आवश्यक सूत्र

(मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ और विवेचन सहित)

उत्थानिका - भूतकाल में अनंत तीर्थंकर हो चुके हैं, भविष्य में फिर अनंत तीर्थंकर होवेंगे और वर्तमान में संख्यात तीर्थंकर विद्यमान हैं। अत एव जैन धर्म अनादिकाल से है इसीलिये इसे सनातन (सदातन - अनादिकालीन) धर्म कहते हैं।

जैन धर्म में ज्ञान के पांच भेद किये गये हैं - १. मति २. श्रुत ३. अवधि ४. मनःपर्यव और ५. केवल। नंदीसूत्र में श्रुत के १४ भेद किये गये हैं - १. अक्षर श्रुत २. अनक्षर श्रुत ३. संज्ञी श्रुत ४. असंज्ञी श्रुत ५. सम्यक् श्रुत ६. मिथ्या श्रुत ७. सादि श्रुत ८. अनादि श्रुत ९. सपर्यवसित श्रुत १०. अपर्यवसित श्रुत ११. गमिक श्रुत १२. अगमिक श्रुत १३. अंगप्रविष्ठ श्रुत और १४. अनंगप्रविष्ठ श्रुत। संक्षेप में श्रुत का प्रयोग शास्त्र के अर्थ में होता है।

वैदिक शास्त्रों को जैसे वेद और बौद्ध शास्त्रों को जैसे पिटक कहा जाता है वैसे ही जैन शास्त्रों को 'आगम' कहा जाता है।

वर्तमान में जैन धर्म में दो परंपराएं प्रचलित हैं - १. दिगम्बर परंपरा और २. श्वेताम्बर परंपरा (श्वेताम्बर स्थानकवासी, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, श्वेताम्बर तेरहपंथ)। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परंपरा ४५ आगम मान्य करती है जबकि श्वेताम्बर स्थानकवासी और श्वेताम्बर तेरहपंथ की मान्यता निम्नानुसार बत्तीस आगम मानने की है -

११ **अंग** - आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण एवं विपाक सूत्र।

१२ **उपांग** - औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा सूत्र।

४ **छेद** - दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ सूत्र।

४ **मूल** - उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नंदी और अनुयोगद्वार सूत्र।

१ आवश्यक सूत्र।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उपरोक्त ३२ आगम में से ११ अंगसूत्र अंगप्रविष्ठ श्रुत के अंतर्गत आते हैं जिन्हें तीर्थंकर भगवंत अर्थ रूप में फरमाते हैं और गणधर भगवंत सूत्ररूप में गुंथित करते हैं। शेष आगम अनंगप्रविष्ठ (अंग बाह्य) श्रुत कहलाते हैं जिनकी रचना स्थविर भगवंत करते हैं। स्थविर भगवंत जो सूत्र की रचना करते हैं वे १० पूर्वी अथवा उससे अधिक पूर्व के ज्ञाता होते हैं।

प्रस्तुत बतीसवां सूत्र आवश्यक (आवस्सय) सूत्र है। आवश्यक का अर्थ है – 'जो अवश्य किया जाय।' साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ के लिए उभयकाल आवश्यक करने का विधान है। सम्यग्ज्ञान आदि गुणों का पूर्ण विकास करने के लिये जो क्रिया अर्थात् साधना अवश्य करने योग्य है, वही आवश्यक है।

अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम दिए हैं – आवश्यक, आवश्यक करणीय, ध्रुवनिग्रह, विशोधि, अध्ययन षट्कवर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग।

इन नामों में किंचित् अर्थ भेद होने पर भी सभी नाम समान अर्थ को ही व्यक्त करते हैं।

यद्यपि आवश्यकादि अंग बाह्य सूत्र, अंग सूत्रों से ही निर्यूहित होते हैं, इसलिये द्वादशाङ्गी में तो आवश्यकादि समाविष्ट होने से गणधरों की रचना में तो उनका समावेश होता ही है। तथापि आगमकालीन युग में भी साधकों के लिए आवश्यक (अनिवार्य) होने से सर्वप्रथम सामायिक आदि आवश्यक सीखाये जाते हैं। उभय सन्ध्या ही आवश्यक का काल होने से भी इनको 'कालिक' नहीं कहा जा सकता। इसलिये भी इन्हें 'उत्कालिक' कहा गया है। पश्चाद्वर्ती काल में तो विधिवत् अंगसूत्रों से इसका निर्यूहण हुआ है। इसलिये यह अंगबाह्य कहा गया है।

अंगसूत्रों के आधार से स्थविरों ने इसकी रचना की है। इसीलिये भाष्यकारों ने **'गणहरथेरकयं वा, आएसा मुक्कवागरणओ वा, धुवचलविसेसओ वा, अंगाणंगेसु णाणत्तं'** – 'अंगसूत्र गणधरकृत हैं और अंग बाह्य स्थविरकृत होते हैं,' ऐसा बताया है। नंदी और अनुयोगद्वार में आवश्यक को अंगबाह्य बताया है। इसलिये औपपातिक आदि की तरह आवश्यक भी स्थविरकृत है। अंग सूत्रों के भावों को लेकर स्थविरों के द्वारा स्थविरों के शब्दों में रचा जाने से इसकी उत्कालिकता स्पष्ट है। नंदीसूत्र में तो आवश्यक व्यतिरिक्त के कालिक, उत्कालिक भेद किये हैं, जबकि अनुयोगद्वार सूत्र में उत्कालिक के आवश्यक, आवश्यक व्यतिरिक्त भेद किये हैं। इसलिये अपेक्षा से आवश्यक को उत्कालिक माना है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक सूत्र के छह अध्ययन (आवश्यक) हैं - १. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वंदना ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग और ६. प्रत्याख्यान। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है-

१. सामायिक - राग द्वेष के वश न हो कर समभाव (मध्यस्थभाव) में रहना अर्थात् किसी प्राणी को दुःख नहीं पहुँचाते हुए सभी के साथ आत्म तुल्य व्यवहार करना एवं आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की वृद्धि करना सामायिक है।

२. चतुर्विंशतिस्तव - चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का भक्तिपूर्वक कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव है। इसका उद्देश्य गुणानुराग की वृद्धि है जो कि निर्जरा और आत्मा के विकास का साधन है।

३. वंदना - मन, वचन और काया का वह प्रशस्त व्यापार जिसके द्वारा पूज्यों के प्रति भक्ति बहुमान प्रकट किया जाय, वंदना कहलाता है।

४. प्रतिक्रमण - प्रमादवश शुभ योग से गिर कर अशुभ योग प्राप्त करने के बाद पुनः शुभ योग प्राप्त करना अथवा अशुभ योग से निवृत्त होकर उत्तरोत्तर शुभ योग में प्रवृत्त होना 'प्रतिक्रमण' है।

५. कायोत्सर्ग - धर्मध्यान और शुक्लध्यान के लिए एकाग्र होकर शरीर के ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

६. प्रत्याख्यान - द्रव्य और भाव से आत्मा के लिए अनिष्टकारी अत एव त्यागने योग्य अन्न, वस्त्रादि तथा अज्ञान, कषायादि, मन वचन और काया से यथाशक्ति त्याग करना प्रत्याख्यान है।

शंका - आवश्यक के इन छह अध्ययनों (आवश्यकों) का क्रम इस प्रकार क्यों रखा गया है?

समाधान - आलोचना प्रारंभ करने से पूर्व आत्मा में समभाव की प्राप्ति होना आवश्यक है अतः पहला अध्ययन सामायिक चारित्र रूप है। आलोचना निर्विघ्नता से पूर्ण हो इसके लिए महापुरुषों की स्तुति की जाती है। अर्हन्त (तीर्थंकरों) के गुणों की स्तुति रूप दूसरा चतुर्विंशतिस्तव नामक अध्ययन दर्शन और ज्ञान रूप है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीनों के सेवन में भूल होने पर उनकी गुरु के समक्ष वंदना पूर्वक विनय भाव से आलोचना कर लेनी चाहिये अतः तीसरा अध्ययन वंदना है। गुरु के आगे भूल की आलोचना करने पर वापिस शुभ योगों में आने के लिए प्रयत्न करना चाहिये। इसलिए वंदना के बाद प्रतिक्रमण कहा गया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। प्रतिक्रमण के द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्र में लगे अतिचारों की शुद्धि की जाती है। इतने पर भी दोषों की पूर्ण शुद्धि नहीं हो तो कायोत्सर्ग का आश्रय लेना चाहिये जो कि प्रायश्चित्त का एक प्रकार है। कायोत्सर्ग करने के बाद भी दोषों की पूर्ण रूप से शुद्धि न हो तो उसके लिए प्रत्याख्यान करना चाहिये। इस प्रकार आवश्यक सूत्र के छहों अध्ययन (आवश्यक) परस्पर संबद्ध एवं कार्य कारण भाव से व्यवस्थित है।

आत्मशुद्धि के लिए ही इन छहों अध्ययनों का क्रम इस प्रकार रखा गया है।

अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक सूत्र के छह अंगों के नाम इस प्रकार दिए गये हैं - १. सावद्ययोग विरति (सामायिक) २. उत्कीर्तन (चतुर्विंशतिस्तव) ३. गुणवत् प्रतिपत्ति (गुरु उपासना अथवा वन्दना) ४. स्खलित निन्दना (प्रतिक्रमण - पिछले पापों की आलोचना) ५. व्रणचिकित्सा (कायोत्सर्ग - ध्यान शरीर से ममत्व त्याग) और ६. गुणधारण (प्रत्याख्यान- आगे के लिए त्याग, नियम ग्रहण आदि)।

प्रतिक्रमण अध्ययन, आवश्यक सूत्र का एक अंग विशेष है तथापि सामान्यतः संपूर्ण आवश्यक को प्रतिक्रमण कहा जाने लगा है। सामायिक आदि की शुद्धि प्रतिक्रमण के बिना नहीं होती अतः प्रतिक्रमण मुख्य होने से वही आवश्यक रूप में प्रचलित हो गया है। दूसरा एक कारण यह भी है कि आवश्यक के छहों अध्ययनों में प्रतिक्रमण नामक चौथा अध्ययन अक्षर प्रमाण में सबसे बड़ा है। इससे भी आवश्यक का दूसरा नाम प्रतिक्रमण सिद्ध होता है।

यहाँ पर षड् अध्ययन वाला श्रमणावश्यक सूत्र प्रारंभ करना है जिसके आदि में कहे जाने वाले हेतुओं से पंच नमस्कार रूप मंगल करना आवश्यक है। अत एव उसके लिए गुरु महाराज की आज्ञा लेनी चाहिए, वह आज्ञा वंदना पूर्वक ही ली जाती है अतः पहले गुरु वंदन सूत्र कहते हैं -

गुरु वंदन सूत्र

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि, वंदामि, णमंसामि, सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि*।

---

* राजप्रश्नीय सूत्र में **'मत्थएण वंदामि'** यह पाठ नहीं है, किन्तु परम्परा की धारणा और प्रचलित परिपाटी के अनुसार यह पाठ यहाँ दिया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - तिक्खुत्तो - तीन बार, **आयाहिणं** - दाहिनी ओर से, **पयाहिणं** - प्रदक्षिणा, **करेमि** - करता हूँ, **वंदामि** - गुणग्राम (वचन से स्तुति) करता हूँ, **णमंसामि** - नमस्कार करता हूँ, **सक्कारेमि** - सत्कार करता हूँ, **सम्माणेमि** - सम्मान करता हूँ, **कल्लाणं**- कल्याण रूप, **मंगलं** - मंगल रूप, **देवयं** - धर्मदेव रूप, **चेइयं** - ज्ञानवंत अथवा सुप्रशस्त मन के हेतु रूप✪ की, **पज्जुवासामि** - पर्युपासना (सेवा) करता हूँ, **मत्थएण** - मस्तक नमा कर, **वंदामि** - वंदना करता हूँ,

भावार्थ - हे पूज्य! दोनों हाथ जोड़ कर दाहिनी ओर से तीन बार प्रदक्षिणा करता हूँ। आपका गुणग्राम (स्तुति) करता हूँ। पंचांग (दो हाथ, दो घुटने और एक मस्तक - ये पांच अंग) नमा कर नमस्कार करता हूँ। आपका सत्कार करता हूँ। आप को सम्मान देता हूँ। आप कल्याण रूप हैं। मंगल रूप हैं। आप धर्मदेव स्वरूप हैं। ज्ञानवंत हैं अथवा मन को प्रशस्त बनाने वाले हैं। ऐसे आप गुरु महाराज की पर्युपासना (सेवा) करता हूँ और मस्तक नमा कर आपको वंदना करता हूँ।

विवेचन - 'गुरु' शब्द का अक्षरार्थ इस प्रकार किया गया है -

गु शब्द स्त्वन्धकारः स्याद, रु शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकार निरोधित्वात्, गुरुरित्यभिधीयते॥

अर्थात् - 'गु' शब्द अंधकार का वाचक है। 'रु' शब्द का अर्थ है - रोकने वाला। आशय यह है कि जो अज्ञान रूपी अंधकार को रोके, उसको 'गुरु' कहते हैं। सद्गुरु का महत्त्व अपरंपार है। अतः प्रस्तुत गुरु वंदन सूत्र में परमोपकारी वंदनीय गुरुजनों को वंदन करने की विधि का निरूपण किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में आये कुछ शब्दों की व्याख्या इस प्रकार है -

आयाहिणं पयाहिणं (आदक्षिण-प्रदक्षिण) - दोनों हाथों को जोड़ कर अपने दायें कान से ऊपर की तरफ ले जाते हुए बायें कान की ओर ले जाना, इस तरह मस्तक के चौतरफ घुमाना, आदक्षिण-प्रदक्षिणा (आवर्तन) कहलाता है।

शंका - तीन आवर्तन स्वयं के दाहिने ओर से करना चाहिए या वन्दनीय गुरु आदि के दाहिने ओर से करने चाहिए?

✪ **चैत्यं सुप्रशस्तमनोहेतुत्वात्** (राजप्रश्नीय सूत्र ६ टीका पृष्ठ १७ आगमोदय समिति)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान - आवर्तन गुरु आदि के प्रति समर्पणता के सूचक होते हैं। आगमों में **'सिरसावत्तं'** (शिरसावर्त) शब्द अनेक स्थलों में आया है। इसका अर्थ - 'मैं अपना मस्तिष्क (उत्तमाङ्ग) अर्पित करता (अंवारता) हूँ। इसलिए आवर्तन से विनय प्रतिपत्ति समझी जाती है। मूर्तिपूजक समाज - मूर्ति एवं भगवान् के चौतरफ घूमने को आवर्तन मानता है, एवं **'तिक्खुत्तो'** के पाठ में आये हुए **"आयाहिणं-पयाहिणं"** का अर्थ - 'उन वन्दनीय गुरु आदि के दक्षिण दिशा में रहते हुए चौतरफ घूमना' करता है। किन्तु स्थानकवासी परम्परा इस अर्थ को उचित नहीं मानती है। क्योंकि **'उववाइय'** आदि सूत्रों में समवसरण (व्याख्यान सभा) में विराजित भगवान् के दर्शन करने कूणिक राजा आदि पहुँचते हैं, वे स्त्री पुरुष सभी आदक्षिण-प्रदक्षिण करते हैं। व्याख्यान के समय में भगवान् के पास पहुँचकर चौतरफ घूमने से व्याख्यान में विक्षेप होता है। आगमों में सर्वत्र आने वालों (वन्दना करने वालों) का ही आदक्षिण-प्रदक्षिण बताया है। इसलिए स्थानकवासी परम्परा **'आदक्षिण-प्रदक्षिण'** का अर्थ - **'शिरसावर्त'** करती है। जिससे व्याख्यान में विक्षेप भी नहीं पड़ता एवं आगम पाठ की सुसंगति भी हो जाती है। **'आदक्षिण'** का अर्थ - 'दाहिनी तरफ से' होता है। स्वयं के शिरसावर्त होने पर वन्दनीय (गुरु आदि) के दाहिने रहने का कोई औचित्य नहीं होने से - "स्वयं के दाहिने कान से ऊपर की तरफ मस्तक के चौतरफ अञ्जलि को घुमाना 'आदक्षिण-प्रदक्षिण' समझा जाता है।" उपर्युक्त प्रकार से पूज्य बहुश्रुत भगवन्त फरमाते हैं।

मन, वचन और काया से वंदनीय की पर्युपासना करने के लिए तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की जाती है।

शंका - तिक्खुत्तो का पाठ तीन बार बोलने का आगम का आधार क्या है? तथा तीन बार बोलने का क्या कारण है?

समाधान - उपासकदशांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में - आनन्द श्रावक के द्वारा गौतमस्वामी को वन्दना करने के लिए - **'तिक्खुत्तो मुद्धाणं पाएसु पडइ'** पाठ आया है। अर्थात् - तीन बार मस्तक झुका कर पाँवों में नमन किया। अन्यत्र भी आगमों में, **'तिक्खुत्तो वंदइ णमंसइ'** पाठ आता है। इत्यादि आगम पाठों से एवं आगमों की प्राचीन व्याख्याओं में भी **'गुरुवन्दन सूत्र'** प्रतिज्ञा सूत्र आदि पाठों को तीन बार बोलने की विधियाँ प्राप्त होती है।

वन्दनीय पांच पदों में रहे हुए चारित्र गुणों (सिद्ध भगवान् में 'वीतरागता' गुण) के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिए तथा तीन बार वन्दना करने से ही विधि की पूर्णता होने से एवं पूर्ण विनय को बताने के लिए तीन बार वन्दना की जाती है। 'लौकिक में भी अनेक कार्यों को तीन बार करने पर उन कार्यों की पूर्णता समझा जाती है।'

"प्रथम वन्दना ज्ञान गुण को, द्वितीय वन्दना दर्शन गुण को एवं तृतीय वन्दना चारित्र गुण के लिए की जाती है" - ऐसा कहना उचित नहीं है। वास्तव में वन्दना तो चारित्रिक गुणों को अर्थात् चारित्र को ही होती है। चारित्र रहित ज्ञानादि को वन्दना करने का कहीं पर भी उल्लेख प्राप्त नहीं हैं। चारित्र रहित ज्ञान व दर्शन होने पर भी उसे 'बाल' (अव्रती) माना गया है। अतः वंदना तो 'चारित्र' को ही समझी जाती है। चारित्र सहित ज्ञान व दर्शन ही वंदनीय है। 'चारित्र' होने पर तो ज्ञान व दर्शन अवश्य होते ही हैं। चारित्र गुणों के वंदन में ज्ञान-दर्शन गुणों की वंदना शामिल हो जाती है। चारित्र (संयम) ग्रहण करने के पूर्व तीर्थंकरों को भी वंदना नहीं की जाती है।

उपर्युक्त प्रकार से पूज्य बहुश्रुत गुरु भगवंत फरमाया करते थे।

वंदामि-णमंसामि - वंदना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ। वंदना और नमस्कार में अंतर है। **वंदना** अर्थात् मुख से गुणगान करना, स्तुति करना और **नमस्कार** अर्थात् उपास्य महापुरुष को भगवत्स्वरूप समझ कर अपने मस्तक को झुकाना यानी काया से नम्रीभूत होना, प्रणमन करना।

सक्कारेमि-सम्माणेमि - सत्कार करता हूँ। सम्मान करता हूँ। मन से आदर करना, वस्त्र, अन्न आदि देना सत्कार है। जबकि गुरुजनों आदि को बड़ा मानना, उन्हें ऊंचा आसन देना, हृदय में उनके प्रति भक्तिभाव और बहुमान होना सम्मान है।

कल्लाणं - **१. कल्ये प्रातः काले अण्यते भण्यते इति कल्याणम्।** (अमरकोष १/४/२५) 'कल्य' का अर्थ प्रातःकाल है और 'अण' का अर्थ है बोलना। अतः अर्थ हुआ प्रातः स्मरणीय।

२. आचार्य हेमचन्द्र अर्थ करते हैं - **'कल्य नीरुजत्वमणतीति'** अर्थात् कल्प का अर्थ है - निरोगता-स्वस्थता। जो मनुष्य को नीरोगता प्रदान करता है वह कल्याण है।

३. 'कल्योऽत्यन्तनीरुक्त्या मोक्षस्तमाणयति प्रापयतीति कल्याणः मुक्ति हेतुः' यहाँ कल्याण का अर्थ है - मोक्ष (कर्म रोग से मुक्त स्वस्थ), जो कल्य-मोक्ष प्राप्त करावे, वह कल्याण है।

मंगलं - **१. 'मंगति-हितार्थं सर्पति इति मंगलं'** - जो सब प्राणियों के हित के लिए प्रयत्नशील होता है, वह मंगल है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. **'मंगति दूर दुष्टमनेन अस्माद् वा इति मंगलम्'** अर्थात् जिसके द्वारा दुर्देव - दुर्भाग्य आदि सब संकट दूर हो जाते हैं, वह मंगल है।

३. अभिधान राजेन्द्र कोष में मंगल शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है - **'मङ्ग हितं भाति ददाति इति मंगलं'** अथवा **'मां गालयति भवात् अपनयति इति मंगलम्'** अर्थात् जो सब प्राणियों का हित करे अथवा जीव को संसार समुद्र से पार कर दे, उसे मंगल कहते हैं।

देवयं - दैवत का अर्थ देवता है। अर्थात् **'दीवयन्ते स्वरूपे इति देवा'** जो अपने स्वरूप में चमकते हैं अर्थात् अपने स्वरूप में रमण करते हैं, वे देव हैं।

चेइयं - चैत्य शब्द अनेकार्थक है अतः प्रसंगानुसार अर्थ किया जाता है।

१. **'चिती संज्ञाने'** धातु से चैत्य शब्द बनता है। जिसका अर्थ ज्ञान है।

२. **'चित्ता ह्लादकत्वाद् वा चैत्या'** (ठाणांग वृत्ति ४/२) जिसके देखने से चित्त में आह्लाद उत्पन्न हो वह चैत्य होता है। यह अर्थ भी प्रसंगानुकूल है। गुरुदेव के दर्शन से सभी के हृदय में आह्लाद उत्पन्न होता है।

३. रायप्रश्नीय सूत्र की मलयगिरिकृत टीका में 'चैत्य' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है - **'चैत्यं सुप्रशस्त मनोहेतुत्वाद'** मन को सुप्रशस्त सुंदर शांत एवं पवित्र बनाने वाले वास्तव में गुरुदेव ही जगत् के सब जीवों के कषाय कलुषित अप्रशस्त मन को प्रशस्त सुंदर स्वच्छ निर्मल बनाने वाले होते हैं। इसलिए वे चैत्य कहलाते हैं।

४. पू० श्री जयमलजी म. सा: ने **'चेइय'** शब्द के ११२ अर्थ लिखे हैं जो कि संघ द्वारा प्रकाशित औपपातिक सूत्र के पृ. ६-८ में दिये गये हैं।

पज्जुवासामि - पर्युपासना - सेवा करता हूं। पर्युपासना तीन प्रकार की कही गयी है - १. कायिक पर्युपासना - नम्र आसन से सुनने की इच्छा सहित वंदनीय के सम्मुख हाथ जोड़ कर बैठना - कायिक पर्युपासना है। २. वाचिक पर्युपासना - उनके उपदेश के वचनों का वाणी द्वारा सत्कार करते हुए समर्थन करना वाचिक पर्युपासना है। ३. मानसिक पर्युपासना- उपदेश के प्रति अनुराग रखते हुए एकाग्रचित्त रखना मानसिक पर्युपासना है।

शुद्ध चारित्र पालने वाले श्रमण-निर्ग्रंथों की पर्युपासना करने से अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है और महान् पुण्यों का उपार्जन होता है।

छह अध्ययनों में प्रथम सामायिक अध्ययन का स्वरूप इस प्रकार है -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामाइयं णामं पढमं अज्झयणं

सामायिक नामक प्रथम अध्ययन

उत्थानिका - आवश्यक सूत्र के छह अध्ययनों में सामायिक को प्रथम स्थान दिया गया है। समभाव की प्राप्ति होना अर्थात् रागद्वेष रहित माध्यस्थ भाव 'सामायिक' है। ममत्वभाव के कारण आत्मा अनादिकाल से चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण कर रही है ऐसी आत्मा को समभाव में रमण कराने के लिये सावद्य योगों से निवृत्ति आवश्यक है जो कि सामायिक से संभव है। आत्मोत्थान के लिये सामायिक जघन्य प्रयोग है, मोक्ष प्राप्त करने का उपाय हैं। समस्त धार्मिक क्रियाओं के लिए आधारभूत होने से ही सामायिक को प्रथम स्थान प्रदान किया गया है।

सामायिक अर्थात् आत्मस्वरूप में रमण करना, सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में तल्लीन होना। सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ही मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग में सामायिक मुख्य है, यह बताने के लिए ही सामायिक अध्ययन को सबसे प्रथम रखा गया है।

भगवतीसूत्र शतक १ उद्देशक ९ में फरमाया है कि -

"आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे" - अपने शुद्ध स्वरूप में रहा हुआ आत्मा ही सामायिक है। शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चिदानंद स्वरूप आत्मतत्त्व की प्राप्ति करना ही सामायिक का प्रयोजन है। 'मैं कौन हूं? मेरा स्वरूप कैसा है?' आदि विचारों में तल्लीन होना, आत्म-गवेषणा करना सामायिक है।

अनुयोगद्वार सूत्र में सच्चा सामायिक व्रत कौन है? इसकी परिभाषा बताते हुए कहा है -

"जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं॥"

अर्थात् जिसकी आत्मा संयम, नियम और तप में तल्लीन है, उसी का सामायिक व्रत है ऐसा केवलज्ञानियों ने फरमाया है।

"जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं॥"

अर्थात् जो त्रस और स्थावर सभी जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता है, सभी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राणियों पर समभाव रखता है, उसी का सच्चा सामायिक व्रत है, ऐसा केवलज्ञानियों ने फरमाया है।

सामायिक के आध्यात्मिक फल के विषय में उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९ में गौतमस्वामी, प्रभु महावीरस्वामी से पूछते हैं कि -

"सामाइएणं भंते! जीवे किं जणयइ?"

- हे भगवन्! सामायिक करने से जीव को क्या लाभ होता है?

भगवान् ने फरमाया - **"सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ।"**

सामायिक करने से सावद्य योग से निवृत्ति होती है अर्थात् पाप कर्मों से सम्पूर्ण निवृत्ति होने पर आत्मा पूर्ण विशुद्धि और निर्मल बन जाती है यानी मोक्ष पद को प्राप्त कर लेती है।

सामायिक की साधना उत्कृष्ट है। सामायिक के बिना आत्मा का पूर्ण विकास असंभव है। सभी धार्मिक साधनाओं के मूल में सामायिक रहा हुआ है। जैन संस्कृति समता प्रधान है। समता भाव की दृष्टि से ही सामायिक अध्ययन को प्रथम स्थान प्राप्त है।

सामायिक अध्ययन का प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

नमस्कार सूत्र

(आर्य छन्द)

णमो अरहंताणं◆, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं॥१॥

(अनुष्टुप छन्द)

एसो पंच णमोक्कारो○, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं॥२॥

कठिन शब्दार्थ - णमो - नमस्कार हो, **अरहंताणं** - अर्हन्तों को, **सिद्धाणं** - सिद्धों को, **आयरियाणं** - आचार्यों को, **उवज्झायाणं** - उपाध्यायों को, **लोए**- लोक में, **सव्वसाहूणं** - सभी साधुओं को, **एसो** - यह, **पंच णमोक्कारो** - पांच परमेष्ठियों को

◆ पाठान्तर - अरिहंताणं

○ पाठान्तर - णमुक्कारो

Jain Education International　For Personal & Private Use Only　www.jainelibrary.org

किया नमस्कार, **सव्वपावप्पणासणो** - सभी पापों का नाश करने वाला, **मंगलाणं** - मंगलों में, **च** - और, **सव्वेसिं** - सभी, **पढमं** - प्रथम, **हवइ** - है, **मंगलं** - मंगल।

भावार्थ - श्री अर्हन्त भगवान्, श्री सिद्ध भगवान्, श्री आचार्य महाराज, श्री उपाध्याय महाराज और लोक में वर्तमान सभी साधु मुनिराज - इन पांच परमेष्ठियों को मेरा नमस्कार हो।

उक्त पंच परमेष्ठियों को किया हुआ नमस्कार संपूर्ण पापों का नाश करने वाला है और सभी प्रकार के लौकिक और लोकोत्तर मंगलों में प्रधान मंगल है।

विवेचन - जैन धर्म अध्यात्म प्रधान धर्म है। जैन धर्म में नमस्कार सूत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सूत्र से बढ कर दूसरा कोई सूत्र नहीं है क्योंकि इस सूत्र में चौदह पूर्वों का सार है। इसमें बिना किसी सांप्रदायिक भेदभाव के, बिना किसी देश, जाति अथवा धर्म की विशेषता के केवल गुण पूजा का महत्त्व बताया गया है।

नमस्कार सूत्र में पांच पदों को नमस्कार किया गया है। योग्यता से प्राप्त हुए (पूज्य) स्थान को 'पद' कहते हैं। पांच पद ये हैं - अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु।

१. अर्हन्त् - जो इन्द्रों द्वारा बनाये हुए आठ महाप्रातिहार्य (अशोक वृक्ष आदि) रूप पूजा वंदन, नमस्कार एवं सत्कार के योग्य हैं और जो सिद्धि गमन के योग्य हैं, उनको अर्हन्त कहते हैं। अर्हन्त के अन्य पर्यायवाची शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं -

(१) अरिहन्त - कर्म रूपी अरि-शत्रुओं का हनन-विनाश करने वालों को 'अरिहन्त' कहते हैं।

(२) अरहन्त - 'रह' धातु गत्यर्थक होने से वीतराग हो जाने के कारण जो किसी भी प्रकार की आसक्ति में नहीं जाते हैं अथवा 'रहि' धातु छोड़ने के अर्थ में होने से जो रागादि हेतु भूत मनोज्ञ अमनोज्ञ विषयों का सम्पर्क होने पर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते हैं, वे 'अरहन्त' कहलाते हैं।

(३) अरूहन्त या अरोहन्त - कर्म रूपी बीज के क्षीण हो जाने से जिनकी फिर उत्पत्ति अर्थात् जन्म नहीं होता, उसको 'अरूहन्त' कहते हैं।

(४) अरहोऽन्त - सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने के कारण जिनसे कोई भेद छिपा हुआ नही है। जिनके ज्ञान के लिए पर्वत, गुफा आदि कोई भी बाधक रुकावट करने वाले नहीं हैं, उन्हें 'अरहोऽन्त' कहते हैं।

(५) अरथान्त - जिनके किसी भी प्रकार का परिग्रह रूप रथ नहीं है। उन्हे 'अरथान्त' कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. **सिद्ध** - जिन्होंने आठों कर्मों को क्षय करके आत्म कल्याण साध लिया है, उन्हें 'सिद्ध' कहते हैं। परम विशुद्ध शुक्लध्यान रूपी अग्नि से जिन्होंने समस्त बद्ध कर्मों को भस्मीभूत कर दिया है, जो पुनरागमन रहित ऐसी निवृत्तिपुरी (मुक्ति महल) के उच्च शिखर पर पहुंच गये हैं, जो प्रख्यात आत्मस्वरूप स्थित और कृतकृत्य हैं, वे सिद्ध भगवान् हैं।

३. **आचार्य** - चतुर्विध संघ के नायक जो स्वयं पांच आचार (ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार) पालते हैं और चतुर्विध संघ से भी पलवाते हैं, उन्हें 'आचार्य' कहते हैं।

४. **उपाध्याय** - जो साधु शास्त्रज्ञ हैं और दूसरों को शास्त्र पढाते हैं, उन्हें 'उपाध्याय' कहते हैं। जिनके समीप रह कर जैनागमों का अध्ययन किया जाय, जिनकी सहायता से जैनागमों का स्मरण किया जाय, जिनकी सेवामें रहने से श्रुतज्ञान का लाभ हो, सद्गुरु परम्परा से प्राप्त जिन वचनों का अध्ययन करवा कर जो भव्य जीवों को विनय में प्रवृत्ति कराते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं।

५. **साधु** - जो पांच महाव्रत और पांच समिति तथा तीन गुप्ति का पालन करते हैं और अपने आत्म कल्याण की साधना करते हैं, उन्हें 'साधु' कहते हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के द्वारा मोक्ष को साधने वाले तथा सब प्राणियों में समभाव रखने वाले साधु होते हैं।

यहाँ **'सव्व'** - सर्व शब्द से सामायिक आदि पांच चारित्रों में से किसी भी चारित्र का पालन करने वाले, भरतादि किसी भी क्षेत्र में विद्यमान, तिर्च्छा लोकादि किसी भी लोक में विद्यमान और स्त्रीलिंगादि तथा स्वलिंगादि किसी भी लिंग में विद्यमान भाव चारित्र संपन्न छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थानवर्ती सभी साधु-साध्वियों का ग्रहण किया गया है, जो जिनाज्ञानुसार ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना करने वाले हैं।

अथवा **'णमो लोए सव्व साहूणं'** में जो **'सव्व'** - सर्व शब्द ग्रहण किया गया है वह पहले चार पदों के साथ अर्थात् अर्हत्, सिद्ध, आचार्य और उपाध्याय इन चारों पदों के साथ भी लगा देना चाहिए।

इन पांच पदों में अर्हंत और सिद्ध, ये दो देव और शेष तीन पद गुरु के हैं। इन पांच पदों को नमस्कार करने से सभी पापों का नाश होता है, विनयशीलता बढती है और नम्रता आती है।

नमस्कार सूत्र का दूसरा प्रचलित नाम है - पंच परमेष्ठी सूत्र। परमेष्ठी शब्द की व्युत्पत्ति (अर्थ) संस्कृत में इस प्रकार है -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'परमे - उत्कृष्ट स्थाने-मोक्षे संयमे वा तिष्ठति इति परमेष्ठी।'

परम अर्थात् उत्कृष्ट स्थान। लोक में उत्कृष्ट स्थान दो हैं - मोक्ष और संयम। जो मोक्ष और संयम में स्थित हैं, उन्हें परमेष्ठी कहते हैं। इन पांच पदों में सिद्ध भगवान् मोक्ष में स्थित हैं शेष चार पद - अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु, ये चार पद संयम में स्थित हैं।

शंका - नमस्कार सूत्र या पंच परमेष्ठी सूत्र को नवकार मंत्र या पंचपरमेष्ठी मंत्र क्यों नहीं कहना चाहिये?

समाधान - प्रायः मंत्र भौतिक कामनाओं की पूर्ति करने वाले होते हैं व इनकी रचना सामान्य व्यक्तियों के द्वारा होती है। णमोक्कार का पाठ आगम का पाठ है, यह सर्व प्रकार के संतापों का नाश करके मोक्ष प्राप्त कराने में सहायक है। आगम के पाठ को मंत्र कहना उसकी गरिमा को कम करना है। जैसे बी.ए. पास को दसवीं पास कहना उसकी गरिमा कम करना है। बी.ए. पास कहने से दसवीं पास तो अपने आप स्पष्ट हो ही जाता है इसी प्रकार सूत्र में मंत्र की विशेषताएं तो अपने आप निहित है। अतः इसे 'मंत्र' न कह कर 'सूत्र' ही कहना चाहिये।

शंका - नमस्कार सूत्र में पहले सिद्धों को नमस्कार करना चाहिये, क्योंकि वे मोक्ष में चले गये हैं तब अर्हन्तों को पहले नमस्कार क्यों किया गया है?

समाधान - अर्हंत, वर्तमान में धर्म की प्ररूपणा करते हैं इसलिये वे हमारे लिये अधिक उपकारी हैं। सिद्ध निराकार हैं, वे दिखाई भी नहीं देते हैं। उनकी पहचान भी अर्हंत करवाते हैं अतः पहले अर्हंतों को नमस्कार किया गया है।

शंका - 'नमस्कार सूत्र' को '१४ (चौदह) पूर्वों का सार' क्यों कहा जाता है? ऐसा कहां बताया है?

समाधान - १. नमस्कार सूत्र में १४ पूर्वों के अर्थ प्रदाता तीर्थंकरों का प्रथम 'अरहन्त' पद में एवं सूत्र रूप में रचना करने वाले 'गणधरों' का तीसरे 'आचार्य' पद में समावेश हो जाता है।

२. पण्डित मरण आदि अन्तिम समय की आराधना के प्रसंगों पर भी १४ पूर्वों को नहीं सुनाया जाकर 'नमस्कार सूत्र' का श्रवण, मनन आदि किया जाता है।

३. 'नमस्कार सूत्र' के पाठ में जैन धर्म के तीनों मौलिक तत्त्वों (देव, गुरु, धर्म) का समावेश हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४. यावज्जीवन १८ पापों के पूर्ण त्यागी सभी महापुरुषों का इस पाठ में समावेश हो जाता है।

५. यह पाठ सब मंगलों में सबसे उत्कृष्ट मंगल (सर्वदा मंगल रूप) है। सदा स्मरणीय है। इत्यादि कारणों से प्राचीन ग्रन्थों (विशेषावश्यक भाष्य आदि) में इसे - '१४ पूर्वों का सार' बताया गया है।

शंका - 'नमस्कार सूत्र' के पाठ में तीनों तत्त्वों का समावेश कैसे समझना चाहिए?

समाधान - 'नमस्कार सूत्र' की प्रथम गाथा (**णमो अरहंताणं** से **णमो लोए सव्वसाहूणं** तक) ही गणधरों के द्वारा रचित है, उसमें तीनों तत्त्वों का समावेश हों जाता है - वह इस प्रकार से है -

(१) देव तत्त्व - 'अरहंताणं' 'सिद्धाणं' ये आठ अक्षर देव तत्त्व के वाचक हैं।

(२) गुरु तत्त्व - 'आयरियाणं' 'उवज्झायाणं' 'लोए सव्व साहूणं' ये १७ (सतरह) अक्षर गुरु तत्त्व के वाचक हैं।

(३) धर्म तत्त्व - पांचों पदों के पूर्व में बोला जाने वाला **'णमो'** शब्द 'धर्म तत्त्व' का वाचक है। 'णमो' शब्द पांच बार बोला जाने से - 'धर्म तत्त्व' के १० (दस) अक्षर हो जाते हैं। **णमो** - 'नमस्कार करना' - यह आचरण रूप कार्य है।

शंका - 'णमो' शब्द से धर्म तत्त्व को कैसे समझना चाहिये?

समाधान - णमो (नमः) शब्द का अर्थ है - **मत्तस्त्वमुत्कृष्टस्त्वतोऽहमपकृष्टः एतद् द्वयबोधानुकुल व्यापारो हि नमः शब्दार्थः** अर्थात् मुझ से आप उत्कृष्ट हैं। गुणों में बड़े हैं और मैं आपसे अपकृष्ट हूँ, गुणों में हीन हूँ। इन दो वस्तुओं के बोध के अनुकूल व्यापार ही नमः शब्द का अर्थ है। यहाँ हीनता और महानता का संबंध वैसा ही पवित्र एवं गुणधायक है जैसा कि पिता-पुत्र और गुरु-शिष्य का होता है अर्थात् प्रमोद भावना से उपासक उपास्य (अपने से गुणी) के प्रति भक्ति का प्रर्दशन करता है। सामान्य रूप से 'णमो' शब्द का अर्थ नमस्कार करना होता है। नमस्कार दो प्रकार का होता है -

१. द्रव्य नमस्कार - हाथ जोड़ना, पञ्चाङ्ग झुकाना, साष्टांग प्रणाम करना इत्यादि काया (शरीर) से किया जाने वाला नमस्कार।

२. भाव नमस्कार - आज्ञा का पालन करना। (ऐसा अर्थ - 'उत्तराध्ययन सूत्र के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययन १ गाथा २ से स्पष्ट होता है।' आज्ञा-निर्देश को करने वाला विनीत होता है। आज्ञा-निर्देश का पालन करना विनय है। 'विनय' और 'नमस्कार' एकार्थक शब्द है।)

'नमस्कार सूत्र' के पाठ में प्रमुख रूप से 'भाव नमस्कार' समझना चाहिये। आशय यह है कि - 'पांच पदों की आज्ञा के पालन में धर्म है।' '१८ पापों का त्याग करना' आज्ञा है। श्रावक एवं सम्यग्दृष्टियों की ऐसी आज्ञा हो तो उसका समावेश भी पांच पदों की आज्ञा में हो जाता है - क्योंकि उस आज्ञा के मूल उद्गम स्रोत अर्हन्त आदि ही हैं। यहां पर जो 'धर्म' बताया गया है - वह 'लोकोत्तर धर्म' (आत्म हितकर) समझना चाहिए। माता-पिता आदि का विनय करना-लौकिक विनय होने से उसका यहाँ पर ग्रहण नहीं समझना चाहिए।

'नमस्कार सूत्र' का पाठ सभी जनों (मन्द, तीव्र बुद्धि वाले एवं बाल युवा वृद्ध सभी) के लिए पूर्ण उपयोगी होने से एवं सरलता से समझ में आ सके इत्यादि कारणों से पांचों पदों के पूर्व 'णमो' शब्द को रखा गया है। अतः पाँच बार 'णमो' शब्द से पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिए। प्रत्येक सूत्र-पाठ के अनन्त गम, अनन्त पर्याय होने से उपर्युक्त रूप से सूत्र पाठ की रचना के भी ज्ञानियों के ज्ञान में अनेक हेतु-कारण हो सकते हैं।

पंच परमेष्ठी को सभी मंगलों में प्रथम (प्रधान) मंगल कहा है, क्योंकि अन्य मंगल तो अमंगल हो जाते हैं जबकि पंच परमेष्ठी को किया नमस्कार सभी पापों को गलाता है तथा आनंद एवं कल्याण को देने वाला है, अतः कभी अमंगल नहीं होता।

सामायिक सूत्र (सामायिक चारित्र लेने का पाठ)

जैसे कोई चतुर किसान बिना जोती हुई जमीन में बीज नहीं बोता है और अगर कोई बोये भी तो वह बीज व्यर्थ जाता है, वैसे ही पंच परमेष्ठी-नमस्कार से हृदय क्षेत्र को पवित्र किये बिना सामायिक सफल नहीं होती। अत एव शिष्य पहले नमस्कार करके निम्न सूत्र से सामायिक ग्रहण करता है -

करेमि भंते! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं-मणेणं वायाए काएणं ण करेमि ण कारवेमि करंतं पि अण्णं ण समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि णिंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।।३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - करेमि - मैं ग्रहण करता हूं, **भंते** - हे भगवन्! **सामाइयं** - सामायिक को, **सव्वं** - सभी, **सावज्जं** - सावद्य - पाप सहित, **जोगं** - योगों का, **पच्चक्खामि** - प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ, **जावज्जीवाए** - जीवन पर्यंत, **तिविहं** - तीन करण से, **तिविहेणं** - तीन योग से, **मणेणं** - मन से, **वायाए** - वचन से, **काएणं** - काया से, **ण करेमि** - नहीं करूंगा, **ण कारवेमि** - नहीं कराऊंगा, **करंतं पि अण्णं ण समणुजाणामि**- करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूंगा, **तस्स** - उससे (पूर्व कृत पापों से), **पडिक्कमामि**- निवृत्त होता हूँ, **णिंदामि** - निन्दा करता हूँ, **गरिहामि** - गर्हा करता हूँ, **अप्पाणं** - अपनी आत्मा को, **वोसिरामि** - हटाता हूँ-पृथक् करता हूँ।

भावार्थ - हे भगवन्! मैं सामायिक व्रत ग्रहण करता हूँ। सर्व सावद्य योगों का- पापजनक व्यापारों का त्याग करता हूँ। जीवन पर्यन्त मन, वचन और काया - इन तीनों योगों द्वारा पाप कार्य स्वयं नहीं करूंगा, न दूसरों से कराऊंगा और न करने वालों का अनुमोदन ही करूंगा।

हे भगवन्! मैं पूर्वकृत पाप से निवृत्त होता हूँ। हृदय से मैं उसे बुरा समझता हूँ और गुरु के सामने उसकी निंदा करता हूँ। इस प्रकार मैं अपनी आत्मा को पापक्रिया से सर्वथा निवृत्त करता हूँ।

विवेचन - जब साधक गृहस्थ अवस्था का त्याग कर सर्वविरति को अंगीकार करता है तब प्रस्तुत सामायिक सूत्र से यावज्जीवन के लिए सामायिक ग्रहण करता है अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिये तीन करण तीन योग से पापों का सर्वथा त्याग करता है।

जैन धर्म समता प्रधान धर्म है। समता की साधना को ही 'सामायिक' कहते हैं। सामायिक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है -

"समस्य आयः समायः सःप्रयोजनं यस्य तत् सामायिकम्"

अर्थात् जिसके द्वारा समभाव की प्राप्ति हो, जिस अनुष्ठान का प्रयोजन जीवन में समता लाना हो, उसे सामायिक कहते हैं।

जैन धर्म में जो भी प्रत्याख्यान या नियम ग्रहण किया जाता है उसमें करण और योग का बहुत महत्त्व है। 'करण' का अर्थ है प्रवृत्ति। करण के तीन भेद हैं - कृत-कारित-अनुमोदित। कृत - अपनी इच्छा से स्वयं करना, कारित - दूसरे व्यक्ति से करवाना और अनुमोदित - जो सावद्य व्यापार कर रहा है, उसे अच्छा समझना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करण के साधन को 'योग' कहते हैं। योग तीन हैं - १. मन २. वचन और ३. काया।

मुनि की सामायिक तीन करण तीन योग से होती है। वह पापों का यावज्जीवन सर्व प्रकार से त्याग करता है जबकि गृहस्थ की सामायिक दो करण तीन योग से होती है। गृहस्थ श्रावक १ मुहूर्त्त (४८ मिनिट), २ मुहूर्त्त आदि नियत समय के लिये पापों का त्याग करता है इसीलिये साधु के सामायिक प्रतिज्ञा सूत्र में **'जावज्जीवाए'** शब्द प्रयुक्त किया गया है जबकि श्रावक के प्रतिज्ञा सूत्र में **'जावणियमं'** शब्द बोला जाता है।

अठारह पाप की प्रवृत्ति को 'सावद्य योग' कहते हैं। साधु संपूर्ण सावद्य योगों का त्याग करता है अत: साधु की सामायिक को सर्वविरति सामायिक और गृहस्थ की सामायिक को देश विरति सामायिक कहा जाता है।

'भंते' शब्द **'भदि कल्याणे सुखे च'** धातु से बनता है। **'भंते'** शब्द का संस्कृत रूप **'भदंत'** होता है, जिसका अर्थ कल्याणकारी होता है। संसारजन्य दु:खों से बचाने वाले - 'भदंत' गुरुदेव ही होते हैं। 'भंते' के **'भवांत'** और **'भयांत'** ये दो संस्कृत रूप भी बनते हैं जिसका क्रमश: अर्थ है - संसार का अंत करने वाला और भय का अन्त करने वाला। गुरुदेव की शरण में पहुँचने के बाद भव और भय का अंत हो जाता है।

'भंते!' (भदन्त) शब्द के अनेक अर्थ हैं। जैसे - १. कल्याण और सुख को देने वाले २. संसार का अंत करने वाले ३. जिनकी सेवा-भक्ति करने से संसार का अंत हो जाता है ४. जन्म-जरा-मरण के भय का नाश करने वाला-निर्भय ५. भोगों को त्याग देने वाले ६. इन्द्रियों का दमन करने वाले ७. सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र से दीपने वाले। इन सब को **'भंते'** कहते हैं।

भंते! (भदन्त!) इस संबोधन से यह प्रकट होता है कि समस्त धर्मक्रियाएं गुरु महाराज की साक्षी से ही करनी चाहिये। अत: प्रस्तुत सूत्र में शिष्य गुरुदेव के सामने प्रतिज्ञा करता है कि मैं यावज्जीवन के लिए सावद्य योग से निवृत्त होता हूँ। पूर्व कृत पापों की आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ और आपकी (गुरु) साक्षी से गर्हा (विशेष निंदा) करता हूँ तथा सावद्य व्यापार वाली आत्मा (आत्मपरिणति) को अनित्य आदि भावना भा कर त्यागता हूँ।

'सावज्जं' शब्द के दो रूप बनते हैं। जैसे कि - १. 'सावद्य' - पाप सहित अर्थात् जो कार्य पाप क्रिया के बन्ध कराने वाले हों, आत्मा का पतन कराने वाले हों, उन सब का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सामायिक में त्याग होता है। २. 'सावर्ज्य' - अर्थात् छोड़ने योग्य। पाप कार्य तथा कषाय छोड़ने योग्य हैं अत: सामायिक में उसका त्याग किया जाता है।

निंदामि - आत्म साक्षी से पाप की निन्दा करना अर्थात् बुरा समझना ।

गरिहामि - पर (गुरु) साक्षी से अर्थात् गुरु महाराज के सामने अपने पापों को प्रकट करना।

अप्पाणं वोसिरामि - अपनी पापकारी आत्मा (कषाय आत्मा और योग आत्मा) को वोसिराता हूँ (त्यागता हूँ) पापकार्य से दूषित हुए पूर्व जीवन को त्यागना ही आत्मा को त्यागना है।

समताभाव की प्राप्ति हुए बिना रागद्वेष का क्षय नहीं हो सकता, रागद्वेष का क्षय हुए बिना केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति नहीं हो सकती और केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति हुए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती इसलिए मोक्ष का मूल कारण सामायिक ही कहा है।

प्रतिक्रमण सूत्र

साधुओं की सामायिक यावज्जीवन की होती है, उसमें प्रमाद आदि से अतिचार की संभावना रहती है अतएव सामायिक का निरूपण करके अब इसके आगे शिष्य कायोत्सर्ग पूर्वक अतिचार की आलोचना कैसे करे? इसके लिए निम्न प्रतिक्रमण सूत्र का निरूपण किया जाता है -

इच्छामि ठामि❀ काउस्सग्गं❖ जो मे देवसिओ✪ अइयारो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छियव्वो असमणपाउग्गो णाणे तह दंसणे चरित्ते सुए सामाइए तिण्हं गुत्तीणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं महव्वयाणं छण्हं जीवणिकायाणं सत्तण्हं पिंडेसणाणं अट्ठण्हं पवयणमाऊणं णवण्हं बंभचेरगुत्तीणं दसविहे समणधम्मे समणाणं जोगाणं जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

❀ हरिभद्रीयावश्यक पृष्ठ ७७८ में "**ठाइउं**" पाठ है।

❖ "**इच्छामि ठामि काउस्सग्गं**" के स्थान पर चौथे आवश्यक में "**इच्छामि पडिक्कमिउं**" शब्द बोलना चाहिए ।

✪ जहां जहां भी '**देवसिओ**' शब्द आवे उसके स्थान पर रात्रिक प्रतिक्रमण में "**राइओ**", पाक्षिक प्रतिक्रमण में "**देवसिओ पक्खिओ**", चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में "**चाउम्मासिओ**" और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में "**संवच्छरिओ**" पाठ बोलना चाहिये ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - **इच्छामि** - इच्छा करता हूँ, **ठामि** - करता हूँ, **काउस्सग्गं** - कायोत्सर्ग, **जो मे** - जो मैंने, **देवसिओ** - दिवस संबंधी, **अइयारो** - अतिचार, **कओ** - किया हो, **काइओ** - कायिक, **वाइओ** - वाचिक, **माणसिओ** - मानसिक, **उस्सुत्तो** - उत्सूत्र - सूत्र विपरीत कथन किया हो, **उम्मग्गो** - उन्मार्ग - जैन मार्ग से विरुद्ध मार्ग ग्रहण किया हो, **अकप्पो** - अकल्प्य, **अकरणिज्जो** - अकरणीय, **दुज्झाओ** - दुर्ध्यान - दुष्टध्यान ध्याया हो, **दुव्विचिंतिओ** - दुर्विचिंतित - अशुभ चिंतन किया हो, **अणायारो** - नहीं आचरने योग्य, **अणिच्छियव्वो** - अनिच्छनीय की इच्छा, **असमणपाउग्गो** - अश्रमण प्रायोग्य-श्रमण धर्म से विरुद्ध कार्य किया हो, **णाणे** - ज्ञान में, **तह** - तथा, **दंसणे** - दर्शन, **चरित्ते** - चरित्र में, **सुए** - श्रुत में, **सामाइए** - सामायिक में, **तिण्हं गुत्तीणं** - तीन गुप्ति, **चउण्हं कसायाणं** - चार कषायों की, **पंचण्हं महव्वयाणं** - पांच महाव्रतों की, **छण्हं जीवणिकायाणं** - छह जीवनिकायों की, **सत्तण्हं पिंडेसणाणं** - सात पिण्डैषणा, **अट्ठण्हं पवयणमायाणं** - आठ प्रवचन माता, **णवण्हं बंभचेर गुत्तीणं** - नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति, **दसविहे समणधम्मे** - दशविध श्रमण धर्म, **समणाणं** - श्रमण, **जोगाणं** - योगों की, **जं** - जो, **खंडियं** - खण्डना की हो, **विराहियं** - विराधना की हो, **तस्स** - उसका, **मिच्छा** - मिथ्या, **मि** - मेरा, **दुक्कडं** - पाप।

भावार्थ - मैं कायोत्सर्ग करने की इच्छा करता हूँ। मैंने दिवस संबंधी जो अतिचार किया हो। काया संबंधी-अविनय आदि किया हो। वचन संबंधी अशुभ वचन, असत्य, अपशब्द आदि बोला हो। मन संबंधी - अशुभ मन प्रवर्ताया हो, सूत्र से विरुद्ध प्ररूपणा की हो, उन्मार्ग (जैन मार्ग का त्याग कर-गलत मार्ग-अन्य मार्ग) का ग्रहण किया हो, अकल्पनीय कार्य किया हो, नहीं करने योग्य कार्य किया हो, आर्त्तध्यान रौद्रध्यान ध्याया हो, अशुभ दुष्ट चिंतन किया हो, आचरण नहीं करने योग्य कार्य का आचरण किया हो, अनिच्छनीय - इच्छा नहीं करने योग्य कार्य की इच्छा की हो, श्रमण धर्म (साधु वृत्ति) के विपरीत कार्य किया हो, ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विषय में, श्रुत, सामायिक, तीन गुप्ति के विषय में अतिचार का सेवन किया हो, चार कषाय का उदय हुआ हो। पांच महाव्रतों की, छह जीवनिकायों की रक्षा, सात पिण्डैषणा, आठ प्रवचन माता, नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति, दशविध श्रमण धर्म में श्रद्धा प्ररूपणा और स्पर्शना रूप श्रमण योगों में से जिस किसी की देश से खण्डना हुई हो या अधिक मात्रा में भंग किया हो तो वह सब पाप मेरे लिए निष्फल हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन - प्रस्तुत पाठ संक्षिप्त प्रतिक्रमण है। इसमें संपूर्ण प्रतिक्रमण का सार आ जाता है। अतः इसे प्रतिक्रमण का सार पाठ भी कहते हैं। इसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति के लिए तीन गुप्ति, चार कषाय, पांच महाव्रत आदि में लगे हुए अतिचारों का **मिच्छामि दुक्कडं** दिया गया है। इस पाठ से - दिवस संबंधी दोषों की आलोचना की जाती है और आचार-विचार संबंधी भूलों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

पाठ में प्रयुक्त कुछ शब्दों का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है -

उस्सुत्तो - उत्सूत्र। **'सूचनात्सूत्रम्'** - जो सूचना करता है, उसे सूत्र कहते हैं अर्थात् मूल आगम को सूत्र कहते हैं। सूत्र विरुद्ध - श्रुतधर्म से विपरीत आचरण उत्सूत्र है।

उम्मग्गो - उन्मार्ग। वीतराग प्ररूपित दयामय धर्म को मोक्ष का मार्ग कहते हैं। इससे विपरीत अठारह पापयुक्त मार्ग का उन्मार्ग कहते हैं। उन्मार्ग का अर्थ है - मार्ग के विरुद्ध आचरण करना अर्थात् चारित्र धर्म से विपरीत आचरण उन्मार्ग है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने उन्मार्ग का अर्थ ऐसा भी किया है - क्षायोपशमिक भाव का त्याग कर मोहनीय आदि कर्मों के उदय से प्रकट दुष्परिणाम रूप औदयिक भाव के वश होना, उन्मार्ग है।

मार्ग का अर्थ पूर्व परंपरा अर्थात् पूर्वकालीन त्यागी पुरुषों से चला आया पाप रहित कर्त्तव्य प्रवाह, मार्ग कहलाता है। अतः परंपरा के विरुद्ध आचरण करना, यह अर्थ भी उन्मार्ग का किया जाता है।

अकप्पो - अकल्प। चरण और करण रूप धर्म व्यापार कल्प कहलाता है। जो चरण-करण के विरुद्ध आचरण किया जाता है वह अकल्प-अकल्पनीय है।

अकरणिज्जो - अकरणीय अर्थात् मुनियों के नहीं करने योग्य।

शंका - अकल्पनीय और अकरणीय में क्या अंतर है?

समाधान - सावद्य भाषा बोलना आदि प्रवृत्तियां अकल्पनीय हैं तथा अयोग्य सावद्य आचरण करना अकरणीय है। इस प्रकार अकल्पनीय में अकरणीय का समावेश हो सकता है पर अकल्पनीय का समावेश अकरणीय में नहीं होता।

दुज्झाओ - दुर्ध्यान - कषाय युक्त अन्तःकरण की एकाग्रता से आर्त्तध्यान रूप।

दुव्विचिंतिओ - दुर्विचिन्तित - चित्त की असावधानता से वस्तु के अयथार्थ स्वरूप का चिंतन। अशुभ ध्यान की विशिष्ट अवस्था दुश्चिंतन रूप हैं। अर्थात् रौद्रध्यान रूप है।

णाणे तह दंसणे चरित्ते - सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, सम्यक् चारित्र में।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुए - श्रुत। श्रुत का अर्थ है - श्रुतज्ञान। वीतराग तीर्थंकर भगवंतों के श्रीमुख से सुना हुआ होने से आगम-साहित्य को श्रुत कहा गया है। श्रुत यह अन्य ज्ञानों का उपलक्षण है। अतः वे भी ग्राह्य हैं। लिपिबद्ध होने से पूर्व आगम श्रुति परंपरा से ही ग्रहण किये जाते थे अर्थात् गुरु अपने शिष्य को और शिष्य अपने शिष्य को मौखिक रूप में आगम प्रदान करते थे। इस कारण भी आगम 'श्रुत' कहलाता है। श्रुत संबंधी अतिचार का आशय है - श्रुत की विपरीत श्रद्धा एवं प्ररूपणा।

सामाइए - सामायिक का अर्थ समभाव है। यह दो प्रकार का माना जाता है - सम्यक्त्व और चारित्र। चारित्र - पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति आदि हैं। सम्यक्त्व - जिन प्ररूपित सत्य मार्ग पर श्रद्धा है। इसके दो भेद हैं - निसर्गज और अधिगमज। अतः सामायिक में दर्शन और चारित्र दोनों का समावेश समझना चाहिए।

णाणे तह दंसणे चरित्ते कहने के बाद फिर **सुए सामाइए** कहने से पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिए। ये तीनों भेद ज्ञान, दर्शन और चारित्र श्रुतधर्म और सामायिक धर्म में ही समाविष्ट हो जाते हैं। अतः तीनों शब्दों की ही दूसरी प्रकार से विशिष्टता बताने के लिए इन्हें श्रुत और सामायिक धर्म में अवतरित कर दिया गया है।

तिण्हं गुत्तीणं - योग निरोध रूप तीन गुप्ति - १. मन गुप्ति २. वचन गुप्ति और ३. काय गुप्ति।

चउण्हं कसायाणं - चार कषाय। जो शुद्ध स्वरूप वाली आत्मा को कलुषित करे, जिसके द्वारा संसार की वृद्धि हो, उसे 'कषाय' कहते हैं। इसके चार भेद हैं - १. क्रोध २. मान ३. माया और ४. लोभ।

पंचण्हं महव्वयाणं - पांच महाव्रत - १. सर्वथा प्राणातिपात विरमण २. सर्वथा मृषावाद विरमण ३. सर्वथा अदत्तादान विरमण ४. सर्वथा मैथुन विरमण और ५. सर्वथा परिग्रह विरमण।

छण्हं जीवणिकायाणं - षट्जीवनिकाय - १. पृथ्वीकाय २. अप्काय ३. तेउकाय ४. वायुकाय ५. वनस्पतिकाय और ६. त्रसकाय।

सत्तण्हं पिंडेसणाणं - सात पिण्डैषणा - दोषरहित शुद्ध प्रासुक अन्न जल ग्रहण करना 'एषणा' है। इसके दो भेद हैं - पिण्डैषणा और पानैषणा। आहार ग्रहण करने को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'पिण्डैषणा' और पानी ग्रहण करने को 'पानैषणा' कहते हैं। पिण्डैषणा के सात भेद इस प्रकार हैं -

१. **असंसट्ठा** (असंसृष्टा) - देय भोजन से बिना सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना।

२. **संसट्ठा** (संसृष्टा) - देय भोजन से सने हुए हाथ तथा पात्र से आहार लेना।

३. **उद्धडा** (उद्धृता) - असंसृष्ट हाथ, असंसृष्ट पात्र या संसृष्ट हाथ या संसृष्ट पात्र उभय प्रकार से सूझता और कल्पनीय आहार लेना अथवा बटलोई से थाली आदि में गृहस्थ ने अपने लिए जो भोजन निकाल रखा हो वह लेना।

४. **अप्पलेवा** (अल्पलेपा) - जिसमें चिकनाहट न हो अतएव लेप न लग सके, इस प्रकार के भुने हुए चने आदि ग्रहण करना।

५. **अवग्गहीआ/उग्गहीया** (अवगृहीता/उद्गृहीता) - भोजनकाल के समय भोजनार्थ थाली आदि में जो भोजन परोस रखा हो किंतु अभी भोजन शुरु न किया हो वह आहार लेना।

६. **पग्गहीआ** (प्रगृहीता) - थाली आदि में परोसने के लिए चम्मच आदि से निकाला हुआ, किंतु थाली में भोजनकर्त्ता के द्वारा हाथ आदि से प्रथम बार तो प्रगृहीत हो चुका हो, पर दूसरी बार ग्रास लेने के कारण झूठा न हुआ हो, वह आहार लेना।

७. **उज्झियधम्मा** (उज्झितधर्मा) - जो आहार अधिक होने से अथवा अन्य किसी कारण से फैंकने योग्य समझ कर डाला जा रहा हो, वह ग्रहण करना। खिचडी आदि बनाते समय खिचडी का अंश जो हांडी (बर्तन) के साथ चिपक गया हो जिसे खुरचन कहते हैं। ऐसी जली हुई खुरचन को गृहस्थ प्रायः फैंक देने योग्य समझता है उसे सूझता होने पर लेना।

आचारांग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कंध पिण्डैषणा अध्ययन में तथा स्थानांग सूत्र स्थान ७ में पिण्डैषणा का वर्णन आया है।

अट्ठण्हं पवयणमाऊणं - आठ प्रवचन माता - प्रवचन माता, पांच समिति और तीन गुप्ति का नाम है। प्रवचन माता इसलिए कहते हैं कि द्वादशांग वाणी का जन्म इन्हीं से हुआ है अर्थात् संपूर्ण जैन वाङ्मय की आधारभूमि पांच समिति और तीन गुप्ति ही है। माता के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समान साधक का हित करने के कारण भी इनको माता कहा जाता है। समीचीन यतनापूर्वक प्रवृत्ति 'समिति' कहलाती है। इसके पांच भेद हैं - १. ईर्यासमिति २. भाषा समिति ३. एषणा समिति ४. आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति ५. उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण परिस्थापनिका समिति।

योगों का सम्यक् निग्रह 'गुप्ति' कहलाता है। गुप्ति के तीन भेद इस प्रकार हैं - १. मनो गुप्ति २. वचन गुप्ति और ३. काय गुप्ति।

णवण्हं बंभचेर गुत्तीणं - नवब्रह्मचर्य गुप्ति। ब्रह्म का अर्थ है परमात्मा। आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए जो चर्या-गमन किया जाता है उसका नाम 'ब्रह्मचर्य' है। शारीरिक और आध्यात्मिक सभी शक्तियों का आधार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ बातें आवश्यक हैं, वे ही नौ गुप्ति हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के १६वें अध्ययन में इन गुप्तियों का वर्णन किया गया है। नाम इस प्रकार है - १. विविक्त वसति सेवन २. स्त्रीकथा परिहार ३. निषद्यानुपवशन ४. स्त्री अंगोपांगदर्शन वर्जन ५. कुड्यायान्तर शब्द श्रवणादि वर्जन ६. पूर्व भोगाऽस्मरण ७. प्रणीतभोजन त्याग ८. अतिमात्र भोजन त्याग ९. विभूषा वर्जन।

दसविहे समणधम्मे - दशविध श्रमण धर्म। श्रमण साधु को कहते हैं। उसका क्षान्ति, मुक्ति आदि दशविध धर्म 'श्रमण धर्म' कहलाता है अर्थात् साधु साध्वियों का आत्म-विकास करके मुक्ति प्राप्त कराने वाली साधना को 'श्रमण-धर्म' कहते हैं। इनके दस भेदों का वर्णन स्थानांग सूत्र के दसवें स्थान में इस प्रकार किया है -

१. **क्षमा** - क्रोध पर विजय प्राप्त कर शांत रहना।

२. **मुक्ति** - लोभ लालच से मुक्त रहना।

३. **आर्जव** - माया कपट का त्याग कर सरल बनना।

४. **मार्दव** - मान-अहंकार का त्याग कर नम्र होना।

५. **लाघव** - लघुता-हलकापन। वस्त्रादि बाह्य उपधि और संसारियों के स्नेह रूपी आभ्यंतर भार से हलका रहना।

६. **सत्य** - असत्य से सर्वथा दूर रहना और आवश्यक हो तब सत्य एवं हितकारी वचनों का व्यवहार करना।

७. **संयम** - मन, वचन और काया की सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना।

८. **तप** - इच्छा का निरोध कर बारह प्रकार का सम्यक् तप करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

९. त्याग - परिग्रह और संग्रह वृत्ति से मुक्त रहना। ममता का त्याग करना।

१०. ब्रह्मचर्य - नववाड़ सहित विशुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करना।

समणाणं जोगाणं - श्रमण योग। श्रमण संबंधी योग = कर्त्तव्य को श्रमण योग कहते हैं।

आचार्य हरिभद्र कहते हैं - '**श्रामण्ययोगानाम् = सम्यक् प्रतिसेवन - श्रद्धान-प्ररूपणालक्षणानां यत्खंडितम्**' श्रमण का कर्त्तव्य यह है कि क्षमा आदि दशविध श्रमण धर्म का सम्यक् रूप से आचरण करना चाहिए, सम्यक् श्रद्धान = विश्वास रखना चाहिए और यथावसर सम्यक् प्ररूपण = प्रतिपादन भी करना चाहिये।

खंडियं-विराहियं - खण्डित, विराधित। खंडित और विराधित शब्द का कुछ विद्वान् अर्थ करते हैं कि '**एकदेशेन खण्डना**' होती है और '**सर्वदेशेन विराधना**' परंतु यह अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि व्रत का पूर्णरूपेण सर्वदेशेन भंग (नाश) हो गया तो फिर प्रतिक्रमण के द्वारा शुद्धि किसकी की जाती है? अतः वास्तविक अर्थ यह है कि खण्डना अर्थात् देशतः (अल्प) भंग किया हो और विराधना अर्थात् अधिक मात्रा में भंग किया हो।

मिच्छामि दुक्कडं - मेरा दुष्कृत मिथ्या - निष्फल हो। आचार्य श्री भद्रबाहु स्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति में मिच्छामि दुक्कडं के एक-एक अक्षर का अर्थ इस प्रकार किया है -

'मि' त्ति मिउमद्दवत्ते,
'छ' त्ति य दोसाण छायणे होइ।
'मि' त्ति य मेराए ठिओ,
'दु' त्ति दुगुंछामि अप्पाणं॥ ६८६॥
'क' त्ति कडं मे पावं
'ड' त्ति य डेवेमि तं उवसमेणं।
एसो मिच्छा दुक्कड-
पयक्खरत्थो समासे णं॥ ६८७॥

'**मि**' का अर्थ मृदुता और मार्दवता है। काय नम्रता को मृदुता और भाव नम्रता को मार्दवता कहते हैं। '**छ**' का अर्थ असंयम योग रूप दोषों को छादन करना है अर्थात् रोक देना है। '**मि**' का अर्थ मर्यादा है अर्थात् मैं चारित्र रूप मर्यादा में स्थित हूँ। '**दु**' का अर्थ निन्दा है। मैं दुष्कृत करने वाले भूतपूर्व आत्मपर्याय की निन्दा करता हूँ। '**क**' का भाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पापकर्म की स्वीकृति है अर्थात् मैंने पाप किया है इस रूप में अपने पापों को स्वीकार करना। **'ड'** का अर्थ उपशम भाव के द्वारा पाप का प्रतिक्रमण करना है, पाप क्षेत्र को लांघ जाना है। यह संक्षेप में **'मिच्छामि दुक्कडं'** पद का अक्षरार्थ है। यानी **मिच्छामि दुक्कडं** का अर्थ है - द्रव्य भाव से नम्र तथा चारित्र मर्यादा में स्थित हो कर मैं सावद्य क्रियाकारी आत्मा की निंदा करता हूं और किये हुए दुष्कृत (पाप) को उपशम भाव से हटाता हूं।

अथवा निरुक्त रीति से **मिच्छामि दुक्कडं** का अर्थ इस प्रकार भी होता है - **'मि' 'छा' 'मि' 'दुक्कडं'** ऐसा पदच्छेद करने से **'मि'** मुझ में रहे हुए **'छा'** = मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद अशुभ योग रूप **दुक्कडं** = पाप को **'मि'** = दूर करता हूँ।

ऊपर कहा हुआ मिथ्यादुष्कृत प्रायश्चित्त समिति गुप्ति रूप संयम मार्ग में प्रवृत्त साधु के प्रमाद आदि कारण से लगे हुए दोष को उसी तरह हटा देता है जैसे दीपक अंधेरे को, किंतु जो साधु जानबूझ कर दोष सेवन किया, करता हो उसका मिथ्या-दुष्कृत केवल गुरु आदि के मनोरंजन के लिए ही है, पाप से छुटकारे के लिए नहीं, क्योंकि भूल से होने वाले अपराधों के लिए जो प्रायश्चित्त नियत है उससे जानबूझ कर अपराध करने वाले का दोष दूर नहीं हो सकता।

अब अतिचारों की विशेष शुद्धि के लिए विधिपूर्वक कायोत्सर्ग का स्वरूप दिखलाते हैं-

उत्तरीकरण सूत्र (तस्स उत्तरी का पाठ)

तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं, पावाणं कम्माणं णिग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं॥१॥ अण्णत्थ ऊससिएणं, णीससिएणं, खासिएणं, छीएणं, जंभाइएणं, उड्डुएणं, वायनिसग्गेणं, भमलीए, पित्तमुच्छाए॥२॥ सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं, सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं, सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं॥३॥ एवमाइएहिं आगारेहिं, अभग्गो अविराहिओ, हुज्ज मे काउस्सग्गो॥४॥ जाव अरहंताणं* भगवंताणं, णमोक्कारेणं+ न पारेमि॥५॥ ताव कायं ठाणेणं, मोणेणं, झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि॥

पाठान्तर - * अरिहंताणं + णमुक्कारेणं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - **तस्स** - उसकी, दूषित आत्मा की, **उत्तरीकरणेणं** - विशेष उत्कृष्टता के लिए, **पायच्छित्तकरणेणं** - प्रायश्चित्त करने के लिए, **विसोहिकरणेणं** - विशेष निर्मलता के लिए, **विसल्लीकरणेणं** - शल्य से रहित करने के लिए, **पावाणं कम्माणं** - पाप कर्मों के, **णिग्घायणट्ठाए** - विनाश के लिए, **काउस्सग्गं** - कायोत्सर्ग अर्थात् शरीर की क्रिया का त्याग, **ठामि** - करता हूं। **अण्णत्थ** - आगे कहे जाने वाले आगारों के सिवाय, **ऊससिएणं**- ऊंचा श्वास लेने से, **णीससिएणं** - नीचा श्वास लेने से, **खासिएणं** - खांसी से, **छीएणं** - छींक से, **जंभाइएणं** - जंभाई, उबासी लेने से, **उड्डुएणं** - डकार लेने से, **वायणिसग्गेणं**- अधोवायु निकलने से, **भमलीए** - चक्कर आने से, **पित्तमुच्छाए** - पित्त विकार के कारण मूर्छा आ जाने से, **सुहुमेहिं** - सूक्ष्म, थोड़ा सा भी, **अंगसंचालेहिं** - अंग के संचार से, **खेलसंचालेहिं** - कफ के संचार से, **दिट्ठिसंचालेहिं** - दृष्टि, नेत्र के संचार से, **एवमाइएहिं**- इत्यादि, **आगारेहिं** - आगारों से, अपवादों से, **अभग्गो** - अभग्न, **अविराहिओ** - अविराधित, अखंडित, **हुज्ज** - होवे, **मे** - मेरा, **काउस्सग्गो** - कायोत्सर्ग, **जाव** - जब तक, **अरहंताणं भगवंताणं** - अर्हन्त भगवंतों को, **णमोक्कारेणं** - नमस्कार करके, **ण पारेमि** - न पारूं, **ताव** - तब तक, **कायं** - शरीर को, **ठाणेणं** - एक स्थान पर स्थिर रह कर, **मोणेणं** - मौन रह कर, **झाणेणं** - ध्यानस्थ रह कर, **अप्पाणं** - अपनी (अशुभ योग एवं कषाय रूप आत्मा को), **वोसिरामि** - वोसिराता हूं, त्यागता हूं।

भावार्थ - आत्मा की विशेष उत्कृष्टता - श्रेष्ठता के लिए, प्रायश्चित्त के लिए, विशेष निर्मलता के लिए, शल्य रहित होने के लिए, पापकर्मों का पूर्णतया विनाश करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ अर्थात् आत्मविकास की प्राप्ति के लिए शरीर संबंधी समस्त चंचल व्यापारों का त्याग करता हूँ।

आगे कहे जाने वाले आगारों के सिवाय कायोत्सर्ग में शेष काय व्यापारों का त्याग करता हूँ - उच्छ्वास, निःश्वास, खांसी, छींक, उबासी, डकार, अपानवायु, चक्कर, पित्तविकार जन्य मूर्च्छा, सूक्ष्म रूप से अंगों का हिलना, सूक्ष्म रूप से कफ का निकलना, सूक्ष्म रूप से नेत्रों का हरकत में आ जाना, इत्यादि आगारों से मेरा कायोत्सर्ग अभग्न एवं अविराधित हो।

जब तक अर्हन्त भगवंत को नमस्कार न कर लूं अर्थात् 'णमो अरहंताणं' ऐसा प्रकट रूप में न बोल लूँ तब तक एक स्थान पर स्थिर रह कर, मौन रह कर, धर्मध्यान में चित्त की एकाग्रता करके अपने शरीर को पाप व्यापारों से अलग करता हूँ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन - यह कायोत्सर्ग के पहले बोला जाने वाला पाठ है। इसके द्वारा ईर्यापथिक प्रतिक्रमण से शुद्ध आत्मा में बाकी रही हुई सूक्ष्म मलिनता को भी दूर करने के लिए विशेष परिष्कार स्वरूप कायोत्सर्ग का संकल्प किया जाता है। कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त का पांचवां भेद है। कायोत्सर्ग में दो शब्द हैं - काय और उत्सर्ग। अत: कायोत्सर्ग का अर्थ हुआ - काया- शरीर की (उपलक्षण से मन और वचन की) चंचल क्रियाओं का उत्सर्ग - त्याग। आत्मा की अशुद्धि का कारण मन, वचन और काया के भ्रान्त आचरण से उत्पन्न पाप मल है। इस प्रायश्चित्त (कायोत्सर्ग) के द्वारा आध्यात्मिक शुद्धि (आत्म शुद्धि - हृदय शुद्धि) हो जाती है क्योंकि प्रायश्चित्त के द्वारा पाप का परिमार्जन और दोष का शमन होता है। प्रस्तुत सूत्र में अतिचारों की विशेष शुद्धि के लिए विधिपूर्वक कायोत्सर्ग का स्वरूप बताया गया है। आत्मविकास की प्राप्ति के लिए शरीर संबंधी समस्त चंचल व्यापारों का त्याग करना ही इस सूत्र का प्रयोजन है।

आत्मा को विशेष उत्कृष्ट बनाने के लिए, शल्यों का त्याग करने के लिए, पापकर्मों का नाश करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। शरीर की आवश्यक क्रियाएं जिन्हें रोक पाना संभव नहीं होता है उन क्रियाओं का आगार (छूट) रखने के लिये यह पाठ प्रत्येक कायोत्सर्ग के पूर्व बोला जाता है। कायोत्सर्ग विषयक मुख्य १२ आगार इस प्रकार हैं -

१. ऊससिएणं २. णीससिएणं ३. खासिएणं ४. छीएणं ५. जंभाइएणं ६. उड्डुएणं ७. वायणिसग्गेणं ८. भमलीए ९. पित्तमुच्छाए १०. सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं ११. सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं १२. सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं।

एवमाइएहिं आगारेहिं - एवं अर्थात् इसी तरह के 'आदि' और भी आगार हैं। आदि शब्द से यहाँ टीकाकार ने चार आगारों को ग्रहण किया है - १. आग के उपद्रव से दूसरे स्थान पर जाना २. चूहे आदि को मारने के लिए बिल्ली झपटती हो या किसी पंचेन्द्रिय जीव का छेदन भेदन होता हो तो उनके रक्षार्थ प्रयत्न करना ३. डकैती पड़ने या राजा आदि के सताने से स्थान बदलना ४. सिंह आदि के भय से सांप आदि विषैले जंतु के डंक से या दिवार आदि गिर पड़ने की शंका से दूसरे स्थान को जाना।

कायोत्सर्ग करने के समय ये आगार इसलिए रखे जाते हैं कि सब मनुष्यों की शक्ति एक सरीखी नहीं होती है। जो कम शक्ति वाले और डरपोक होते हैं वे ऐसे अवसर पर घबरा जाते हैं इसलिए ऐसे साधकों की अपेक्षा आगार रखे गये हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञानातिचार सूत्र

कायोत्सर्ग का अवलंबन ले कर उसमें अतिचारों का विशेष रूप से चिंतन किया जाता है अत: ज्ञान के अतिचारों का पाठ इस प्रकार है -

आगमे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा-सुत्तागमे, अत्थागमे, तदुभयागमे, इन तीन प्रकार के आगम रूप ज्ञान में जो कोई अतिचार लगा हो, तो आलोऊं जं-वाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, विणयहीणं, जोगहीणं, घोसहीणं, सुट्ठुदिण्णं, दुट्ठुपडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाइए सज्झाइयं, सज्झाइए न सज्झाइयं भणतां, गुणतां, विचारतां, ज्ञान और ज्ञानवंत पुरुषों की अविनय आशातना की हो, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं॥

कठिन शब्दार्थ - **आगमे** - आगम, **तिविहे** - तीन प्रकार का, **पण्णत्ते** - कहा गया है, **तं जहा** - वह इस प्रकार है, **सुत्तागमे** - सूत्रागम, **अत्थागमे** - अर्थागम, **तदुभयागमे** - सूत्र और अर्थ रूप आगम, **आलोऊं** - आलोचना करता हूँ, **वाइद्धं** - सूत्र आगे पीछे बोलना (अक्षरों को उलट-पुलट कर पढ़ना), **वच्चामेलियं** - भिन्न-भिन्न स्थानों पर आए हुए समानार्थक पदों को एक साथ मिला कर पढ़ना, **हीणक्खरं** - अक्षर कम बोले हो, **अच्चक्खरं** - अधिक अक्षर बोले हों, **पयहीणं** - पदहीन पढ़ा हो - कोई पद छोड़ दिया हो, **विणयहीणं** - विनय रहित पढा हो, **जोगहीणं** - योगहीन - मन, वचन, काया की स्थिरता न रख कर पढा हों, **घोसहीणं** - शुद्ध उच्चारण किये बिना पढ़ा हो, **सुट्ठुदिण्णं** - अविनीत को सूत्र पढ़ाया हो, शिष्य में शास्त्र ग्रहण करने की जितनी शक्ति है उससे अधिक पढाना, **दुट्ठुपडिच्छियं** - आगम को बुरे भाव से ग्रहण करना, **अकाले** - अकाल में, **कओ**- किया हो, **सज्झाओ** - स्वाध्याय, **काले** - काल में, **न** - नहीं, **असज्झाइए** - अस्वाध्याय, **सज्झाइयं** - स्वाध्याय।

भावार्थ - सूत्र (मूल पाठ रूप), अर्थ रूप और सूत्र व अर्थ रूप, इस तरह तीन प्रकार के आगम-ज्ञान के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ - यदि सूत्र के अक्षरों को उलट-पुलट कर पढ़ा हो, अन्यान्य स्थानों पर आये हुए समानार्थक पदों को एक साथ मिला कर पढ़ा हो, हीनाधिक अक्षर पढ़ा हो, पद-हीन पढ़ा हो, विनय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहित पढ़ा हो, मन, वचन और काया को स्थिर न रख कर पढ़ा हो, घोष रहित पाठ किया हो, शिष्य में शास्त्र ग्रहण करने की जितनी शक्ति हो उससे न्यूनाधिक पढाया हो, आगम को बुरे भाव से ग्रहण किया हो, अकाल में स्वाध्याय किया हो, काल में स्वाध्याय न किया हो, अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय किया हो, स्वाध्याय काल में स्वाध्याय नहीं किया हो। पढ़ते हुए, गुनते-अर्थ को पढ़ते हुए और विचारते-अर्थ का चिंतन करते हुए ज्ञान और ज्ञानवंत पुरुषों की अविनय आशातना की हो, तो मेरा पाप निष्फल हो।

विवेचन - जिससे षड्द्रव्य, नवतत्त्वों और हेय, ज्ञेय, उपादेय का सम्यग्ज्ञान हो, मोक्षमार्ग में चलने की प्रेरणा मिले, उसे आगम (सिद्धान्त) कहते हैं। अथवा जो तीर्थंकर भगवान् के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण शंका रहित और अलौकिक होने से भव्य जीवों को चकित कर देने वाले ज्ञान को देने वाला हो या जो अर्हन्त भगवान् के मुख से निकलकर गणधर देव को प्राप्त हुआ और भव्य जीवों ने सम्यक् भाव से जिसको माना, उसे 'आगम' कहते हैं।

आगम के तीन भेद हैं -

१. **सुत्तागमे** (सूत्रागम) - तीर्थंकरों ने अपने श्रीमुख से जो भाव प्रकट किये, उन्हें गणधरों ने अपने कानों से सुनकर जिन आचारांगादि आगमों की रचना की, उस शब्द रूप मूल आगम को सुत्तागमे (सूत्रागम) कहते हैं।

२. **अत्थागमे** (अर्थागम) - तीर्थंकरों ने अपने श्रीमुख से जो भाव प्रकट किये, उस भाव रूप - अर्थ आगम को 'अर्थागम' कहते हैं यानी तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्रतिपादित उपदेश 'अर्थागम' कहलाता है।

३. **तदुभयागमे** (तदुभयागम) - वह आगम जिसमें सूत्र, मूल और अर्थ दोनों हो तदुभयागम कहलाता है।

सूत्र, अर्थ या तदुभय रूप आगम को विधिपूर्वक न पढना अर्थात् उसके पढने में किसी प्रकार का दोष लगाना ज्ञान का अतिचार है। ज्ञान के चौदह अतिचार इस प्रकार हैं -

१. **वाइद्धं** (व्याविद्धं) - व्याविद्ध पढना अर्थात् सूत्र को तोड़कर मणियों को बिखेरने के समान सूत्र के अक्षर, मात्रा, व्यञ्जन, अनुस्वार, पद, आलापक आदि को उलट पुलट कर पढना 'व्याविद्ध' अतिचार है। ऐसा पढने से शास्त्र की सुंदरता नहीं रहती है तथा अर्थ का बोध भी अच्छी तरह से नहीं होता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. वच्चामेलियं (व्यत्याम्रेडितं) - सूत्रों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर आये हुए समानार्थक पदों को एक साथ मिला कर पढना वच्चामेलियं अतिचार है। शास्त्र के भिन्न-भिन्न पदों को एक साथ पढने से अर्थ बिगड़ जाता है। विराम आदि लिये बिना पढना अथवा अपनी बुद्धि से सूत्र के समान सूत्र बना कर आचारांग आदि सूत्रों में डालकर पढने से भी यह अतिचार लगता है।

३. हीणक्खरं (हीनाक्षरं) - हीनाक्षर पढना यानी इस प्रकार से पढना कि जिससे कोई अक्षर छूट जाय जैसे **'णमो आयरियाणं'** के स्थान पर 'य' अक्षर कम करके **'णमो आरियाणं'** पढना।

४. अच्चक्खरं (अत्यक्षरं) - अधिक अक्षर युक्त पढना - पाठ के बीच में कोई अक्षर अपनी तरफ से मिला देना जैसे **'णमो उवज्झायाणं'** में 'रि' मिला कर **'णमो उवज्झायारियाणं'** पढना।

५. पयहीणं (पदहीनं) - अक्षरों के समूह को 'पद' कहते हैं। जिसका कोई न कोई अर्थ अवश्य हो वह 'पद' कहलाता है। किसी पद को छोड़कर पढ़ना पयहीणं अतिचार है जैसे - **'णमो लोएसव्वसाहूणं'** में 'लोए' पद कम करके **'णमो सव्वसाहूणं'** पढ़ना।

उपरोक्त पांचों अतिचार उच्चारण संबंधी अतिचार हैं। उच्चारण की अशुद्धि से कई हानियां हैं। यथा - १. कई बार अर्थ सर्वथा नष्ट हो जाता है २. विपरीत अर्थ हो जाता है ३. कई बार आवश्यक अर्थ में कमी रह जाती है ४. कई बार अधिकता हो जाती है ५. कई बार सत्य किंतु अप्रासंगिक अर्थ हो जाता है। आदि

अतः उच्चारण अत्यंत शुद्ध करना चाहिये। उच्चारण शुद्धि के लिए - १. सूत्र के एक एक अक्षर मात्रादि को ध्यान से पढ़ना चाहिये २. ध्यान से कण्ठस्थ करना चाहिये और ३. ध्यान से फेरना चाहिये ऐसा करने से उच्चारण शुद्ध होता है।

६. विणयहीणं (विनयहीनं) - विनयहीन अर्थात् शास्त्र तथा पढ़ाने वाले का समुचित विनय न करना। ज्ञान और ज्ञानदाता के प्रति, ज्ञान लेने से पहले, ज्ञान लेते समय तथा ज्ञान लेने के बाद में विनय (वंदनादि) नहीं करके अथवा सम्यग् विनय नहीं करके पढ़ना 'विणयहीणं' अतिचार है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७. जोगहीणं (योगहीनं) - योगहीन अर्थात् सूत्र पढ़ते समय मन, वचन और काया को जिस प्रकार स्थिर रखना चाहिये, उस प्रकार नहीं रखना। योगों को चंचल रखना, अशुभ व्यापार में लगाना और ऐसे आसन से बैठना, जिससे शास्त्र की आशातना हो, योगहीन दोष है।

८. घोसहीणं (घोषहीनं) - घोषहीन अर्थात् उदात्त✪ अनुदात्त✪ स्वरित❖ सानुनासिक✸ और निरनुनासिक✺ आदि दोषों से रहित पाठ पढ़ना। किसी भी स्वर या व्यञ्जन को घोष के अनुसार ठीक न पढ़ना अथवा ज्ञानदाता जिस शब्द, छन्द पद्धति से उच्चारण करावे वैसा उच्चारण करके नहीं पढ़ना घोषहीन दोष है।

उपरोक्त तीनों अतिचार, पढ़ने की अविधि संबंधी अतिचार है। विनयहीनता से प्राप्त ज्ञान यथासमय काम नहीं आता - सफल नहीं होता। योगहीनता से ज्ञान की प्राप्ति शीघ्र नहीं होती, शुद्ध आवर्त्तन नहीं होता, आलोचना प्रतिक्रमण आदि क्रियाएं सफल नहीं होती। घोषहीनता से सूत्र का आत्मा पर पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता। अतः तीनों अतिचारों को दूर करना चाहिये।

९. सुट्ठुदिण्णं (सुष्ठुदत्तं) - यहां 'सुट्ठु' शब्द का अर्थ है - शक्ति या योग्यता से अधिक। शिष्य में शास्त्र ग्रहण करने की जितनी शक्ति है उससे अधिक पढ़ाना 'सुट्ठुदिण्णं' कहलाता है।

१०. दुट्ठुपडिच्छियं (दुष्ठुप्रतीष्ठम्) - आगम को बुरे भाव से ग्रहण करना।

११. अकाले कओ सज्झाओ (अकालेकृतः स्वाध्यायः) - जिस काल में (चार संध्याओं में) सूत्र स्वाध्याय नहीं करनी चाहिये या जो सूत्र जिस काल (दिन रात्रि में दूसरे तीसरे प्रहर) में नहीं पढ़ना चाहिए, उस काल में स्वाध्याय करने को अकाल स्वाध्याय कहते हैं।

✪ उदात्त - ऊंचे स्वर से पाठ करना।

✪ अनुदात्त - नीचे स्वर से पाठ करना।

❖ स्वरित - मध्यम स्वर से पाठ करना।

✸ सानुनासिक - नासिका और मुख दोनों से उच्चारण करना।

✺ निरनुनासिक - बिना नासिका के केवल मुख से उच्चारण करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान में उपलब्ध ३२ आगमों का स्वाध्याय दो प्रकार की श्रेणी से किया जाता है - १. कालिक और २. उत्कालिक।

१. कालिक - जो नियत काल में अर्थात् दिन रात के प्रथम व अंतिम प्रहर में पढ़े जाते हैं अर्थात् जिनके मूल पाठ का स्वाध्याय इस नियत काल में किया जाये, वे कालिक सूत्र हैं - ३२ सूत्रों में २३ कालिक हैं (११ अंग, ७ उपांग, १ मूल सूत्र और ४ छेद सूत्र - २३)

आचारांग आदि ११ अंग, १२. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति , १३. चन्द्रप्रज्ञप्ति, १४. निरयावलिका, १५. कल्पातवतंसिका, १६. पुष्पिका, १७. पुष्पचूलिका, १८. वृष्णिदशा, १९. उत्तराध्ययन, २०. दशाश्रुतस्कन्ध, २१. बृहत्कल्प, २२. व्यवहार सूत्र, २३. निशीथ सूत्र।

२. उत्कालिक - जो अस्वाध्याय के समय को छोड़ कर शेष रात्रि और दिन के सभी समयों में पढ़े जा सकते हैं अर्थात् उनके मूलपाठ का स्वाध्याय, अस्वाध्याय काल को छोड़कर कर सकते हैं, वे उत्कालिक सूत्र हैं। जो इस प्रकार हैं -

(५ उपांग, ३ मूल, १ आवश्यक, ये ९ उत्कालिक सूत्र हैं)

१. औपपातिक, २. राजप्रश्नीय, ३. जीवाभिगम, ४. प्रज्ञापना, ५. सूर्यप्रज्ञप्ति ६. दशवैकालिक ७. नंदी ८. अनुयोगद्वार ९. आवश्यक सूत्र।

नोट - आवश्यक सूत्र के लिए अस्वाध्याय में प्रतिक्रमण करने की विधि है। इसके लिए अस्वाध्याय काल वर्जन की आवश्यकता नहीं है, अतः इसे किसी भी समय पढ़ सकते हैं।

कालिक सूत्रों को उनके लिए निश्चित समय के अतिरिक्त पढ़ना अतिचार है।

१२. काले न कओ सज्झाओ (काले न कृतः स्वाध्यायः) - जिस सूत्र के लिए जो काल निश्चित किया गया, उस समय स्वाध्याय न करना दोष है।

जैसे जो राग या रागिनी जिस काल में गाना चाहिए उससे भिन्न काल में गाने से अहित होता है वैसे ही अकाल में स्वाध्याय से अहित होता है तथा यथाकाल स्वाध्याय नहीं करने से ज्ञान में हानि तथा अव्यवस्थिता का दोष लगता है इसलिये ये दोनों अतिचार वर्ज्य है।

१३. असज्झाइए सज्झाइयं (अस्वाध्याये स्वाध्यायितं) - अस्वाध्याय अर्थात् ऐसा कारण या समय उपस्थित होना जिसमें शास्त्र की स्वाध्याय वर्जित है उसमें स्वाध्याय करना, अस्वाध्याय में स्वाध्याय अतिचार है। अस्वाध्याय के ३२ कारण कहे गये हैं जो इस प्रकार हैं -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आकाश सम्बन्धी १० अस्वाध्याय -

१. उल्कापात - बड़े तारे का टूटना अर्थात् स्थानान्तरित होना। तारा विमान के तिर्यक् गमन करने पर या देव विकुर्वणा आदि करने पर आकाश में तारा टूटने जैसा दृश्य होता है। यह कभी लम्बी रेखा युक्त गिरते हुए दिखाई देता है, कभी प्रकाश युक्त गिरते हुए दिखाई देता है, यह उल्कापात कहलाता है।

इसका अस्वाध्याय काल एक प्रहर तक रहता है।

२. दिग्दाह - पुद्गल परिणमन से एक या अनेक दिशाओं में कोई महानगर जल रहा हो इस प्रकार भूमि से कुछ ऊपर प्रकाश दिखाई देना तथा नीचे अन्धकार मालूम होना दिग्दाह है। इसका अस्वाध्याय काल जब से दिखाई दे तब से एक प्रहर का है।

३. गर्जन - अकाल में मेघ गर्जना हो तो इसका अस्वाध्याय काल दो प्रहर का होता है।

४. विद्युत् - अकाल में बिजली चमके तो इसका अस्वाध्याय काल एक प्रहर का होता है।

नोट - गर्जन और विद्युत् दो प्रकार से होते हैं - १. देवकृत और २. स्वाभाविक।

आगमों में २८ नक्षत्र माने हैं उनमें से आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र ये नौ नक्षत्र वर्षा ऋतु के माने हैं। इनमें गर्जन और विद्युत् की अस्वाध्याय नहीं होती है क्योंकि उस समय में इनका होना स्वाभाविक है।

५. निर्घात - बादल अथवा बिना बादल वाले आकाश में प्रचण्ड ध्वनि को निर्घात कहते हैं। इसको बिजली कड़कना तथा बिजली गिरना भी कहते हैं। इसका आठ प्रहर का अस्वाध्याय काल होता है।

६. यूपक - शुक्ल पक्ष की एकम, बीज और तीज के दिन सूर्यास्त होने एवं चन्द्र अस्त होने के समय की मिश्र अवस्था को यूपक कहा जाता है अथवा संध्या प्रभा एवं चन्द्र प्रभा एक साथ होने से अर्थात् संध्या प्रभा एवं चन्द्र प्रभा का मिश्रण हो जाने को यूपक कहते हैं। अतः इन तीन दिनों में रात्रि की प्रथम प्रहर में अस्वाध्याय काल रहता है।

नोट - अमावस्या से पंचमी तक कोई तिथि क्षय होने पर अमावस्या सहित तीन दिन अस्वाध्याय काल मानना चाहिए तथा एकम, द्वितीया में से कोई तिथि बढ़ने पर तृतीया की अस्वाध्याय नहीं मानी जाती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७. यक्षादीप्त - आकाश में चमकते हुए और नाचते हुए यक्ष चिह्नों का दिखाई देना अथवा आकाश में व दिशा विशेष में बिजली सरीखा बीच-बीच में ठहर कर जो प्रकाश दिखाई देता है इसे यक्षादीप्त कहते हैं। जब तक दिखाई दे तब तक अस्वाध्याय काल रहता है।

८. धूमिका - कार्तिक से लेकर माघ मास तक का समय गर्भमास कहलाता है। इस काल में जो धूम्र वर्ण (धूवे जैसी) धुँवर पड़ती है वह धूमिका कहलाती है। इसलिए यह जब तक रहे तब तक इसका अस्वाध्याय काल रहता है।

९. महिका - गर्भमास में जो श्वेत वर्ण की धूंवर पड़ती है वह महिका कहलाती है। यह जब तक रहे तब तक अस्वाध्याय काल रहता है।

इन दोनों अस्वाध्यायों के समय अप्काय की विराधना से बचने के लिए प्रतिलेखन आदि कायिक, वाचिक कार्य भी नहीं किये जाते हैं।

नोट - पर्वतीय क्षेत्रों में कई बार बादलों के गमनागमन करते समय भी ऐसा ही दृश्य होता है। किन्तु उसका स्वभाव धुंवर से भिन्न होता है इसलिए उसका अस्वाध्याय नहीं गिना जाता है।

१०. रज उद्घात - स्वाभाविक रूप से वायु से प्रेरित होकर आकाश का चारों ओर धूल से आच्छादित होना और रज का गिरना रज उद्घात कहलाता है। यह जब तक रहे तब तक अस्वाध्याय काल गिनना चाहिये।

ये दस आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय हुए।

औदारिक सम्बन्धी १० अस्वाध्याय

११-१२-१३. हड्डी (अस्थि), मांस और खून (शोणित)।

(अ) तिर्यंच पंचेन्द्रिय की हड्डी, रक्त (खून) और मांस ६० हाथ के अन्दर हो तो तीन प्रहर तक तथा मनुष्य की हड्डी, रक्त और मांस १०० हाथ के अन्दर हो तो एक दिन रात का अस्वाध्याय काल मानना। मांस उठा लेने के बाद भी कुछ अंश रहने की संभावना से तीन प्रहर का वर्जन किया है। अच्छी तरह सफाई कर लेने पर उसी समय स्वाध्याय की जा सकती है। रक्त सुख कर विवर्ण हो जावे तथा पड़ा रहे तो तीन प्रहर के बाद भी स्वाध्याय नहीं होती।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ब) मनुष्य की हड्डी १०० हाथ के अन्दर, चाहे वह पृथ्वी में गड़ी हो, जब तक वह जली और धुली न हो १२ वर्ष तक अस्वाध्याय काल रहता है।

(स) उपाश्रय के निकट के गृह में लड़की उत्पन्न हो तो आठ दिन और लड़का उत्पन्न हो तो ७ दिन का अस्वाध्याय रहता है। इसमें दिवाल से संलग्न सात घर (७०-८० फीट लगभग) की मर्यादा मानी जाती है।

(द) तिर्यंच संबंधी प्रसूति हो तो जरा गिरने के बाद तीन प्रहर अस्वाध्याय काल समझना चाहिए।

नोट - उपाश्रय के सामने वाले घर में लड़का-लड़की या तिर्यंच की प्रसूति हुई हो और बीच में राजमार्ग हो तो अस्वाध्याय नहीं मानना।

(य) स्त्रियों के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन-रात का या जब तक रक्त स्त्राव की स्थिति बनी रहे।

१४. अशुचि - मल-मूत्र की गंध आवे या दृष्टि गोचर हो तो जब तक ऐसा हो, तब तक अस्वाध्याय गिनना चाहिए।

१५. श्मशान - श्मशान भूमि के चारों ओर १००-१०० हाथ तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१६. चन्द्र ग्रहण - चन्द्र ग्रहण होने पर जघन्य ८ प्रहर, उत्कृष्ट १२ प्रहर तक अस्वाध्याय रहती है।

यदि खण्ड चन्द्र ग्रसित (ग्रहण) हो तो उस रात्रि के चार प्रहर तथा आगामी दिवस के चार प्रहर कुल आठ प्रहर अस्वाध्याय रहता है और यदि पूर्ण चन्द्र ग्रहण हो तो उस रात्रि के चार प्रहर एवं आगामी अहोरात्र यह कुल १२ प्रहर का अस्वाध्याय रहता है।

१७. सूर्य ग्रहण - सूर्य ग्रहण जब अपूर्ण (खण्ड) हो तो चार प्रहर उस दिन के तथा चार रात्रि के तथा चार आगामी दिवस के इस प्रकार कुल १२ प्रहर अस्वाध्याय रहता है।

सूर्यग्रहण जब पूर्ण हो तो उस दिन-रात के आठ तथा आगामी दिन-रात के आठ ये कुल १६ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

नोट - चन्द्रग्रहण की रात्रि के प्रारम्भ से एवं सूर्यग्रहण के दिन के प्रारम्भ से अस्वाध्याय काल मानने की परम्परा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१८. पतन् - राजा, मंत्री आदि प्रमुख व्यक्ति की मृत्यु होने पर उस नगरी में जब तक शोक रहे और नया राजा स्थापित न हो तब तक अस्वाध्याय काल समझना चाहिए और जब हो जाए तो एक अहोरात्र तक अस्वाध्याय काल समझना चाहिए।

१९. राज-व्युद्ग्रह - जहाँ राजाओं का युद्ध चल रहा हो उस स्थल के निकट अस्वाध्याय काल रहता है तथा युद्ध समाप्त होने के बाद एक अहोरात्रि तक अस्वाध्याय काल रहता है।

२०. औदारिक कलेवर - उपाश्रय में मृत मनुष्य का शरीर पड़ा हो तो १०० हाथ के भीतर तथा तिर्यंच पंचेन्द्रिय का मृत कलेवर ६० हाथ के भीतर हो तो जब तक वह रहे तब तक अस्वाध्याय काल गिनना चाहिए।

मृत या भग्न अण्डे का तीन प्रहर तक (या जब तक रहे तब तक) अस्वाध्याय गिना जाता है।

औदारिक सम्बन्धी अशुचि पदार्थों के बीच राजमार्ग हो तो अस्वाध्याय नहीं होता है।

यह औदारिक सम्बन्धी दस अस्वाध्याय हुए।

चन्द्रग्रहण-सूर्यग्रहण को औदारिक अस्वाध्याय में इसलिए गिना है कि उनके विमान पृथ्वीकाय के बने होते हैं।

२१-२८. आषाढ़, आश्विन, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा एवं इनके बाद आने वाली (श्रावण, कार्तिक, मिगसर एवं वैशाख की) प्रतिपदा (एकम) को अहोरात्र का अस्वाध्याय रहता है। क्योंकि इन चार पूर्णिमा को इन्द्र महोत्सव, स्कन्ध महोत्सव, यक्ष महोत्सव और भूत महोत्सव मनाए जाते हैं। इन महोत्सव में लोग अपनी मान्यतानुसार इन्द्रादि का पूजन करते हैं एवं देवों को आह्वान् करते हैं तथा इनके बाद आने वाली प्रतिपदा को अपने मित्र आदि को बुलाते और मदिरा पान सहित भोजनादि करते हैं। मदोन्मत्त बने लोग साधु-साध्वियों को स्वाध्याय करते देख कर भड़क सकते हैं और मदिरा आदि से उन्मत्त बने होने के कारण कोई उपद्रव भी कर सकते है। इसलिए प्रतिपदा को भी स्वाध्याय का परिहार करते हैं।

नोट - निशीथ टब्बे की प्रतियों में आश्विन के बदले भाद्रपद की महाप्रतिपदा को अस्वाध्याय माना है। इसलिए भाद्रपद पूर्णिमा और आसोज वदी प्रतिपदा इन दोनों अस्वाध्यायों को ३२ अस्वाध्यायों में मिलाकर ३४ अस्वाध्याय भी गिनते हैं। किन्तु निशीथ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र (उद्देशक १९) और स्थानांग सूत्र (स्थान ४ उद्देशक २) दोनों में ही उपरोक्त चार महाप्रतिपदाएं वर्णित हैं। व्यवहार भाष्य, हरिभद्रीयावश्यक आदि में भी महाप्रतिपदाएं चार ही मानी हैं। इसलिए ३२ अस्वाध्याय काल मानना उचित है।

२९-३२. प्रातःकाल, मध्याह्न (दोपहर) सायंकाल और अर्द्धरात्रि, इन चारों संधि काल में एक मुहूर्त्त अस्वाध्याय काल रहता है। क्योंकि इन चारों काल में व्यन्तर देव भ्रमण करते हैं। अतः किसी प्रकार का प्रमाद होने पर उनके द्वारा उपद्रव होना संभव है।

प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व ३६ मिनिट व सूर्योदय के बाद १२ मिनिट, सायंकाल सूर्यास्त के पूर्व १२ मिनिट व सूर्यास्त के बाद ३६ मिनिट, मध्याह्न (दोपहर) व अर्द्ध रात्रि के समय मध्य समय से २४ मिनिट पूर्व व २४ मिनिट पश्चात् इस प्रकार एक मुहूर्त्त का अस्वाध्याय काल होता है। प्रातःकाल व सायंकाल उपरोक्त एक मुहूर्त्त के पूर्व या पश्चात् भी लाल दिशाएं रहती है। जब तक लाल दिशा रहे तब तक अस्वाध्याय काल माना जाता है।

उपरोक्त ३२ अस्वाध्यायों का प्राचीन वर्णन स्थानांग सूत्र ४ उ० २, १० वें स्थान की टीका में, प्रवचन सारोद्धार के २६८ वें द्वार में गाथा १४५० से १४७१ तक में, व्यवहार भाष्य के सातवें उद्देशक एवं हरिभद्रीयावश्यक के चौथे प्रतिक्रमण-अध्ययन की अस्वाध्याय निर्युक्ति में, निशीथ के १९ वें उद्देशक की भाष्य चूर्णि में मिलता है। अस्वाध्याय के कुछ शब्दों का अर्थ छह नाम (अनुयोगद्वार) के अंतर्गत आदि पारिणामिक भाव की टीका में मिलता है।

इन ३२ प्रकार के अस्वाध्यायों में स्वाध्याय करने पर जिनाज्ञा का उल्लंघन होता है और कदाचित् देव द्वारा उपद्रव भी हो सकता है। क्योंकि भगवती सूत्र शतक ५ उद्देशक ४ में देवों की अर्धमागधी भाषा कही है और यही भाषा आगम की भी है। अतः मिथ्यात्वी एवं कौतुहली देवों के द्वारा उपद्रव करने की संभावना रहती है। धूमिका, महिका में स्वाध्याय आदि करने से अप्काय की विराधना भी होती है। औदारिक सम्बन्धी दस अस्वाध्याय में स्वाध्याय करने पर लोक व्यवहार से विरुद्ध आचरण भी प्रतीत होता है, सूत्रों का सम्मान भी नहीं रहता है तथा ज्ञानाचार की शुद्ध आराधना भी नहीं होती है अपितु अतिचारों का सेवन होता है।

मासिक धर्म आदि स्वकीय अस्वाध्याय में श्रावक-श्राविका का विवेक पूर्वक सामायिक, प्रतिक्रमण, संवर आदि की प्रवृत्ति एवं नित्य नियम तथा प्रभु स्मरण करने का आगमों में कहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

निषेध नहीं है - इसलिए करना चाहिए। (आवश्यक सूत्र के अलावा सूत्रागम की स्वाध्याय नहीं करना चाहिये)।

१४. सज्झाइए ण सज्झाइयं (स्वाध्याये न स्वाध्यायितं) - स्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करना दोष है।

शंका - 'स्वाध्याय करूंगा' इत्यादि व्रत प्रत्याख्यान लिए बिना काल में स्वाध्याय न किया हो, स्वाध्याय में स्वाध्याय न किया हो आदि अतिचार लगते ही नहीं तब उनका प्रतिक्रमण क्यों किया जाए?

समाधान - प्रतिक्रमण केवल अतिचार शुद्धि के लिए नहीं वरन् अतिचारों के ज्ञान, उनके संबंध में शुद्ध श्रद्धा, उन्हें टालने की भावना आदि के लिए किया जाता है जैसे - 'मैं चोरी नहीं करूंगा' - इस व्रत को लेने पर जैसे चोरी करने से पाप लगता है वैसे ही चोरी का व्रत न लेने वाले को चोरी करने पर पाप लगता ही है - भले ही वह व्रत के अतिचार रूप में न लगे, वह पाप से मुक्त नहीं रहता। अतः व्रतधारी और अव्रती दोनों को चोरी के पाप का प्रतिक्रमण आवश्यक है, वैसे ही स्वाध्याय आदि का नियम न लेने वाले को भी काल स्वाध्याय आदि न करने का प्रतिक्रमण करना ही चाहिये क्योंकि उसे भी काल-स्वाध्याय न करने आदि का पाप लगता ही है।

॥ सामायिक नामक प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चउवीसत्थवं णामं बीयं अज्झयणं

चतुर्विंशतिस्तव नामक द्वितीय अध्ययन

उत्थानिका - प्रथम सामायिक अध्ययन के बाद दूसरा अध्ययन है - चतुर्विंशतिस्तव। सावद्य योग से विरति सामायिक है। सावद्य योग से निवृत्ति प्राप्त करने के लिये-जीवन को राग-द्वेष रहित - समभाव युक्त विशुद्ध बनाने के लिए साधक को सर्वोत्कृष्ट जीवन वाले महापुरुषों के आलम्बन की आवश्यकता रहती है। चौबीस तीर्थंकर - जो रागद्वेष रहित समभाव में स्थित वीतराग पुरुष हैं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, त्याग वैराग्य और संयम साधना के महान् आदर्श हैं, उनकी स्तुति करना, उनके गुणों का कीर्तन करना 'चतुर्विंशतिस्तव' कहलाता है।

तीर्थंकर, वीतराग देवों की स्तुति करने से साधक को महान् आध्यात्मिक बल और आदर्श जीवन की प्रेरणा मिलती है। अहंकार का नाश होता है। गुणों के प्रति अनुराग बढ़ता है और साधना का मार्ग प्रशस्त बनता है। शुभ भावों से दर्शन विशुद्धि होती है और दर्शन विशुद्धि से आत्मा कर्म मल से रहित होकर शुद्ध निर्मल हो जाती है - परमात्म पद को प्राप्त कर लेती है और वीतराग प्रभु के समान बन जाती है।

चतुर्विंशतिस्तव के फल के लिये उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९ में गौतमस्वामी ने प्रभु से पृच्छा की है -

चउव्वीसत्थएणं, भंते! जीवे किं जणयइ?

हे भगवन्! चतुर्विंशतिस्तव से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है?

प्रभु फरमाते हैं -

चउवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।

हे गौतम! चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन-विशुद्धि होती है।

समभाव में स्थित आत्मा ही वीतराग प्रभु के गुणों को जान सकती है उनकी प्रशंसा कर सकती है अर्थात् जब सामायिक की प्राप्ति हो जाती है तब ही भावपूर्वक तीर्थंकरों की स्तुति की जा सकती है अतएव सामायिक अध्ययन के बाद दूसरा चतुर्विंशतिस्तव अध्ययन रखा गया है।

प्रथम अध्ययन में सावद्य योग की निवृत्ति रूप सामायिक का निरूपण करके सूत्रकार अब चतुर्विंशतिस्तव रूप इस द्वितीय अध्ययन में समस्त सावद्ययोगों की निवृत्ति के उपदेशक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होने से समकित की विशुद्धि तथा जन्मान्तर में भी बोधिलाभ और संपूर्ण कर्मों के नाश के कारण होने से परम उपकारी तीर्थंकर भगवंतों का लोगस्स के पाठ से गुणकीर्त्तन करते हैं।

चतुर्विंशतिस्तव सूत्र (लोगस्स का पाठ)

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरहंते* कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली ॥ १॥
उसभमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीयलसिज्जंस-वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४॥
एवं मए अभित्थुआ* विहुयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५॥
कित्तियवंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्गबोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ ६॥
चंदेसु णिम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७॥

कठिन शब्दार्थ - **लोगस्स** - लोक का, **उज्जोयगरे** - उद्योत करने वाले, **धम्मतित्थयरे**- धर्म रूप तीर्थ की स्थापना करने वाले, **जिणे** - जिन - राग-द्वेष को जीतने वाले, **अरहंते** - अरहंतों (कर्मशत्रुओं का नाश करने वालों) को, **चउवीसंपि** - चौबीस ही, **केवली** - केवलज्ञानियों की, **कित्तइस्सं** - स्तुति करूँगा, **उसभं** - श्री ऋषभदेवस्वामी को, **अजियं** - श्री अजितनाथ को, **च** - और, **वंदे** - वन्दना करता हूँ, **संभवं** - श्री संभवनाथ को, **अभिणंदणं** - श्री अभिनन्दन स्वामी को, **सुमइं** - श्री सुमतिनाथ को, **पउमप्पहं** - श्री

पाठान्तर - * अरिहंते * अभिथुआ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पद्मप्रभ स्वामी को, **सुपासं** - श्री सुपार्श्वनाथ को, **चंदप्पहं** - श्री चन्द्रप्रभ स्वामी को, **जिणं** - जिनेश्वर को, **सुविहिं** - श्री सुविधिनाथ को, **पुप्फदंतं** - श्री पुष्पदंत (सुविधिनाथ का दूसरा नाम) स्वामी को **सीयल** - श्री शीतलनाथ को, **सिज्जंस** - श्री श्रेयांसनाथ को, **वासुपुज्जं** - श्री वासुपूज्य स्वामी को, **विमलं** - श्री विमलनाथ को, **अणंतं** - श्री अनन्तनाथ को, **धम्मं** - श्री धर्मनाथ को, **संतिं** - श्री शान्तिनाथ को, **कुंथुं** - श्री कुन्थुनाथ को, **अरं** - श्री अरनाथ को, **मल्लिं** - श्री मल्लिनाथ को, **मुणिसुव्वयं** - श्री मुनिसुव्रत स्वामी को, **नमिजिणं** - श्री नमिनाथ जिनेश्वर को, **रिट्ठनेमिं** - श्री अरिष्टनेमि (श्री नेमिनाथ) स्वामी को, **पासं** - श्री पार्श्वनाथ को, **वद्धमाणं** - श्री वर्द्धमान (महावीर) स्वामी को, **एवं** - इस प्रकार, **मए** - मेरे द्वारा, **अभित्थुआ** - स्तुति किये हुए, **विहुयरयमला** - पाप रज के मल से रहित, **पहीणजरमरणा** - जरा (बुढापा) तथा मरण से मुक्त, **तित्थयरा** - तीर्थंकर, **मे** - मुझ पर, **पसीयंतु** - प्रसन्न हों, **कित्तिय** - कीर्तित - कीर्तन किये हुए, **वंदिय** - वन्दना किये हुए, **महिया** - पूजन किये हुए, **जे** - जो, **उत्तमा** - उत्तम, **सिद्धा** - सिद्ध भगवान् हैं, **ए** - वे, **आरुग्ग** - आरोग्य - सिद्धत्व अर्थात् आत्म शांति, **बोहिलाभं** - धर्म प्राप्ति का लाभ, **समाहिवरमुत्तमं** - सर्वोत्कृष्ट समाधि को, **दिंतु** - देवें, **चंदेसु** - चन्द्रमाओं से भी, **णिम्मलयरा** - विशेष निर्मल, **आइच्चेसु** - सूर्यों से भी, **अहियं** - अधिक, **पयासयरा** - प्रकाश करने वाले, **सागरवर** - सागर के समान **गंभीर** - गम्भीर, **सिद्धा** - सिद्ध भगवान्, **सिद्धिं** - सिद्धि (मुक्ति), **मम** - मुझ को, **दिसंतु** - देवें।

भावार्थ - सम्पूर्ण लोक में धर्म का उद्योत करने वाले, धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले, रागद्वेष आदि अन्तरंग शत्रुओं को जीतने वाले केवलज्ञानी चौबीस तीर्थंकरों की मैं स्तुति करूँगा। श्री ऋषभदेवजी, अजितनाथजी, संभवनाथजी, अभिनन्दनजी, सुमतिनाथजी, पद्मप्रभजी, सुपार्श्वनाथजी, चन्द्रप्रभजी, सुविधिनाथजी, शीतलनाथजी, श्रेयांसनाथजी, वासुपूज्यजी, विमलनाथजी, अनन्तनाथजी, धर्मनाथजी, शान्तिनाथजी, कुन्थुनाथजी, अरनाथजी, मल्लिनाथजी, मुनिसुव्रतजी, नमिनाथजी, अरिष्टनेमिजी (नेमिनाथजी), पार्श्वनाथजी और महावीर स्वामी जी। इन चौबीस जिनेश्वरों की मैं वंदना नमस्कार करता हूँ। जिनकी मैंने स्तुति की हैं, जो कर्म-रूप मल से रहित हैं, जो जरा और मरण से मुक्त हैं और धर्मतीर्थ के प्रवर्तक हैं, वे चौबीसों जिनेश्वर देव मुझ पर प्रसन्न होवें। जिनका वाणी से कीर्तन, वन्दन और भाव-पूजन किया गया है, जो सम्पूर्ण लोक में उत्तम हैं वे सिद्ध (तीर्थंकर) भगवान् मुझे आरोग्य-सिद्धत्व अर्थात् आत्मशांति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यग्दर्शनादि का पूर्णलाभ तथा सर्वोत्कृष्ट समाधि प्रदान करे। जो चन्द्रमाओं से भी विशेष निर्मल हैं, सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान हैं और जो स्वयंभूरमण जैसे महासमुद्र के समान गंभीर हैं, ऐसे सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि (मुक्ति) देवें।

विवेचन - प्रस्तुत पाठ में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है इसीलिये इसे 'चतुर्विंशतिस्तव का पाठ' कहते हैं। ये चौबीस ही तीर्थंकर हमारे परम आराध्य है। वे हमारी श्रद्धा के केन्द्र हैं। अतः उनकी स्तुति करने से हमें भी श्रद्धेय के समान बनने की प्रेरणा मिलती है। इसलिए ये हमारे जीवन को उच्च बनाने में आलंबनभूत हैं।

लोगस्स के पाठ में अवसर्पिणी काल के २४ तीर्थंकरों का नाम स्मरण किया गया है। **चउवीसंपि** में **'अपि'** शब्द से महाविदेह क्षेत्र के विहरमान तीर्थंकरों का भी ग्रहण हो जाता है।

महापुरुषों के गुण स्मरण से होने वाले लाभ इस प्रकार हैं -

१. महापुरुषों का स्मरण हमारे हृदय को पवित्र बनाता है।

२. वासनाओं की अशांति को दूर कर अखंड आत्मशांति का आनंद देता है।

३. प्रभु का मंगलमय पवित्र नाम अंतरात्मा में ज्ञान का प्रकाश फैलाता है।

४. मनुष्य जैसी श्रद्धा करता है, जैसा ध्यान संकल्प और चिंतन करता है वैसा ही बन जाता है अतः महापुरुषों का नाम लेने से अन्य सभी विषयों से हमारा ध्यान हट जायेगा और हमारी बुद्धि महापुरुष विषयक बन जायेगी।

५. महापुरुषों का नाम स्मरण आत्मा से परमात्मा बनने का पथ है, जीवन को सरस, सुंदर और सबल बनाने का प्रबल साधन है।

प्रस्तुत सूत्र में आये कुछ विशिष्ट शब्दों के विशेष अर्थ इस प्रकार हैं -

धम्मतित्थयरे (धर्म तीर्थंकर) - इसमें दो शब्द हैं - धर्म और तीर्थंकर। धर्म शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है -

दुर्गतौ प्रपततः जीवान् यस्माद् धारयते ततः।
धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्मादधर्म इति स्मृतः॥

अर्थात् - दुर्गति में पड़ते हुए जीवों को दुर्गति से बचा कर सद्गति में पहुँचावे, उसे धर्म कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थ शब्द का अर्थ इस प्रकार है - **'तीर्यतेऽनेन इति तीर्थम्'** अर्थात् जिसके द्वारा संसार समुद्र से तिरा जाय, उसे तीर्थ कहते हैं। तीर्थ के चार भेद हैं - १. साधु २. साध्वी ३. श्रावक और ४. श्राविका। संसार समुद्र से तिराने वाला, दुर्गति से उद्धार करने वाला और सद्गति में पहुँचाने वाला एक धर्म है। अहिंसा, सत्य आदि धर्म को धारण करने वाले साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका होते हैं। ऐसे तीर्थ की स्थापना करने वालों को 'तीर्थंकर' कहते हैं।

जिणे (जिन) - जिन का अर्थ है - **'राग-द्वेष कषायेन्द्रिय परिषहोपसर्गाष्ट प्रकार कर्म जेतृत्वाज्जिनाः'** अर्थात् राग-द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परीषह, उपसर्ग अष्टविध कर्म को जो जीतता है, उसे जिन कहते हैं।

कित्तिय - कीर्त्तित - वाणी द्वारा स्तुति करना कीर्तन कहलाता है।

वंदिय - वन्दित - काया से स्तुत। शरीर द्वारा पंचांग नमस्कार करना वंदन कहलाता है।

महिया - महित - मन से भाव पूजा करना। पूजा दो प्रकार की है - द्रव्य पूजा और भाव पूजा। शरीर और वचन को बाह्य विषयों से रोक कर प्रभु वंदना में नियुक्त करना द्रव्य पूजा है तथा मन, वचन, काया को बाह्य भोगासक्ति से हटा कर प्रभु के चरणों में अर्पण करना भाव पूजा है। भाव पूजा भाव पुष्पों से की जाती है। भाव पुष्प ये हैं -

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसंगता।
गुरु भक्तिस्तपो ज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥१॥ - आचार्य हरिभद्र

अर्थात् - अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, गुरुभक्ति, तपस्या और ज्ञान, ये श्रेष्ठ भाव पूजा के पुष्प कहलाते हैं।

कोई कोई 'महित' का अर्थ पुष्प आदि से पूजित करते हैं जो सर्वथा असंगत है क्योंकि पुष्पादि सावद्य द्रव्यों से की हुई पूजा हिंसा प्रधान होने के कारण वीतरागियों की नहीं हो सकती और आगम में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं है।

आरुग्ग-बोहिलाभं - आरुग्ग अर्थात् आरोग्य - आत्म स्वास्थ्य या आत्म शांति। आरोग्य दो प्रकार का होता है - १. द्रव्य आरोग्य - ज्वर आदि रोगों से रहित होना और २. भाव आरोग्य - कर्म विकारों से रहित होना। यहां आरोग्य का अभिप्राय भाव आरोग्य से है। अतः **आरुग्ग बोहिलाभं** का अर्थ है - आरोग्य अर्थात् मोक्ष के लिए बोधि-सम्यग् दर्शन आदि का लाभ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाहिवरमुत्तमं - सर्वोत्कृष्ट समाधि को। समाधि का सामान्य अर्थ है - चित्त की एकाग्रता। यह समाधि मनुष्य का अभ्युदय करती है, अंतरात्मा को पवित्र बनाती है एवं सुख, दुःख तथा हर्ष, शोक आदि के प्रसंगों में शांत तथा स्थिर रखती है। सर्वोत्कृष्ट समाधि दशा पर पहुंचने पर आत्मा का पतन नहीं होता।

चंदेसु णिम्मलयरा - चन्द्रों से निर्मल। तीर्थंकर चन्द्रों से भी अधिक निर्मल है क्योंकि चन्द्रमा में तो कुछ कलंक दिखता है परंतु तीर्थंकर भगवान् ने चार घाती रूप कर्म कलंक का नाश कर दिया है अतः वे चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल कहे गये हैं। अर्हन्त प्रभु अपने निर्मल ज्ञान से सभी में निर्मल आत्मिक शांति प्रदान करते हैं। उनकी वाणी विषय कषाय रूपी संताप का हरण कर एकांत शांति - शीतलता प्रदान करती है।

आइच्चेसु अहियं पयासयरा - सूर्यों से भी अधिक प्रकाश करने वाले। तीर्थंकर, सूर्यों से भी अधिक प्रकाश करने वाले है क्योंकि सूर्य सीमित क्षेत्र को प्रकाशित करता है परंतु तीर्थंकर भगवान् केवलज्ञान रूप प्रदीप से संपूर्ण क्षेत्र-लोक को प्रकाशित करते हैं अतः तीर्थंकर सूर्यों से भी अधिक प्रकाश करने वाले हैं।

सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु - सिद्ध भगवान् मुझे सिद्धि प्रदान करें।

शंका - सिद्ध भगवान् तो वीतराग है, कृतकृत्य है, किसी को कुछ देते-लेते नहीं फिर उनसे इस प्रकार की याचना क्यों की गई है?

समाधान - प्रभु वीतरागी हैं वे किसी पर राग और द्वेष नहीं करते परंतु प्रभु चरणों में प्रार्थना करना भक्त का कर्त्तव्य है, ऐसा करने से अहंकार का नाश होता है, हृदय में श्रद्धा का बल जागृत होता है और भगवान् के प्रति अपूर्व सम्मान प्रदर्शित होता है।

सिद्ध, मुझे सिद्धि प्रदान करें - यह लाक्षणिक भाषा है। इसका यहां आशय है कि - सिद्ध भगवान् के आलंबन से मुझे सिद्धि प्राप्त हो। जैसे चिंतामणी रत्न से वांछित फल की प्राप्ति होती है वैसे ही सिद्धों का ध्यान करने से, गुण स्मरण करने से चित्त शुद्धि द्वारा अभिलषित फल की प्राप्ति होती है।

॥ चतुर्विंशतिस्तव नामक दूसरा अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वंदणं णामं तइयं अज्झयणं

वंदना नामक तृतीय अध्ययन

उत्थानिका - चतुर्विंशतिस्तव नामक दूसरे अध्ययन में तीर्थंकर देवों की स्तुति की गयी है। देव के बाद दूसरा स्थान गुरु का ही है। तीर्थंकर भगवंतों द्वारा प्ररूपित धर्म का उपदेश निर्ग्रन्थ मुनिराज ही देते हैं अतः तीसरे अध्ययन में गुरुदेव को वंदन किया जाता है।

मन, वचन, काया का वह शुभ व्यापार जिसके द्वारा गुरुदेव के प्रति भक्ति और बहुमान प्रकट किया जाता हैं, 'वंदन' कहलाता है।

जो साधु द्रव्य और भाव से चारित्र संपन्न है। जिनेश्वर भगवान् के बताए हुए मार्ग पर चलते हुए जिन प्रवचन का उपदेश देते हैं वे ही सुगुरु हैं। आध्यात्मिक साधना में सदैव रत रहने वाले त्यागी-वैरागी शुद्धाचारी संयमनिष्ठ सुसाधु ही वंदनीय पूजनीय होते हैं। ऐसे सुसाधु-गुरु भगवंतों को भावयुक्त उपयोग पूर्वक निःस्वार्थ भाव से किया हुआ वंदन कर्म निर्जरा और अंत में मोक्ष का कारण बनता है। इसके विपरीत भाव चारित्र से हीन द्रव्यलिंगी-कुसाधु अवंदनीय होते हैं। संयमभ्रष्ट वेशधारी कुसाधुओं को वंदन करने से कर्मनिर्जरा नहीं होती अपितु कर्मबंधन का कारण बनता है।

सुगुरुओं को यथाविधि वंदन करने से विनय की प्राप्ति होती है। अहंकार का नाश होता है। वंदनीय में रहे हुए गुणों के प्रति आदरभाव होता है। तीर्थंकर भगवंतों की आज्ञा का पालन होता है। वंदना करने का मूल उद्देश्य ही नम्रता प्राप्त करना है। नम्रता अर्थात् विनय ही जिनशासन का मूल है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन २९ में गौतमस्वामी भगवान् महावीर प्रभु से पूछते हैं कि -

वंदणएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

हे भगवन्! वंदना करने से आत्मा को क्या लाभ होता है?

उत्तर में भगवान् महावीर स्वामी फरमाते हैं कि

"वंदणएणं णीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्मं णिबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं णिव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् - वंदना करने से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्र का बंध करता है। सुभग, सुस्वर आदि सौभाग्य की प्राप्ति होती है सभी उसकी आज्ञा स्वीकार करते हैं और वह दाक्षिण्यभाव-कुशलता एवं सर्वप्रियता को प्राप्त करता है।

जो व्यक्ति अपने इष्ट देव - तीर्थंकर भगवंतों की स्तुति करता है, गुण स्मरण करता है, वही तीर्थंकर भगवान् के बताए हुए मार्ग पर चलने वाले, जिनवाणी का उपदेश देने वाले गुरुओं को यथाविधि भक्तिभाव पूर्वक वंदन-नमस्कार कर सकता है अत एव चतुर्विंशतिस्तव के बाद वंदना अध्ययन को स्थान दिया गया है।

द्वादशावर्त गुरु-वंदन सूत्र

(इच्छामि खमासमणो का पाठ)

इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए ! अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीही, अहो-कायं कायसंफासं खमणिज्जो भे! किलामो, अप्पकिलंताणं बहुसुभेणं भे दिवसो वइक्कंतो?○ जत्ता भे? जवणिज्जं च भे? खामेमि खमासमणो ! देवसियं वइक्कमं ❀ आवस्सियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसियाए आसायणाए● तित्तीसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए, कोहाए, माणाए, मायाए, लोहाए, सव्वकालियाए, सव्वमिच्छोवयाराए, सव्वधम्माइक्कमणाए, आसायणाए, जो

○ "**दिवसो वइक्कंतो**" के स्थान पर रात्रिक प्रतिक्रमण में "**राइ वइक्कंता**", पाक्षिक प्रतिक्रमण में "**दिवसो पक्खो वइक्कंतो**", चौमासी प्रतिक्रमण में "**चउम्मासो वइक्कंतो**" एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में "**संवच्छरो वइक्कंतो**" पाठ बोलना चाहिए ।

❀ "**देवसियं वइक्कमं**" के स्थान पर रात्रिक प्रतिक्रमण में "**राइयं वइक्कमं**", पाक्षिक प्रतिक्रमण में "**देवसियं पक्खियं वइक्कमं**", चौमासी प्रतिक्रमण में "**चउम्मासियं वइक्कमं**" और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में "**संवच्छरियं वइक्कमं**" - ऐसा पाठ बोलना चाहिये।

● "**देवसियाए आसायणाए**" के स्थान पर रात्रिक प्रतिक्रमण में "**राइयाए आसायणाए**", पाक्षिक प्रतिक्रमण में "**देवसियाए पक्खियाए आसायणाए**", चौमासी प्रतिक्रमण में "**चउम्मासियाए आसायणाए**" और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में "**संवच्छरियाए आसायणाए**" पाठ बोलना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मे देवसिओ अइयारो☆ कओ, तस्स खमासमणो! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।

कठिन शब्दार्थ - **खमासमणो** - हे क्षमाश्रमण!, **वंदिउं** - वंदना करना, **जावणिज्जाए**- शक्ति के अनुसार, **निसीहियाए** - पाप क्रिया से निवृत्त हुए शरीर से, **अणुजाणह** - आज्ञा दीजिये, **मे** - मुझ को, **मिउग्गहं** - परिमित भूमि में प्रवेश करने की, **निसीहि** - पाप क्रिया को रोक कर, **अहो कायं** - आपके चरणों का, **काय संफासं** - मस्तक और हाथ से स्पर्श करता हूँ, **खमणिज्जो** - क्षमा के योग्य है, **भे** - आपको, **किलामो** - किलामना बाधा, **अप्पकिलंताणं** - ग्लानि वाले, **बहुसुभेणं** - बहुत सुख पूर्वक, **दिवसो** - दिन, **वइक्कंतो**- बीता, **जत्ता** - संयम यात्रा, **जवणिज्जं** - मन तथा इन्द्रियाँ पीड़ा रहित है, **खामेमि** - खमाता हूँ, **वइक्कमं** - अपराध को, **आवस्सियाए** - आवश्यक क्रिया में हुए विपरीत अनुष्ठान से, **पडिक्कमामि** - निवृत्त होता हूँ, प्रतिक्रमण करता हूँ, **तित्तीसन्नयराए** - तेतीस में से किसी भी, **आसायणाए** - आशातना के द्वारा, **जं किंचि** - जिस किसी भी, **मिच्छाए** - मिथ्याभाव से की हुई, **मणदुक्कडाए** - दुष्ट मन से, **वयदुक्कडाए** - दुष्ट वचन से की हुई, **कायदुक्कडाए** - शरीर की कुचेष्ठाओं से की हुई, **कोहाए** - क्रोध से, **माणाए** - मान से, **मायाए** - माया से, **लोहाए** - लोभ से की हुई, **सव्वकालियाए** - सर्वकाल में की हुई, **सव्व मिच्छोवयाराए** - सर्व मिथ्या आचरणों से पूर्ण, **सव्वधम्माइक्कमणाए** - सब धर्मों का उल्लंघन करने वाली।

भावार्थ - हे क्षमाश्रमण गुरुदेव! मैं शरीर को पाप क्रिया से निवृत्त कर यथा शक्ति आपको वंदना करना चाहता हूँ। अतः मुझ को अवग्रह-परिमित भूमि में प्रवेश करने की आज्ञा दीजिये। मैं पापक्रिया से हट कर अपने मस्तक तथा दोनों हाथों से आपके चरणों को स्पर्श करता हूँ। मेरे चरण-स्पर्श करने से आपको जो कुछ भी बाधा हुई हो, उसके लिए मुझे क्षमा कीजिए। ग्लानि रहित आपका यह दिन बहुत आनंद से बीता? आपकी संयम-यात्रा निर्बाध है? आपका शरीर मन तथा इन्द्रियाँ पीड़ा रहित स्वस्थ है? हे क्षमाश्रमण! मुझ से दिन भर में जो भी अपराध हुआ हो उसके लिए मैं क्षमा याचना करता हूँ। आवश्यक क्रिया करते समय जो भी विपरीत आचरण हुआ हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ। हे क्षमा श्रमण! जिस

☆ "**देवसिओ अइयारो**" के स्थान पर रात्रिक प्रतिक्रमण में "**राइओ अइयारो**", पाक्षिक प्रतिक्रमण में "**देवसिओ पक्खिओ अइयारो**", चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में "**चाउम्मासिओ अइयारो**", सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में "**संवच्छरिओ अइयारो**" पाठ बोलना चाहिये ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किसी भी मिथ्या भाव से, मन से, दुष्ट विचार से, दुर्वचन से, शरीर की दुष्ट चेष्टाओं से क्रोध, मान, माया, लोभ से सर्व काल में की हुई सब मिथ्या आचरणों से पूर्ण क्षमादि सभी धर्मों का अतिक्रमण करने वाली ३३ आशातनाओं में से दिवस संबंधी किसी भी आशातना से मुझे जो कोई अतिचार दोष लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ, निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, इस प्रकार पाप-व्यापारों से आत्मा को अलग करता हूँ।

विवेचन - वंदना का तीन भेद हैं - १. सामान्य (जघन्य, लघु) वंदना २. मध्यम वंदना और ३. उत्कृष्ट वंदना।

१. सामान्य वंदना - जब गुरु महाराज या संत-सतियाँ विहार करके पधार रहे हो अथवा गोचरी या स्थंडिल भूमिका जा रहे हो अथवा आ रहे हो अर्थात् मार्ग में चल रहे हों तब सिर्फ **'मत्थएण वंदामि'** कह कर ही वंदन करना चाहिए। इसको सामान्य वंदना कहते हैं।

२. मध्यम वंदना - जब गुरुदेव यथास्थान विराजे हुए हों तब **'तिक्खुत्तो'** का पाठ पूरा बोल कर वंदना करनी चाहिए। इसको मध्यम वंदना कहते हैं।

३. उत्कृष्ट वंदना - **'इच्छामि खमासमणो'** का पाठ बोल कर जो वंदना की जाती है उसको उत्कृष्ट वंदना कहते हैं।

गुरु वंदना पूर्वक ही प्रतिक्रमण करने का शिष्टाचार होने से इस तृतीय अध्ययन में उत्कृष्ट गुरु वंदना का पाठ दिया है। द्वादशावर्त्त वंदन, उत्कृष्ट वंदन है।

समवायांग सूत्र के बारहवें समवाय अनुसार द्वादशावर्त्त - गुरु वन्दन सूत्र (खमासमणो का पाठ) की बारह आवर्त्त सहित पच्चीस आवश्यक की विधि इस प्रकार है -

खमासमणो (द्वादशावर्त्त वंदन) विधि

गुरु महाराज को वन्दन करने के लिये तथा उनके प्रति हुई आशातना की क्षमा याचना के लिये द्वादशावर्त्त गुरु वन्दन सूत्र बोला जाता है। इसका दूसरा नाम कृतिकर्म भी है। जिसका वर्णन समवायांग सूत्र के बारहवें समवाय में है। इसमें बारह आवर्त्तन युक्त पच्चीस आवश्यक होते हैं। गाथा इस प्रकार है -

दुओणयं जहाजायं, किइकम्मं बारसावयं।
चउसिरं तिगुत्तं च, दुपवेसं एग णिक्खमणं॥

अर्थ - दो अवनत (झुकना), एक यथाजात, बारह आवर्त्त, चार मस्तक, तीन गुप्तियाँ,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दो प्रवेश, एक निष्क्रमण, इस प्रकार खमासमणो के ये पच्चीस आवश्यक (प्रकार) होते हैं । पच्चीस आवश्यक युक्त विधि इस प्रकार है -

खड़े होकर दोनों हाथ जोड़कर 'इच्छामि खमासमणो' का पाठ प्रारम्भ करें । **'अणुजाणह मे मिउग्गहं'** शब्द आवे उस समय कुछ आगे झुककर मस्तक नमाना (यह पहला अवनत हुआ) चाहिये फिर **'निसीहि'** शब्द बोलते हुए उत्कुटुक (यथाजात) आसन से बैठें। (यह गुरु महाराज के अवग्रह में पहला प्रवेश हुआ।) दोनों कोहनियों को घुटने के बीच में रखे, अंजलि-बद्ध दोनों हाथ मस्तक पर रख कर सिर झुकाते हुए निम्नानुसार आवर्त्तन ✡ करें। दोनों हाथों से सिरसावर्त्त करने को आवर्त्तन कहते हैं । **'अ'** बोलकर अंजलि को दायें हाथ की तरफ से मस्तक की तरफ घुमाकर बायें हाथ की तरफ लावें बाद में मस्तक पर अंजलि लगाते हुए **'हो'** ऐसा बोले। इस प्रकार प्रथम आवर्त्तन हुआ। इस प्रकार अन्य आवर्त्तन भी करें। प्रथम के तीन आवर्त्तन **'अहो' 'कायं' 'काय'** इस प्रकार दो दो अक्षरों का उच्चारण करने से होता है। इसके बाद **'संफासं'** बोलते हुए गुरु चरणों के स्पर्श के प्रतीक के रूप में दोनों हाथों से या मस्तक से जमीन का स्पर्श करना चाहिये । (यह **'चउसिरं'** में से पहला शिर हुआ)पश्चात् दोनों हाथों को जोड़कर मस्तक पर लगाते हुए **'खमणिज्जो'** से लेकर **'दिवसो वइक्कंतो'** तक का पाठ बोले। तत्पश्चात् **'ज' 'त्ता' 'भे', 'ज' 'व' 'णि', 'ज्जं' 'च' 'भे'** इस प्रकार तीन-तीन अक्षरों का उच्चारण करते हुए तीन आवर्त्तन करें । उसके बाद **'खामेमि खमासमणो'** बोलते हुए गुरु चरणों के स्पर्श के प्रतीक के रूप में दोनों हाथों से या मस्तक से जमीन का स्पर्श करना चाहिए (यह द्वितीय शिर हुआ)। इसके बाद दोनों हाथों को जोडकर मस्तक पर लगाकर 'खामेमि' से **'वइक्कमं'** तक पाठ बोलें और **'आवस्सियाए पडिक्कमामि'** बोलता हुआ खड़ा होवें। (यह एक निष्क्रमण हुआ) और शेष पाठ (**'पडिक्कमामि'** से **'अप्पाणं वोसिरामि'** तक) पूरा करें। (इस प्रकार प्रथम खमासमणो में एक अवनत, एक प्रवेश, यथाजात, छह आवर्त्तन, दो शिर, एक निष्क्रमण और तीन गुप्तियां हुई) इसी प्रकार दूसरी बार 'इच्छामि खमासमणो' की विधि करनी चाहिये किन्तु इसमें **'आवस्सियाए पडिक्कमामि'** ये दस अक्षर नहीं कहें तथा यहां पर खड़े न होकर बैठे-बैठे गुरु के अवग्रह में ही पूरा पाठ समाप्त करें। (इस प्रकार दूसरे खमासमणो में एक अवनत, एक प्रवेश, छह आवर्त्तन, दो शिर

✡ पूज्य श्री घासीलालजी म. सा. ने भी आवश्यक की टीका में आवर्त्तन की यही विधि दी है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं तथा 'यथाजात' व तीन गुप्तियां दोनों खमासमणो में समुच्चय होती हैं। दोनों खमासमणो में मिलाकर ये पच्चीस आवश्यक होते हैं।)

आवश्यक निर्युक्ति में इस विषय को पूर्ण स्पष्ट किया गया है और कहा गया है कि पच्चीस आवश्यक से परिशुद्ध वन्दनकर्त्ता शीघ्र ही परिनिर्वाण प्राप्त करता है या वैमानिक देव होता है।

इच्छामि खमासमणो के पाठ से की जाने वाली वंदना, शब्द और क्रिया दोनों से बढ़ कर है इसलिये भी इसे उत्कृष्ट वंदना कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में आये कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं -

इच्छामि - खमासमणो देने की विधि हृदय की स्वतंत्र भावना है बलात् नहीं। यह **इच्छामि** शब्द का अर्थ है। अथवा मेरी वंदना करने की इच्छा है। आप उचित समझें तो आज्ञा दीजिए। **'वंदिउं - एत्थं वंदितुमित्यावेदनेन अप्पच्छंदता परिहरिता।'**

अर्थात् - यहाँ पर इस प्रकार के निवेदन के द्वारा आत्म छंद अर्थात् स्वयं की स्वच्छंदता का परिहार किया गया है।

खमासमणो (क्षमाश्रमण) - क्षमादि गुणों से प्रधान श्रमण - क्षमा-श्रमण। अतः इस शब्द के द्वारा शिष्य अपराधों के प्रति क्षमा दान प्राप्त करने की भावना व्यक्त करता है।

यापनीय - संस्कृत में **'या प्रापणे'** धातु है, जिसके अनीथ प्रत्यय लग कर यापनीय शब्द बना है। जिसका अर्थ निर्वाह योग्य होता है। अतः यापनीय कहने का अभिप्राय यह है कि मैं अपने पवित्र भाव से वंदन करता हूँ मेरा शरीर वंदन करने की सामर्थ्य रखता है अतः किसी दबाव से गिरी पड़ी हालत में वंदन करने नहीं आया हूँ अपितु वंदना की भावना से उत्फुल्ल एवं रोमांचित हुए सशक्त शरीर से वंदना के लिए तैयार हुआ है। जिसका अर्थ यहाँ पर यह है कि स्वस्थ मन और पाँचों इन्द्रियों सहित धर्म कार्य करने में समर्थ शरीर।

निसीहियाए (नैषेधिकी) - मूल शब्द **निसीहिया** है इसका संस्कृत रूप नैषेधिकी होता है। प्राणातिपातादि से निवृत्त बने हुए शरीर को नैषैधिकी कहते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं - **निषेधनं - निषेधः निषेधन निर्वृत्ता नैषधिकी प्राकृत शैल्या छांदसत्वाद् नैषेधिकेत्युच्यते....नैषेधिक्या प्राणातिपातादि निवृत्तया तन्वा शरीरेणेत्यर्थः।**

आचार्य जिनदास नैषेधिकी के शरीर, वसति स्थान और स्थण्डिलभूमि - इस तरह तीन अर्थ करते हैं। मूलतः नैषेधिकी शब्द आलय स्थान का वाचक है। शरीर भी जीव का आलय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। अत: वह भी नैषेधिकी कहलाता है। इतना ही नहीं निषिद्ध आचरण से निवृत्त शरीर की क्रिया भी नैषेधिकी कहलाती है अथवा निषेध का अर्थ त्याग है। मानव शरीर त्याग के लिए ही है। अत: वह नैषेधिकी कहलाता है। अथवा जीव हिंसादि पापाचरणों का निषेध-निवृत्ति करना ही, जिसका प्रयोजन है वह शरीर नैषेधिकी कहलाता है। यापनीय, नैषेधिकी का विशेषण है, जिसका अर्थ है - शारीरिक शक्ति। अत: **'जावणिज्जाए'** का अर्थ होता है कि - मैं अपनी शक्ति से त्याग प्रधान नैषेधिकी शरीर से वंदन करना चाहता हूँ।

मिउग्गहं - मितावग्रह का अर्थ आचार्य हरिभद्रसूरि इस प्रकार करते हैं - **'चतुर्दिशमिहाचार्यस्य आत्मप्रमाणं क्षेत्रमवग्रहः। तमनुज्ञा विहाय प्रवेष्टुं न कल्पते'** अर्थात् आचार्य (गुरुदेव) के चारों दिशाओं में आत्मप्रमाण अर्थात् शरीरप्रमाण साढ़े तीन हाथ का क्षेत्रावग्रह होता है इस अवग्रह में गुरु की आज्ञा बिना प्रवेश करना निषिद्ध है। इसी बात को प्रवचन-सारोद्धार के वंदन द्वार में आचार्य नेमीचन्द्रसूरि स्पष्ट करते हैं -

आयप्पमाणमित्तो, चउदिसिं होई उग्गहो गुरुणो।
अणणुन्नायस्स सया, न कप्पए तत्थ पविसेउं॥१२६॥

अहोकायं (अध:काय) - शरीर का सबसे नीचे का भाग अध:काय है, अत: वे चरण ही हैं।

कायसंफासं (काया संस्पर्श) - काया से अच्छी तरह स्पर्श करना। १. आचार्य जिनदास अर्थ करते हैं - **'अप्पणो काएण हत्थेहिं फुसिस्सामि,** २. आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार - **'कायेन निजदेहेन संस्पर्शः'**। पूरे शरीर से स्पर्श अर्थात् मस्तक के द्वारा स्पर्श करता हूँ। क्योंकि मस्तक शरीर का मुख्य अंग है। यहाँ शरीर से स्पर्श करने का तात्पर्य सारा शरीर समर्पित करता हूँ और उपलक्षण से वचन और मन का भी अर्पण समझ लेना चाहिए।

अप्पकिलंताणं - यहाँ **अप्प**(अल्प) शब्द स्तोकवाची न समझ कर अभाव वाचक समझना चाहिए। अत: अर्थ होगा - ग्लानि रहित-बाधा रहित।

जत्ता (यात्रा) - तप, नियम, संयम, ध्यान, स्वाध्यायादि योग की साधना में यतना-प्रवृत्ति है वही यात्रा है।

जवणिज्जं (यापनीय) - शरीर इन्द्रिय और नोइन्द्रिय (मन) की पीड़ा से रहित है अर्थात् दोनों वश में है।

भगवती सूत्र (सोमिल पृच्छा) में नोइन्द्रिय से तात्पर्य कषायोपशान्ति से है अर्थात् इन्द्रिय (विषय) और कषाय शरीर को बाधा तो नहीं देते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आवस्सियाए - अवश्य करने योग्य। चरणसत्तरि करणसत्तरि रूप श्रमण योग आवश्यक कहे जाते हैं। आवश्यक करते समय प्रमादवश जो रत्नत्रय की विराधना हो जाती है वह आवश्यिकी कहलाती है। अतः **'आवस्सियाए पडिक्कमामि'** का अभिप्राय यह है कि मेरे से आवश्यक योग की साधना करते समय जो भूल हो गई हो, उस आवश्यिकी भूल का प्रतिक्रमण करता हूँ।

किन्हीं के मत से - जैसे आवश्यक कार्य के लिए अपने स्थान से बाहर जाने पर **'आवस्सही' 'आवस्सही'** तीन बार कहा जाता है। उसी प्रकार यहाँ भी खमासमणो में तेतीस आशातनाओं का पहले चिन्तन करने के लिए गुरु के अवग्रह से बाहर निकलना होता है अर्थात् आवश्यक कार्य करने के लिए - **'पडिक्कमामि'** अर्थात् अपने स्थान से पीछे हटता हूँ, आपके अवग्रह से बाहर निकलता हूँ।

कोहाए (क्रोधा) - क्रोधवती आशातना - क्रोध के निमित्त से होने वाली आशातना 'क्रोधा' अर्थात् क्रोधवती कहलाती है।

सव्वकालियाए - आचार्य जिनदास सर्व अतीतकाल ग्रहण करते हैं -

'सव्वकाले भवा सव्वकालिगी - पक्खिया, चातुम्मासिया, संवच्छरिया इह भवे अण्णेसु वा अतीतेसु भवग्गहणेसु सव्वमतीतद्धाकाले।'

आचार्य हरिभद्र त्रिकाल ग्रहण करते हैं - **'अधुनेहभवान्यभवगताऽतीतानागत कालसंग्रहार्थमाह, सर्वकालेन अतीतादिना निर्वृत्ता सर्वकालिकी तया।'**

अर्थात् - भविष्य में गुरुदेव की आज्ञा के लिए किसी भी प्रकार की अवहेलना का भाव रखना, संकल्प करना अनागत आशातना है।

शंका - इच्छामि खमासमणो दो बार क्यों बोला जाता है?

समाधान - जिस प्रकार दूत राजा को नमस्कार कर कार्य निवेदन करता है और राजा से विदा होते समय फिर नमस्कार करता है उसी प्रकार शिष्य कार्य को निवेदन करने के लिये अथवा अपराध की क्षमायाचना करने के लिये गुरु को प्रथम वंदना करता है, खमासमणो देता है और जब गुरु महाराज क्षमा प्रदान कर देते हैं, तब शिष्य वंदना करके दूसरा खमासमणो देकर वापिस लौट जाता है।

द्वादशावर्त्त वंदन की पूरी विधि दो बार इच्छामि खमासमणो बोलने से ही संभव है। अतः पूर्वाचार्यों ने दो बार इच्छामि खमासमणो बोलने की विधि बतलाई है।

॥ वंदना नामक तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पडिक्कमणं णामं चउत्थं अज्झयणं

प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ अध्ययन

तृतीय वंदना अध्ययन के बाद प्रतिक्रमण को रखने का आशय यह है कि जो रागद्वेष से रहित समभावों से गुरुदेवों की स्तुति करने वाले हैं वे ही गुरुदेव की साक्षी से अपने पापों की आलोचना कर सकते हैं, प्रतिक्रमण कर सकते हैं। जो गुरुदेव को वंदन ही नहीं करेगा, वह किस प्रकार गुरुदेव के प्रति बहुमान रखेगा और अपना हृदय स्पष्टतया खोल कर कृत पापों की आलोचना करेगा? जो पाप मन से, वचन से और काया से स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से कराये जाते हैं और दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है, इन सब पापों की निवृत्ति के लिए कृत पापों की आलोचना करना, निंदा करना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण करने से, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में आती है।

प्रतिक्रमण का अर्थ

प्रतिक्रमण में 'प्रति' उपसर्ग है इसका अर्थ विपरीत अथवा प्रतिकूल होता है। क्रमधातु से 'क्रमण' बना है जिसका अर्थ है - गमन करना। भावार्थ यह है कि शुभ योगों से अशुभयोगों में गये हुए आत्मा का पुनः शुभ योगों में आना 'प्रतिक्रमण' कहलाता है।

प्रति उपसर्ग का 'विपरीत' अर्थ करके निम्न व्याख्या की जाती है - 'प्रमाद के कारण स्वस्थान से पर स्थान में (स्वभाव से विभाव में) गयी हुई आत्मा का पुनः स्वस्थान में (स्वभाव में) आना प्रतिक्रमण कहलाता है।' जो आत्मा अपने ज्ञान दर्शनादि रूप स्थान से, प्रमाद के कारण मिथ्यात्व आदि दूसरे स्थानों में चली गयी है उसका मुड़ कर फिर अपने स्थान में आना प्रतिक्रमण है।

प्रति उपसर्ग का दूसरा अर्थ - प्रतिकूल होता है उसके अनुसार क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव के वश में बनी हुई आत्मा को पुनः औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में लौट आना, प्रतिकूल गमन के कारण यह प्रतिक्रमण कहलाता है। राग द्वेषादि औदयिक भाव संसार का मार्ग है और समता, क्षमा, दया, नम्रता आदि क्षायोपशमिक भाव मोक्षमार्ग है।

प्रतिक्रमण की जो परिभाषाएं प्रचलित हैं, वे इस प्रकार है -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१. कृत पापों की आलोचना करना - निंदा करना, प्रतिक्रमण है।

२. व्रत, प्रत्याख्यान आदि में लगे दोषों से निवृत्त होना।

३. अशुभयोग से निवृत्त होकर निःशल्य भाव से शुभ योग में उत्तरोत्तर प्रवृत्त होना, प्रतिक्रमण है।

४. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग से आत्मा को हटा कर फिर से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र में लगाना प्रतिक्रमण कहलाता है।

५. पाप क्षेत्र से वापस आत्म शुद्धि क्षेत्र में लौट आने को प्रतिक्रमण कहते हैं।

प्रतिक्रमण के भेद

सामान्य रूप से प्रतिक्रमण दो प्रकार का है - १. द्रव्य प्रतिक्रमण और २. भाव प्रतिक्रमण।

१. द्रव्य प्रतिक्रमण - द्रव्य प्रतिक्रमण का अर्थ है - अंतरंग उपयोग रहित, केवल परंपरा के आधार पर पुण्य फल की इच्छा रूप प्रतिक्रमण करना अर्थात् अपने दोषों की पाठों से शब्द रूप आलोचना कर लेना और दोष शुद्धि का कुछ भी विचार नहीं करना, द्रव्य प्रतिक्रमण है। लब्धि आदि के निमित्त से किया जाने वाला प्रतिक्रमण भी द्रव्य प्रतिक्रमण ही है।

२. भाव प्रतिक्रमण - भाव प्रतिक्रमण का अर्थ है - अंतरंग उपयोग के साथ, लोक परलोक की चाह रहित, यशकीर्ति सम्मान आदि की अभिलाषा नहीं रखते हुए एक मात्र अपनी आत्मा को कर्ममल से विशुद्ध बनाने के लिये जिनाज्ञा अनुसार किया जाने वाला प्रतिक्रमण भाव प्रतिक्रमण होता है।

प्रमादवश जो अतिचार-दोष या पाप लगा है उस पाप को अकरणीय समझ कर दुबारा जानते हुए कभी नहीं करने का निश्चय करना या उन दोषों का दुबारा सेवन नहीं करना और सदा सावधान रहना, भाव प्रतिक्रमण है।

दोषों का एक बार प्रतिक्रमण करके उसका बार-बार सेवन करते रहना और उनकी शुद्धि के लिये बार-बार प्रतिक्रमण करते रहना यथार्थ प्रतिक्रमण नहीं है। ऐसा करना कुम्हार के बर्तनों को कंकर द्वारा बार-बार फोड़ कर माफी मांगने, मिच्छामि दुक्कडं देने के समान है। भाव प्रतिक्रमण के बिना द्रव्य प्रतिक्रमण से वास्तविक लाभ प्राप्त नहीं होता। भाव

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण से ही कर्म निर्जरा रूप वास्तविक फल की प्राप्ति होती है। अतः द्रव्य प्रतिक्रमण से भाव प्रतिक्रमण की ओर अग्रसर होना चाहिये।

काल के भेद से प्रतिक्रमण तीन प्रकार का कहा गया है -

१. भूतकाल में लगे दोषों की आलोचना करना।

२. वर्तमान काल में लगने वाले दोषों से संवर द्वारा बचना।

३. प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को अवरुद्ध करना।

शंका - प्रतिक्रमण तो भूतकालिक माना जाता है फिर उसे त्रिकाल विषयक कैसे कहा है?

समाधान - प्रतिक्रमण का अर्थ है - अशुभ योगों से निवृत्त होना।

आलोचना निंदा द्वारा भूतकाल संबंधी अशुभयोग से निवृत्ति होती है अतः यह भूतकाल प्रतिक्रमण है। संवर के द्वारा वर्तमान काल में अशुभ योगों से निवृत्ति होती है अतः यह वर्तमान काल का प्रतिक्रमण है और प्रत्याख्यान द्वारा भावी अशुभयोगों की निवृत्ति होती है अतः यह भविष्यकालीन प्रतिक्रमण कहा जाता है। इस तरह प्रतिक्रमण द्वारा तीनों कालों में अशुभयोगों से निवृत्ति होती है। अतः प्रतिक्रमण त्रिकाल के लिये होता है, ऐसा कहने में कोई बाधा नहीं है।

विशेषकाल की अपेक्षा प्रतिक्रमण के पांच भेद इस प्रकार भी किये गये हैं -

१. दैवसिक - प्रतिदिन सायंकाल - सूर्यास्त के समय से लगभग एक मुहूर्त्त तक या अधिकतम सवा घण्टे तक के काल में दिन भर के पापों की आलोचना करना।

२. रात्रिक - रात्रि के अंत में अर्थात् कुछ रात्रि (एक मुहूर्त्त या अधिकतम सवा घण्टे जितनी) शेष रहने पर रात्रि के पापों की आलोचना करना।

३. पाक्षिक - महीने में दो बार - पाक्षिक पर्व के दिन - १५ दिन में लगे हुए पापों की आलोचना करना।

४. चातुर्मासिक - कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा और आषाढ़ी पूर्णिमा को चार महीने में लगे हुए पापों की आलोचना करना।

५. सांवत्सरिक - प्रत्येक वर्ष भाद्रपद शुक्ला पंचमी - संवत्सरी के दिन वर्ष भर के पापों की आलोचना करना।

शंका - प्रतिदिन उभयकाल प्रतिक्रमण करने से दैवसिक और रात्रिक अतिचारों की शुद्धि प्रतिदिन हो जाती है फिर ये पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्यों किए जाते हैं?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान - हम प्रतिदिन अपने घरों में झाड़ू लगाते हैं और कूडा साफ करते हैं चाहे कितनी ही सावधानी से झाड़ू दी जाय फिर भी थोड़ी बहुत धूल रह ही जाती है जो विशिष्ट पर्व - त्यौहार आदि के प्रसंग पर दूर - साफ कर ली जाती है। इसी प्रकार प्रतिदिन उभयकाल प्रतिक्रमण करते हुए भी कुछ भूलों का प्रमार्जन करना बाकी रह ही जाता है, जिसके लिए पाक्षिक प्रतिक्रमण किया जाता है। पाक्षिक प्रतिक्रमण के बाद भी जो भूलें रह जाय उसके लिए चातुर्मासिक प्रतिक्रमण का विधान है। चातुर्मासिक प्रतिक्रमण से भी बची रही हुई अशुद्धि का सांवत्सरिक प्रतिक्रमण से प्रमार्जन किया जाता है।

निम्न पांच प्रकार का प्रतिक्रमण भी प्रकारांतर से कहा गया है -

१. आस्रवद्वार प्रतिक्रमण - आस्रव के द्वारों से निवृत्त होना, पुनः इनका सेवन नहीं करना आस्रवद्वार प्रतिक्रमण✪ है।

२. मिथ्यात्व प्रतिक्रमण - उपयोग अनुपयोग या सहसा कारणवश आत्मा के मिथ्यात्व परिणाम में प्राप्त होने पर उससे निवृत्त होना अर्थात् ज्ञात या अज्ञात रूप में यदि कभी मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया हो, मिथ्यात्व में परिणति की हो तो उसकी आलोचना कर पुनः शुद्ध सम्यक्त्व भाव में उपस्थित होना।

३. कषाय प्रतिक्रमण - क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषाय परिणाम से आत्मा को निवृत्त करना।

४. योग प्रतिक्रमण - मन, वचन, काया के अशुभ व्यापार प्राप्त होने पर उनसे आत्मा को पृथक् करना योग प्रतिक्रमण है।

५. भाव प्रतिक्रमण - आश्रवद्वार, मिथ्यात्व, कषाय और योग प्रतिक्रमण में तीन करण तीन योग से प्रवृत्ति करना अर्थात् मन वचन और काया से मिथ्यात्व, कषाय आदि दुर्भावों में न स्वयं गमन करना, न दूसरों से गमन कराना और न ही गमन करने वालों का अनुमोदन करना, भाव प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण ध्रुव व अध्रुव के भेद से दो प्रकार का है - भरत ऐरवत क्षेत्र में पहले और अंतिम तीर्थंकर के शासनकाल में अपराध हुआ हो या नहीं भी हुआ हो फिर भी उभयकाल अवश्यमेव प्रतिक्रमण करने का विधान होने से 'ध्रुव' कहलाता है अर्थात् प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों के लिये यह स्थित कल्प है।

✪ अविरति और प्रमाद का आस्रवद्वार में समावेश हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महाविदेह क्षेत्र में और इन्हीं भरत और ऐरवत क्षेत्र में मध्य के २२ तीर्थंकरों के शासन काल में कारण उपस्थित हो तब प्रतिक्रमण करने का विधान होने से 'अध्रुव' कहलाता है।

प्रतिक्रमण आवश्यक क्यों है?

प्रमादवश ग्रहण किए हुए व्रतों में अतिचार दोष लगने की संभावना रहती है। जब तक दोषों को दूर नहीं किया जाता तब तक आत्मा शुद्ध नहीं बनती। प्रतिक्रमण के द्वारा दोषों की आलोचना की जाती है, आत्मा को अशुभ भावों से हटा कर शुभ भावों की तरफ ले जाया जाता है। प्रतिक्रमण के माध्यम से ही साधक अपनी भटकी हुई आत्मा को स्थिर करता है। भूलों को ध्यान में लाता है और मन, वचन, काया के पश्चात्ताप की अग्नि में आत्मा को निखारता है। अतः आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण आवश्यक है।

जैसे मार्ग में चलते हुए अनाभोग, प्रमाद आदि से पैर में कांटा लग जाता है तो उसे निकालना आवश्यक होता है। जब तक कांटा नहीं निकाला जाता है तब तक ठीक ढंग से चला नहीं जा सकता है। कभी कभी कांटा नहीं निकलने पर पैरों में विष फैल जाता है और चलने की शक्ति नष्ट हो जाती है वैसे ही सम्यग्ज्ञानादि ग्रहण करने के पश्चात् प्रमाद, अविवेक आदि से अतिचार रूपी कांटे लग जाते हैं। जब तक उन अतिचारों को दूर नहीं किया जाता है तब तक जीव मोक्ष के निकट नहीं हो पाता है। अतिचारों की शुद्धि नहीं होने पर जीव विराधक बन जाता है, यहां तक की सम्यक्त्व आदि से भी भ्रष्ट हो जाता है अतः प्रतिक्रमण आवश्यक है।

प्रतिक्रमण व्रतों की आलोचना के सिवाय निम्न कारणों से भी किया जाता है -

१. जिन कार्यों को करने की मना है, उन्हें किया हो।

२. करने योग्य कार्य नहीं किया हो।

३. वीतरागी के वचनों पर श्रद्धा नहीं रखी हो।

४. सिद्धान्त विपरीत प्ररूपणा की हो।

कर्मबंधन से छूटकारा पाने के लिये यह आवश्यक है कि जीव पूर्वकृत कर्मों का क्षय करे और नवीन कर्मों का बन्ध नहीं करे। प्रतिक्रमण द्वारा पूर्वकृत पापों की निन्दा की जाती है, आलोचना की जाती है और मन, वचन, काया से प्रायश्चित्त (पश्चात्ताप) किया जाता है अतः कर्मों की निर्जरा होती है और भविष्य में कर्म बंधन रुकता है। प्रतिक्रमण से -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'छूटूं पिछला पाप से नवां न बांधू कोय' यह उक्ति सिद्ध होती है अतः प्रतिक्रमण आवश्यक है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य, ये पांच आचार कहलाते हैं। प्रतिक्रमण से पंचाचार की शुद्धि होती है। पंचाचार की विशुद्धि होने से आत्मा कर्ममल से रहित बनती है और जीव अंत में मोक्ष के अक्षय अव्याबाध सुखों को प्राप्त करता है।

प्रतिक्रमण से लाभ

प्रतिक्रमण एक ऐसी औषधि के समान है जिसका प्रतिदिन सेवन करने से विद्यमान रोग शांत हो जाते हैं, रोग नहीं होने पर उस औषधि के प्रभाव से वर्ण, रूप, यौवन और लावण्य आदि में वृद्धि होती है और भविष्य में रोग नहीं होते। इसी प्रकार यदि दोष लगे हो तो प्रतिक्रमण द्वारा उनकी शुद्धि हो जाती है और दोष नहीं लगा हो तो प्रतिक्रमण चारित्र की विशेष शुद्धि करता है।

व्रत में लगे हुए दोषों की सरल भावों से प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि करना और भविष्य में उन दोषों का सेवन न करने के लिए सतत जागरूक रहना ही प्रतिक्रमण का वास्तविक उद्देश्य है।

प्रतिक्रमण का लाभ बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९ में गौतमस्वामी ने प्रभु से पृच्छा की है कि -

पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

- हे भगवन्! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है?

प्रभु फरमाते हैं -

''पडिक्कमणेणं वयच्छिदाइं पिहेइ, पिहिय वयच्छिद्दे पुणजीवे णिरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ''

अर्थात् प्रतिक्रमण करने वाला व्रतों में बने हुए छिद्रों को बंद करता है फिर व्रतों के दोषों से निवृत्त बना हुआ शुद्ध व्रतधारी जीव आस्रवों को रोक कर तथा शबलादि दोषों से रहित शुद्ध संयम वाला होकर आठ प्रवचन माताओं में सावधान होता है और संयम में तल्लीन रहता हुआ समाधिपूर्वक एवं अपनी इन्द्रियों को उन्मार्ग से हटा कर सन्मार्ग (संयम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मार्ग) में विचरण करता है यानी आत्मा संयम के साथ एकमेक हो जाता है। इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती है और मन आत्मा में रम जाता है। इस प्रकार प्रतिक्रमण - जो वापस लौटने की प्रक्रिया से चालू हुआ था, वह धीरे धीरे आत्मस्वरूप स्थिति में पहुंच जाता है। यही है प्रतिक्रमण का पूर्ण फल। प्रतिक्रमण की यही है उपलब्धि।

तीसरे अध्ययन में वंदनापूर्वक गुरुमहाराज के समीप प्रतिक्रमण की प्रतिज्ञा करने की विधि दिखलाई गई है। अब इस चौथे अध्ययन में उसी प्रतिक्रमण को बतलाते हैं। इसमें प्रथम अध्ययन के ध्यान में चिंतित सब पाठों को प्रकट रूप से बोल कर तिक्खुत्तो के पाठ से गुरुदेव को विधि पूर्वक वंदना करके श्रमण सूत्र की आज्ञा लेते हैं। नमस्कार सूत्र, करेमि भंते का पाठ बोलने के बाद मांगलिक पाठ बोलने की विधि है, जो इस प्रकार है -

मंगलादि सूत्र (चत्तारि मंगलं का पाठ)

चत्तारि मंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा, अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो । चत्तारि सरणं पव्वज्जामि, अरहंते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि, साहू सरणं पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। (अर्हंतों का शरणा, सिद्धों का शरणा, साधुओं का शरणा, केवली-प्ररूपित धर्म का शरणा।)

ये चार मंगल चार उत्तम चार शरणा और न दूजा कोय।

जो भव्य प्राणी आदरे, तो अक्षय अमर पद होय।

कठिन शब्दार्थ - चत्तारि - चार, **अरहंता** - अर्हंत, **मंगलं** - मंगल, **सिद्धा** - सिद्ध, **साहू** - साधु, **केवलिपण्णत्तो** - केवलि प्ररूपित, **लोगुत्तमा** - लोकोत्तम, **सरणं** - शरण को, **पव्वज्जामि** - ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ - चार मंगल हैं - अर्हन्त भगवान् मंगल हैं, सिद्ध भगवान् मंगल हैं, साधु-महाराज मंगल है, सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म मंगल हैं। चार लोक - संसार में उत्तम - श्रेष्ठ हैं - अर्हन्त भगवान् लोक में उत्तम हैं, सिद्ध भगवान् लोक में उत्तम हैं, साधु महाराज लोक में उत्तम हैं, केवली प्ररूपित धर्म लोक में उत्तम हैं। मैं चार की शरण स्वीकार करता हूँ -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्हन्त की शरण स्वीकार करता हूँ, सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूँ, साधुओं की शरण स्वीकार करता हूँ केवली-सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत मांगलिक पाठ में जीव के लिये चार मंगल, चार उत्तम और चार शरण रूप पद बताये गये हैं -

१. चत्तारि मंगलं - चार मंगल हैं - १. अर्हन्त २. सिद्ध ३. साधु और ४. केवलि प्ररूपित धर्म।

जिससे हित की प्राप्ति हो, जो आत्मा को संसार से अलग करता हो, जिससे आत्मा शोभायमान हो, जिससे आनंद तथा हर्ष प्राप्त होता हो एवं जिसके द्वारा आत्मा पूज्य बनती हो, वह मंगल है।

मंगल दो प्रकार के हैं - १. लौकिक मंगल और २. लोकोत्तर मंगल। दधि, चावल, फूल आदि लौकिक मंगल माने गये हैं जबकि अर्हन्त आदि लोकोत्तर मंगल हैं। लौकिक मंगल तो अमंगल हो जाते हैं किंतु सूत्रोक्त चारों लोकोत्तर मंगल कभी अमंगल नहीं होते। अर्हन्त, सिद्ध, साधु का पूर्व में विवेचन किया जा चुका है।

केवलिपण्णत्तो धम्मो - केवलज्ञानी सर्वज्ञों द्वारा कहा हुआ धर्म केवली प्ररूपित धर्म है। जो केवलज्ञानी नहीं हैं वे अनाप्त हैं और अनाप्त का कथन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है अत एव धर्म के प्रवक्ता सर्वज्ञ - साक्षाद् द्रष्टा होने चाहिये। जब ज्ञानावरणीय कर्म का पूर्णतया नाश एवं क्षय हो जाता है तब आत्मा में केवलज्ञान प्रकट होता है। केवली में सम्पूर्ण पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट जानने का पूर्ण सामर्थ्य होता है अतः ऐसे केवली का कहा हुआ धर्म ही सच्चा धर्म है। इसीलिये यहां धर्म के लिये **'केवलिपण्णत्तो'** विशेषण दिया गया है।

२. चत्तारि लोगुत्तमा - लोक में चार उत्तम हैं - १. अर्हन्त २. सिद्ध ३. साधु और ४. केवलिप्ररूपित धर्म। उत्तम का अर्थ है - ऊंचा होना, विशेष ऊंचा होना, सबसे ऊंचा होना। जिसका उत्थान पुनः पतन की ओर न जाय और न अपने स्नेही को पतन की ओर ले जाय वही वस्तुतः उत्तम होता है। अनंतकाल से भटकती हुई भव्य आत्माओं को उत्थान के पथ पर ले जाने वाले - अर्हन्त, सिद्ध, साधु और केवलिप्ररूपित धर्म ही उत्तम हैं।

३. चत्तारि सरणं पव्वज्जामि - चार शरण स्वीकार करता हूं। संसार में वही उत्तम शरण है जो हमें त्राण देता है, संकटों से उबारता है, भय से विमुक्त करके निर्भय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बनाता है। माता पिता, पुत्र, पत्नी, धन वैभव आदि संसार का कोई भी पदार्थ मानव को वास्तविक रूप में शरण नहीं दे सकता है। विश्व में इस जीव के यदि कोई वास्तविक शरणदाता है तो ये चार शरण हैं - अर्हन्त, सिद्ध, साधु और केवलिप्ररूपित धर्म। इन चार का शरणा ले कर ही जीव, शिव और परमात्मा बन सकता है अतः पारमार्थिक दृष्टि से ये चार ही शरणभूत हैं।

आलोचना सूत्र

इरियावहियं (इच्छाकारेणं) का पाठ

चत्तारि मंगलं के बाद **इच्छामिठामि** का पाठ बोल कर **इच्छाकारेणं** का पाठ बोलने की विधि है अतः ऐर्यापथिक (आलोचना) सूत्र कहते हैं -

इच्छाकारेणं संदिसह भगवं । इरियावहियं पडिक्कमामि ? इच्छं, इच्छामि पडिक्कमिउं ॥१॥ इरियावहियाए विराहणाए ॥२॥ गमणागमणे ॥३॥ पाणक्कमणे बीयक्कमणे हरियक्कमणे ओसा-उत्तिंग-पणग-दग-मट्टी-मक्कडासंताणा संकमणे ॥४॥ जे मे जीवा विराहिया ॥५॥ एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया ॥६॥ अभिहया वत्तिया लेसिया संघाइया संघट्टिया परियाविया किलामिया उद्दविया ठाणाओ ठाणं संकामिया जीवियाओ ववरोविया तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥

कठिन शब्दार्थ - भगवं - हे भगवन्! हे गुरु महाराज!, **इच्छाकारेणं** - इच्छापूर्वक, **संदिसह** - आज्ञा दीजिये (कि मैं), **इरियावहियं** - ईर्यापथिकी क्रिया का (चलने आदि से लगने वाली क्रिया का), **पडिक्कमामि** - प्रतिक्रमण करूँ, **इच्छं** - आपकी आज्ञा प्रमाण है, **इच्छामि** - इच्छा करता हूँ, **पडिक्कमिउं** - प्रतिक्रमण करने की, **इरियावहियाए** - मार्ग में चलने से होने वाली, **विराहणाए** - विराधना से, **गमणागमणे** - जाने आने में, **पाणक्कमणे**- किसी प्राणी को दबाया हो, **बीयक्कमणे** - बीज को दबाया हो, **हरियक्कमणे** - हरी वनस्पति को दबाया हो, **ओसा** - ओस, **उत्तिंग** - कीड़ी नगरा, **पणग** - पाँच रंग की काई (लीलन फूलन), **दग** - कच्चा पानी, **मट्टी** - सचित्त मिट्टी (और), **मक्कडासंताणा** - मकडी के जालों को, **संकमणे** - कुचला हो, **मे** - मैंने, **एगिंदिया** - एक इन्द्रिय वाले.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बेइंदिया - दो इन्द्रिय वाले, **तेइंदिया** - तीन इन्द्रिय वाले, **चउरिंदिया** - चार इन्द्रिय वाले, **पंचिंदिया** - पाँच इन्द्रिय वाले, **जे** - जो, **जीवा** - जीव हैं (उन्हें), **विराहिया** - पीड़ित किये हों (विराधना की हो), **अभिहया** - सम्मुख आते हुए को हना हो, **वत्तिया** - धूल आदि से ढँका हो, **लेसिया** - मसला हो, **संघाइया** - इकट्ठा किया हो, **संघट्टिया** - संघट्टा (छूआ) किया हो, **परियाविया** - परिताप (कष्ट) पहुँचाया हो, **किलामिया** - किलामना उपजाई हो, मृततुल्य किया हो, **उद्दविया** - उद्वेग उपजाया हो या भयभीत किया हो, **ठाणाओ**- एक स्थान से, **ठाणं** - दूसरे स्थान पर, **संकामिया** - रखा हो, **जीवियाओ** - जीवन से, **ववरोविया** - रहित किया हो, **तस्स** - उसका, **दुक्कडं** - पाप, **मि** - मेरा, **मिच्छा** - मिथ्या (निष्फल) हो।

भावार्थ - शिष्य कहता है कि हे गुरु महाराज ! आप इच्छापूर्वक आज्ञा दीजिये कि मैं ईर्यापथिकी क्रिया का प्रतिक्रमण करूँ । गुरु की अनुमति पाने पर शिष्य कहता है कि आपकी आज्ञा प्रमाण है। मैं ईर्यापथिकी क्रिया का प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ अर्थात् मार्ग में चलने से हुई विराधना से निवृत्त होना चाहता हूँ। मार्ग में जाते-आते किसी प्राणी को दबाया हो, सचित्त बीज तथा हरी वनस्पति को कुचला हो, ओस, कीड़ी नगरा, पाँच वर्ण की लीलन फूलन, सचित्त जल, सचित्त मिट्टी और मकड़ी के जालों को रौंदा (कुचला) हो। मैंने किन्हीं जीवों की हिंसा की हो जैसे-एक इन्द्रिय वाले - पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति; दो इन्द्रिय वाले - शंख, सीप, गंडोल, लट आदि; तीन इन्द्रिय वाले - कुंथुआ, जूँ, लीख, कीड़ी, खटमल, चींचड आदि; चार इन्द्रिय वाले - मक्खी, मच्छर, भंवरा, बिच्छू, टिड्डी, पतंगिया आदि; पाँच इन्द्रिय वाले - मनुष्य, तिर्यंच-जलचर, स्थलचर और खेचर आदि । सम्मुख आते हुए उन्हें मारा हो, धूल आदि से ढँका हो, पृथ्वी पर या आपस में रगड़ा हो, इकट्ठे करके इन्हें दुःख पहुँचाया हो तथा छू कर पीड़ा दी हो, क्लेश पहुँचाया हो, मृत तुल्य (मरने सरीखा) किया हो, इनका जीवन नष्ट किया हो, तो इससे होने वाला मेरा पाप निष्फल हो अर्थात् जाने-अनजाने विराधना से कषाय द्वारा मैंने जो पाप कर्म बाँधा है उसके लिये मैं हृदय से पश्चात्ताप करता हूँ जिससे निर्मल परिणाम द्वारा पापकर्म शिथिल हो जावे और मुझे उसका

है।

त सूत्र में गमनागमन आदि प्रवृत्तियों में किस प्रकार और किन किन ती है उसका अत्यंत सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इरियावहियं (ईर्यापथिकी) - आचार्य नमि ने प्रतिक्रमण सूत्र की वृत्ति में ईर्यापथिकी शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है - **१. "ईरणं ईर्यागमनमित्यर्थः तत् प्रधानः पन्था ईर्या पथस्तत्र भवा विराधना ईर्यापथिकी।"** अर्थात् ईर्या का अर्थ गमन है गमन युक्त जो पथ=मार्ग है वह ईर्यापथ कहलाता है। ईर्यापथ में होने वाली क्रिया (विराधना) ईर्यापथिकी होती है।

आचार्य श्री हेमचन्द्र एक और भी अर्थ कहते हैं - **२. "ईर्या पथः साध्वाचारः तत्र भवा ईर्यापथिकी"** अर्थात् ईर्यापथ का अर्थ श्रेष्ठ आचार और उसमें गमनागमनादि के कारण असावधानी से जो दूषण रूप क्रिया हो जाती है उसे ईर्यापथिकी कहते हैं।

आचार्य श्री हरिभद्र ने **उत्तिंग** आदि शब्दों के अर्थ इस प्रकार किये हैं -

१. **उत्तिंग** - गर्दभाकृति जीव (गद्दहिय) अथवा कीड़ी नगर।

२. **दग-मट्टी** - दग मृतिका - मिट्टी युक्त पानी। दग से अप्काय और मृतिका शब्द से पृथ्वीकाय का ग्रहण किया है।

३. **अभिहया** - पैर से ठोकर लगाना या उठा कर फैंक देना।

४. **वत्तिया** - ढेर किया हो अथवा धूलि से ढके हो, रोके हो।

५. **संघट्टिया** - थोड़ा सा स्पर्श किया हो।

अभिहया से **जीवियाओ ववरोविया** तक जीव विराधना के दस भेद बताये हैं। जीव विराधना से बचने का उपाय है - यतना। यतना, जैन धर्म का प्राण है। यतना से ही साधना सम्यक् बनती है। यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने से जीव पाप कर्म का बंध नहीं करता है। दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ४ में भी कहा है -

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं ण बंधइ॥

अर्थात् यतनापूर्व चलने, खड़े होने, बैठने, सोने, खाने और बोलने वाला जीव पाप कर्म का बंध नहीं करता है। क्योंकि पाप कर्म बंध का मूल कारण अयतना ही है। अयतना - असावधानी से आवश्यक प्रवृत्ति के लिए इधर उधर गमनागमन के कारण जीवों को पीड़ा पहुंची हो उसके लिये ही प्रस्तुत पाठ में गुरु महाराज के समक्ष आलोचना की गयी है इसीलिये इसे आलोचना सूत्र भी कहते हैं।

इस प्रकार गमनागमन संबंधी अतिचार कह कर सूत्रकार अब निद्रा दोष निवृत्ति का पाठ कहते हैं -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शय्या सूत्र

(निद्रा दोष निवृत्ति का पाठ)

इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए, निगामसिज्जाए, संथारा-उव्वट्टणाए परियट्टणाए आउंटण पसारणाए, छप्पइ संघट्टणाए, कूइए, कक्कराइए, छीए, जंभाइए, आमोसे, ससरक्खामोसे, आउलमाउलाए, सुवणवत्तियाए●, इत्थी(पुरिस)विप्परियासियाए✡, दिट्ठिविप्परियासियाए, मणविप्परियासियाए, पाणभोयणविप्परियासियाए, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

कठिन शब्दार्थ - **पगामसिज्जाए** - चिरकाल तक सोने से, **निगामसिज्जाए** - बार बार चिरकाल तक सोने से, **उव्वट्टणाए** - करवट बदलने से, **परियट्टणाए** - बार-बार करवट बदलने से, **आउंटण** - हाथ पैर आदि को संकुचित करने से, **पसारणाए** - हाथ पैर आदि को फैलाने से, **छप्पइ** - यूका आदि को, **संघट्टणाए** - स्पर्श करने से, **कूइए** - खांसते हुए, **कक्कराइए** - शय्या के दोष कहते हुए, **छीए** - छींकते हुए, **जंभाइए** - उबासी लेते हुए, **आमोसे** - बिना पूंजे स्पर्श करते हुए, **ससरक्खामोसे** - सचित्त रज से युक्त छूते हुए, **आउलमाउलाए** - आकुल-व्याकुलता से, **सुवणवत्तियाए** - स्वप्न के निमित्त से, **इत्थीविप्परियासियाए** - स्त्री सम्बन्धी विपर्यास से, **दिट्ठिविप्परियासियाए** - दृष्टि के विपर्यास से, **मणविप्परियासियाए** - मन के विपर्यास से, **पाणभोयणविप्परियासियाए** - पानी और भोजन के विपर्यास से।

भावार्थ - शयन सम्बन्धी प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ । शयनकाल में यदि बहुत देर तक सोता रहा हूँ अथवा बार-बार बहुत देर तक सोता रहा हूँ, अयतना के साथ एक बार करवट ली हो, अथवा बार-बार करवट ली हो, हाथ पैर आदि अंग अयतना से समेटे हों

● आचार्य हरिभद्र "**सुवणवत्तियाए**" का सम्बन्ध "**आउलमाउलाए**" के साथ जोड़ते हैं । स्वप्न में विवाह युद्धादि के अवलोकन से आकुलता व्याकुलता रही हो अर्थात् स्वप्न के निमित्त से होने वाली संयम विरुद्ध मानसिक क्रिया।

✡ बहनें '**इत्थीविप्परियासियाए**' के स्थान पर '**पुरिसविप्परियासियाए**' बोलें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथवा पसारे हों, यूका - जूं आदि जीवों को कठोर स्पर्श के द्वारा पीड़ा पहुँचाई हो, बिना यतना के अथवा जोर से खांसी की हो अथवा शब्द किया हो, 'यह शय्या बड़ी विषम तथा कठोर है' - इत्यादि शय्या के दोष कहे हों, बिना यतना किए छींक व जंभाई ली हो, बिना प्रमार्जन किये शरीर को खुजलाया हो अथवा अन्य किसी वस्तु को छुआ हो, सचित्त रज वाली वस्तु का स्पर्श किया हो, स्वप्न में विवाह युद्धादि के अवलोकन से आकुल व्याकुलता रही हो- स्वप्न में मन भ्रांत हुआ हो, स्वप्न में स्त्री-संग किया हो, स्वप्न में स्त्री को अनुरागभरी दृष्टि से देखा हो, स्वप्न में मन में विकार आया हो, स्वप्न दशा में रात्रि भोजन-पान की इच्छा की हो या भोजन-पान किया हो अर्थात् मैने दिन में जो भी शयन संबन्धी अतिचार किया हो, वह सब पाप मेरा मिथ्या-निष्फल हो ।

विवेचन - प्रस्तुत पाठ शयन संबंधी अतिचारों का प्रतिक्रमण करने के लिए है। सोते समय जो भी शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक भूल हुई हो, संयम की सीमा से बाहर अतिक्रमण हुआ हो, किसी भी तरह का विपर्यास (संयम विरुद्ध वृत्ति या प्रवृत्ति) हुआ हो उन सब के लिये पश्चात्ताप करने का, मिच्छामि दुक्कडं देने का विधान इस पाठ में किया गया है अतः इसे 'निद्रा दोष निवृत्ति का पाठ' कहा जाता है।

सायंकाल, प्रातःकाल प्रतिक्रमण में बोलने के अलावा जब भी साधक सो कर उठे, उसे निद्रा दोष निवृत्ति का यह पाठ अवश्य बोलना चाहिये।

पाठ में आये कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थ इस प्रकार है -

पगामसिज्जाए - प्रकामशय्या - मर्यादा से अधिक सोना अथवा मर्यादा से अधिक लम्बी, चौड़ी, जाड़ी (गद्देदार) शय्या (बिछौना)।

निगामसिज्जाए - निकामशय्या - बार बार मर्यादा से अधिक सोना अथवा प्रतिदिन बढिया गद्देदार शय्या करना।

उव्वट्टणाए परियट्टणाए (उद्ववर्त्तनया परिवर्त्तनया) - अविधि से करवट बदलना उ र्तन है और अयतना से बार बार करवट बदलना या एक करवट से दूसरी करवट बदलना पा वर्तना है। उद्वर्तन और परिवर्तना का अर्थ पुनः वही पहले वाली करवट ले लेना।

कूइए - कूजित - अविधि से खांसते हुए अथवा कुचेष्टा करने से अर्थात् स्त्री आदि के भोग की इच्छा से, मनमाना बोलने से, फूंके मारने से अर्थात् निद्रा प्रलाप से।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कक्कराइए - कर्कशायित - कुड़कुडाना। शय्या के दोष कहते हुए बड़बड़ाना, शय्या विषम हो या कठोर हो साधक को समता एवं शांति के साथ उसका सेवन करना चाहिये।

इत्थीविप्परियासियाए - स्त्री विपर्यास से - संयम विरुद्ध प्रवृत्ति से - स्वप्न में स्त्रीसंग किया हो।

दिट्ठिविप्परियासियाए - दृष्टि विपर्यास से - स्वप्न में स्त्री को अनुराग दृष्टि से देखा हो।

मणविप्परियासियाए - मन के विपर्यास से - स्वप्न में मन के अंदर विकार आया हो, या मन दूषित हुआ हो।

पाणभोयणविप्परियासियाए - पान और भोजन के विपर्यास से - स्वप्नदशा में रात्रि में भोजन पानी की इच्छा की हो या भोजन पान किया हो।

इस प्रकार शयन संबंधी अतिचारों का प्रतिक्रमण कह कर अब गोचरी के अतिचार संबंधी प्रतिक्रमण कहते हैं -

गोचरचर्या सूत्र

(भिक्षा दोष निवृत्ति का पाठ)

पडिक्कमामि गोयरचरियाए भिक्खायरियाए उग्घाड-कवाड-उग्घाडणाए, साणा-वच्छा-दारा संघट्टणाए, मंडीपाहुडियाए, बलिपाहुडियाए, ठवणा-पाहुडियाए, संकिए, सहसागारे, अणेसणाए, पाणभोयणाए, बीयभोयणाए, हरियभोयणाए, पच्छाकम्मियाए, पुरेकम्मियाए, अदिट्ठहडाए, दगसंसट्ठहडाए, रयसंसट्ठहडाए, परिसाडणियाए, परिट्ठावणियाए, ओहासणभिक्खाए, जं उग्गमेणं उप्पायणेसणाए, अपरिसुद्धं परिग्गहियं परिभुत्तं वा जं न परिट्ठवियं, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

कठिन शब्दार्थ - गोयरचरियाए - गोचर चर्या में, **भिक्खायरियाए** - भिक्षाचर्या में, **उग्घाड** - अधखुले, **कवाड** - किवाड़ों को, **उग्घाडणाए** - खोलने से, **साणा** - कुत्ते, **वच्छा** - बछड़े, **दारा** - बच्चों का, **संघट्टणाए** - संघट्टा करने से, लांघने से, **मंडी** - अग्रपिण्ड की, **पाहुडियाए** - भिक्षा से, **बलि** - बलिकर्म की, **ठवणा** - स्थापना, **संकिए** -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शंकित आहार लेने से, **सहसागारे** - शीघ्रता में लेने से, विचार किये बिना ही आहार लेने पर, **अणेसणाए** - बिना एषणा के लेने से, **पाणभोयणाए** - प्राणी वाले भोजन से, **बीयभोयणाए** - बीज वाले भोजन से, **हरियभोयणाए** - हरित वाले भोजन से, **पच्छाकम्मियाए** - पश्चात् कर्म से, **पुरेकम्मियाए** - पुरः कर्म से, **अदिट्ठं** - अदृष्ट (बिना देखी) वस्तु के, **हडाए** - लेने से, **दगसंसट्ठं** - जल से संसृष्ट, **रयसंसट्ठं** - रज से संसृष्ट, **परिसाडणियाए** - पारिशाटनिका से, **परिट्ठावणियाए** - पारिष्ठापनिका से, **ओहासण** - उत्तम वस्तु मांग कर, **भिक्खाए** - भिक्षा लेने से, **उग्गमेणं** - आधाकर्मादि उद्गम दोषों से, **उप्पायण** - उत्पादन दोषों से, **एसणाए** - एषणा के दोषों से, **अपरिसुद्धं** - अशुद्ध आहार, **परिग्गहियं** - ग्रहण किया हो, **परिभुत्तं** - भोगा हो, **परिट्ठवियं** - परठा हो

भावार्थ - गोचर चर्या रूप से भिक्षाचर्या में यदि ज्ञात अथवा अज्ञात किसी भी रूप में जो भी अतिचार - दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

अधखुलें किवाड़ों को खोलना, कुत्ते, बछड़े और बच्चों का संघट्टा - स्पर्श करना, मण्डी प्राभृतिका - अग्रपिण्ड लेना, बलिप्राभृतिका - बलिकर्मार्थ तैयार किया हुआ भोजन लेना, स्थापनाप्राभृतिका - भिक्षुओं को देने के उद्देश्य से अलग रखा हुआ भोजन लेना, शंकित- आधाकर्मादि दोषों की शंका वाला भोजन लेना, सहसाकार - शीघ्रता में आहार लेना, बिना एषणा छानबीन किये लेना, प्राण-भोजन - जिसमें कोई जीव पड़ा हो ऐसा भोजन लेना, बीज-भोजन - बीजों वाला भोजन लेना, हरित भोजन - सचित्त वनस्पति वाला भोजन लेना, पश्चात्कर्म, पुरःकर्म, अदृष्टाहृत - बिना देखा भोजन लेना, उदकसंसृष्टाहृत - सचित्त जल के साथ स्पर्श वाली वस्तु लेना, रजःसंसृष्टाहृत - सचित्त रज से स्पृष्ट वस्तु लेना, पारिशाटनिका - देते समय मार्ग में गिरता - बिखरता हुआ दिया जाने वाला भोजन लेना, पारिष्ठापनिका - आहार देने के पात्र में पहले से रहे हए किसी भोजन को डालकर दिया जाने वाला अन्य भोजन लेना, बिना कारण विशिष्ट पदार्थ मांग कर लेना, उद्गम - आधाकर्म आदि उद्गम के दोषों से सहित भोजन लेना, उत्पादन - धात्री आदि साधु की तरफ से लगने वाले दोषों से सहित भोजन लेना, एषणा-ग्रहणैषणा के शंका आदि दस दोषों से सहित भोजन लेना।

उपर्युक्त दोषों वाला अशुद्ध - साधु मर्यादा की दृष्टि से अयुक्त आहार पानी ग्रहण किया हुआ भोग लिया हो किन्तु दूषित जानकर भी परठा न हो तो तज्जन्य समस्त पाप मिथ्या हो।

विवेचन - प्रस्तुत पाठ में भिक्षा के दोषों का वर्णन किया गया है। साधु भिक्षा वृत्ति से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जीवन निर्वाह करता है और भिक्षावृत्ति में भी निर्दोष आहार ग्रहण करता है। नवकोटि विशुद्धि आहार ग्रहण करने वाले साधु को इन दोषों से बचना आवश्यक है। प्रस्तुत पाठ में आये कुछ विशिष्ट शब्दों के विशेष अर्थ इस प्रकार हैं -

गोयरचरियाए (गोचरचर्या) - गोचरचर्या शब्द का अर्थ हरिभद्रसूरि इस प्रकार करते हैं - **"गोच्चरणं गोचरः चरण चर्या गोचर इव चर्या गोचर चर्या।"**

अर्थात् गाय आदि पशुओं का चरना (थोड़ा-थोड़ा ऊपर से खाना) गोचर कहलाता है। गति (भ्रमण) करना चर्या कहलाती है। जिस प्रकार गाय चरती है उसी प्रकार से थोड़ा-थोड़ा आहार लेने के लिए भ्रमण करना 'गोचर चर्या' कहलाती है।

गाय तो अदत्त भी ग्रहण करती है लेकिन साधक तो दिया हुआ ही ग्रहण करता है अतः आगे **'भिक्खायरियाए'** भिक्षारूप चर्या विशेषण आया है। अतः दोनों शब्दों का शामिल अर्थ होता है - **गोचर चर्या रूप भिक्षाचर्या में।** जिस प्रकार गाय वन में एक एक घास का तिनका जड़ से न उखाड़ कर ऊपर से ही खाती हुई घूमती है, अपनी क्षुधा निवृत्ति कर लेती है और गोचरभूमि एवं वन की हरियाली को भी नष्ट नहीं करती है उसी प्रकार मुनि भी किसी गृहस्थ को पीड़ा नहीं देता हुआ थोड़ा-थोड़ा आहार सभी के यहां से ग्रहण कर अपनी क्षुधा पूर्ति करता है। गाय के समान मुनि की इस चर्या को गोचरचर्या (गोचरी) कहते हैं। दशवैकालिक सूत्र अध्ययन १ में इसके लिए मधुकर - भ्रमर की उपमा दी है। भ्रमर भी फूलों को कुछ भी हानि पहुंचाए बिना थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण कर आत्म-तृप्ति कर लेता है।

यहां पर 'गोचरचर्या' में प्रयुक्त **गो** शब्द से 'गाय' की प्रमुखता से सभी शाकाहारी पशुओं का ग्रहण करना चाहिये। सभी शाकाहारी पशुओं के खाने की चर्या (विधि) गाय के समान ही होती है। अर्थात् - **'गो'** शब्द को व्यक्तिवाचक नहीं समझकर 'जातिवाचक' समझना चाहिए। दशवैकालिक सूत्र के अध्ययन १ में आये हुए 'मधुकर' शब्द से 'भ्रमर' की प्रमुखता (उपलक्षण) से सभी कीटों (फूलों से रस ग्रहण करने वाले) का ग्रहण करना चाहिए। इसे भी 'जातिवाचक' शब्द के रूप में समझना चाहिए। 'गधे' का खाना भी गाय के समान ही होता है। सूअर, घास आदि की जड़ों को उखाड़ कर खाता है। ऐसा पूज्य बहुश्रुत गुरु भगवन्तों का फरमाना है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उग्घाड कवाड उग्घाडणाए (उद्घाट कपाटोद्घाटनया) - (चूलिका आदि) (निषिद्ध) अधखुले किवाड़ों को या अनिषिद्ध किवाड़ों को बिना पूंजे अथवा बिना स्वामी की आज्ञा खोलने से।

मंडी पाहुडियाए (मण्डी प्राभृतिका) - मंडी, ढक्कन को तथा उपलक्षण से अन्यपात्र को कहते हैं। उसमें तैयार किये हुए भोजन के कुछ अग्र अंश को पुण्यार्थ किसी पात्र में निकाल कर अलग रख दिया जाता है जिसे 'अग्रपिण्ड' कहते हैं। ऐसे अग्रपिण्ड को भिक्षा में ग्रहण करना 'मण्डी प्राभृतिका' कहलाता है। यह पुण्यार्थ होने से साधु के लिए निषिद्ध है। अथवा साधु के आने पर पहले अग्रभोजन दूसरे पात्र में निकाल ले और फिर शेष में से दे तो वह भी मंडीप्राभृतिका दोष है, क्योंकि इसमें प्रवृत्ति दोष लगता है।

बलि पाहुडियाए (बलि प्राभृतिका) - देवता आदि के लिए पूजार्थ तैयार किया हुआ भोजन 'बलि' कहलाता है। वह भिक्षा में ग्रहण नहीं करना चाहिये। यदि ग्रहण करे तो दोष लगता है। अथवा साधु को दान देने से पहले दाता द्वारा सर्वप्रथम आवश्यक बलिकर्म करने के लिए बलि को चारों दिशाओं में फैंक कर अथवा अग्नि में डाल कर उसके बाद जो भिक्षा दी जाती है, वह 'बलि प्राभृतिका' है। ऐसा करने से साधु के निमित्त से अग्नि आदि जीवों की विराधना का दोष होता है।

ठवणा पाहुडियाए (स्थापना प्राभृतिका) - साधु के उद्देश्य से पहले से रखा हुआ भोजन लेना स्थापना प्राभृतिका दोष है अथवा अन्य भिक्षुओं के लिए अलग निकाल कर रखे हुए भोजन में से भिक्षा लेने से स्थापना प्राभृतिका दोष लगता है।

संकिए (शंकित) - आहार लेते समय भोजन के संबंध में किसी प्रकार की भी आधाकर्मादि दोष की आशंका से युक्त आहार लेना।

सहसागारे (सहसाकार) - **'उतावला सो बावला'** शीघ्रता में आहार लेना, विचार किये बिना आहार लेना।

पच्छाकम्मियाए (पश्चात् कर्मिकया) - साधु साध्वी को आहार देने के बाद तदर्थ सचित्त जल से हाथ या पात्रों को धोने के कारण लगने वाला दोष 'पश्चात् कर्म' कहलाता है।

पुरेकम्मियाए (पुरः कर्मिकया) - साधु साध्वी को आहार देने से पहले सचित्त जल से हाथ या पात्र के धोने से लगने वाला दोष 'पुरःकर्म' कहलाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अदिट्ठहडाए (अदृष्टाहृत) - अदृष्ट - दिखाई नहीं देने वाले (दूर या अंधेरे) स्थान से लाया हुआ आहार लेने से यह दोष लगता है। गृहस्थ के घर पहुंच कर, साधु को जो भी वस्तु लेनी हो, वह स्वयं जहां रखी हो, अपनी आंखों से देख कर लेनी चाहिये। यदि कोठे आदि में रखी हुई वस्तु बिना देखे ही गृहस्थ के द्वारा लाई हुई ले ली जाती है तो वह 'अदृष्टाहृत' दोष से दूषित होने के कारण अग्राह्य होती है। देय वस्तु न मालूम किस सचित्त वस्तु आदि पर रखी हो, संघट्टे से युक्त हो, अतः उसके लेने में जीव विराधना दोष लगता है।

परिट्ठावणियाए (पारिष्ठापनिका) - १. साधु को बहराने के बाद पात्र में रहे हुए शेष भोजन को जहाँ दाता द्वारा फैंक देने की प्रथा हो वहाँ अयतना की संभावना होते हुए भी आहार लेना। २. आहार देने के पात्र में पहले से रहे हुए किसी भोजन को डाल कर (फैंक कर) दिया जाने वाला अन्य भोजन लेना। ३. उज्झित आहार - जिसमें खाना कम और अधिक फैंकना पड़े ऐसा आहार लेना ४. पूर्व आहार को परठने के भाव से नया आहार ग्रहण करना।

ओहासणभिक्खाए (अवभाषण भिक्षा) - निष्कारण उत्तम वस्तु मांग कर भिक्षा लेने से अथवा दीनतापूर्वक आहारादि की याचना करने से यह दोष लगता है।

शंका - भिक्षा निवृत्ति दोष का पाठ (गोयरचरियाए का पाठ) श्रावकों को बोलना क्यों आवश्यक है?

समाधान - गोचरी की दया आदि में लगे दोष **गोयरचरियाए** के पाठ से शुद्ध होते हैं तथा प्रतिमाधारी श्रावकों को भिक्षाचर्या में लगे हुए दोषों के निवारण के लिये यह पाठ उपयोगी है और अन्य श्रावकों के लिए भिक्षाचर्या तप की श्रद्धा प्ररूपणा में लगे हुए दोषों के निवारण के लिए भिक्षा दोष निवृत्ति का यह पाठ बोलना आवश्यक है।

काल प्रतिलेखना सूत्र

(चाउक्काल सज्झायस्स का पाठ)

पडिक्कमामि चाउक्कालं सज्झायस्स अकरणयाए, उभओ कालं भंडोवगरणस्स अप्पडिलेहणाए, दुप्पडिलेहणाए, अप्पमज्जणाए, दुप्पमज्जणाए अइक्कमे, वइक्कमे, अइयारे, अणायारे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - चाउक्कालं - चार काल में, **सज्झायस्स** - स्वाध्याय के, **अकरणयाए** - न करने से, **उभओ कालं** - दोनों काल में, **भण्डोवगरणस्स** - भण्ड तथा उपकरण की, **अप्पडिलेहणाए** - अप्रतिलेखना से, **दुप्पडिलेहणाए** - दुष्प्रतिलेखना से, **अप्पमज्जणाए** - अप्रमार्जना से, **दुप्पमज्जणाए** - दुष्प्रमार्जना से, **अइक्कमे** - अतिक्रम में, **वइक्कमे** - व्यतिक्रम में, **अइयारे** - अतिचार में, **अणायारे** - अनाचार में।

भावार्थ - स्वाध्याय तथा प्रतिलेखना सम्बन्धी प्रतिक्रमण करता हूँ । यदि प्रमादवश दिन और रात्रि के प्रथम तथा अन्तिम प्रहर रूप चार काल में स्वाध्याय न की हो, प्रात: तथा संध्या दोनों काल में वस्त्र, पात्र आदि भण्डोपकरण की प्रतिलेखना न की हो या अच्छी तरह प्रतिलेखना न की हो, प्रमार्जना न की हो या अच्छी तरह प्रमार्जना न की हो, फलस्वरूप अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार सम्बन्धी जो भी दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष लगा हो तो वह सब पाप मेरे लिए मिथ्या-निष्फल हो।

विवेचन - प्रस्तुत पाठ में स्वाध्याय एवं प्रतिलेखन में लगने वाले दोषों का वर्णन किया गया है।

स्वाध्याय का अर्थ - स्वाध्याय शब्द के अनेक अर्थ हैं - १. सु + अध्याय अर्थात् सुष्ठु अध्याय - अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। निष्कर्ष यह है कि - आत्म कल्याणकारी श्रेष्ठ पठन-पाठन रूप अध्ययन का नाम ही स्वाध्याय है।

२. सुष्ठु = भलीभांति आ = मर्यादा के साथ अध्ययन करने का नाम स्वाध्याय है।

३. स्वाध्याय यानी अपने आपका अध्ययन करना और देखभाल करते रहना कि मेरा जीवन ऊंचा उठ रहा है या नहीं?

प्रस्तुत सूत्र में स्वाध्याय का मुख्य अर्थ आगमों को मूल रूप में सीखना, सीखाना और परस्पर पुनरावर्तन करना (सुनना) है।

स्वाध्याय के भेद - स्वाध्याय के पांच भेद इस प्रकार कहे गये हैं -

१. वाचना - गुरु मुख से सूत्र पाठ ले कर, जैसा हो वैसा ही उच्चारण करना, वाचना है।

२. पृच्छना - सूत्र पर जितना भी अपने से हो सके तर्क-वितर्क चिंतन मनन करना चाहिये और ऐसा करते हुए जहां भी शंका हो गुरुदेव से समाधान के लिए पूछना, पृच्छना है। हृदय में उत्पन्न हुई शंका को शंका के रूप में ही रखना ठीक नहीं होता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. परिवर्तना - सूत्र-वाचना विस्मृत न हो जाय इसलिये सूत्र पाठ को बार-बार गुणानिका-परिवर्तना करना, फेरना परिवर्तना है।

४. अनुप्रेक्षा - सूत्र वाचना के संबंध में तात्त्विक चिंतन करना, अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा, स्वाध्याय का महत्त्वपूर्ण अंग है।

५. धर्मकथा - सूत्र-वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा के बाद जब तत्त्व का वास्तविक स्वरूप समझ में आ जाय, तब धर्मोपदेश देना, धर्मकथा है।

बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय अंतरंग तप है। स्वाध्याय का फल बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के अध्ययन २९ में प्रभु ने फरमाया है कि - **'सज्झाएणं णाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ'** - स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है। ज्ञान का अलौकिक प्रकाश जगमगा उठता है। स्वाध्याय के द्वारा ही हित और अहित का ज्ञान होता है। पाप पुण्य का पता चलता है, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का ज्ञान होता है। स्वाध्याय के द्वारा ही धर्म, अधर्म का पता लगा सकते हैं और अधर्म का त्याग कर धर्म में प्रवृत्ति करते हुए अपने जीवन को सुखी बना सकते हैं।

प्रतिलेखना और प्रमार्जना - वस्त्र, पात्र आदि को अच्छी तरह खोल कर चारों ओर से देखना प्रतिलेखना है और रजोहरण तथा पूंजणी के द्वारा अच्छी तरह साफ करना प्रमार्जना है।

साधक के पास जो वस्त्र, पात्र आदि उपधि हो, उसकी दिन में दो बार - प्रातः और सायं प्रतिलेखना करनी होती है। उपधि को बिना देखे-भाले उपयोग में लाने से हिंसा का दोष लगता है। उपधि में सूक्ष्म जीवों के उत्पन्न हो जाने की अथवा बाहर के जीवों के आश्रय लेने की संभावना रहती है। अतः प्रत्येक वस्तु का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए जीवों को देखना चाहिए और यदि कोई जीव दृष्टिगत हो तो उसे प्रमार्जन के द्वारा किसी भी प्रकार की पीड़ा पहुंचाए बिना एकान्त स्थान में धीरे से छोड़ देना चाहिये। यह अहिंसा महाव्रत की सूक्ष्म साधना है। धर्म के प्रति जागरूकता है। अतः प्रतिलेखना और प्रमार्जन आवश्यक है।

दुष्प्रतिलेखना-दुष्प्रमार्जना - आलस्यवश शीघ्रता में अविधि से देखना, दुष्प्रतिलेखना है और शीघ्रता में बिना विधि से उपयोगहीन दशा में प्रमार्जन करना, दुष्प्रमार्जना है।

शंका - चाउक्काल सज्झायस्स का पाठ बोलना क्यों आवश्यक है?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान् – शास्त्रोक्त समय पर स्वाध्याय या प्रतिलेखना न करना, शास्त्र निषिद्ध समय पर करना, स्वाध्याय एवं प्रतिलेखना पर श्रद्धा न करना तथा इस संबंध में मिथ्या प्ररूपणा करना या उचित विधि से न करना, इत्यादि रूप में स्वाध्याय और प्रतिलेखना संबंधी जो अतिचार-दोष लगे हों, उनसे मुक्त होने के लिये स्वाध्याय और प्रतिलेखन दोष निवृत्ति का (चाउक्काल सज्झायस्स का) पाठ बोलना आवश्यक है।

पाठ में आये **अइक्कमे** आदि शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं –

१. **अइक्कमे** (अतिक्रम) – अकृत्य सेवन का भाव।

२. **वइक्कमे** (व्यतिक्रम) – अकृत्य सेवन की सामग्री मिलाना।

३. **अइयारे** (अतिचार) – अकृत्य सेवन में गमनादि रूप प्रवृत्ति करना।

४. **अणायारे** (अनाचार) – अकृत्य का सेवन करना। सर्वथा या अधिकांश में व्रत भंग कर देना।

प्रश्न – इस पाठ में – **'अनाचार'** का **'मिच्छामि दुक्कडं'** क्यों दिया है? अन्य पाठों में तो **'अतिचार'** का ही **'मिच्छामि दुक्कडं'** दिया जाता है?

उत्तर – अहिंसादि महाव्रत रूप मूलगुणों में अतिक्रम, व्यतिक्रम तथा अतिचार के कारण मलिनता आती है अर्थात् चारित्र का मूलगुण दूषित होता है परन्तु सर्वथा नष्ट नहीं होता। अतः उसकी शुद्धि आलोचना एवं प्रतिक्रमण के द्वारा करने का विधान है। परन्तु मूलगुणों में जानते अनजानते अनाचार का दोष लग जाय तो अन्य प्रायश्चित्त से शुद्धि होती है।

उत्तरगुणों में अतिक्रम आदि चारों ही दोषों से चारित्र में मलिनता आती है। परन्तु पूर्णतः चारित्र भंग नहीं होता है।

स्वाध्याय और प्रतिलेखना उत्तरगुण है अतः प्रस्तुत काल प्रतिलेखना सूत्र के द्वारा अतिक्रम आदि चारों दोषों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

तेतीस बोल का पाठ

अतिचार, संक्षेप में एक प्रकार का और विस्तार से दो, तीन आदि तथा आत्म-अध्यवसाय से संख्यात असंख्यात यावत् अनन्त प्रकार का है उनमें से एक आदि भेद का कथन करते हैं-

पडिक्कमामि एगविहे असंजमे। पडिक्कमामि दोहिं बंधणेहिं-राग बंधणेणं दोस बंधणेणं। पडिक्कमामि तिहिं दंडेहिं – मणदंडेणं, वयदंडेणं, कायदंडेणं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पडिक्कमामि तिहिं गुत्तीहिं - मणगुत्तीए, वयगुत्तीए, कायगुत्तीए। पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं - मायासल्लेणं, नियाणसल्लेणं, मिच्छादंसणसल्लेणं। पडिक्कमामि तिहिं गारवेहिं - इड्ढिगारवेणं, रसगारवेणं, सायागारवेणं। पडिक्कमामि तिहिं विराहणाहिं - णाण-विराहणाए, दंसण-विराहणाए, चरित्त-विराहणाए। पडिक्कमामि चउहिं कसाएहिं - कोहकसाएणं, माणकसाएणं, मायाकसाएणं, लोहकसाएणं। पडिक्कमामि चउहिं सण्णाहिं आहारसण्णाए, भयसण्णाए, मेहुणसण्णाए, परिग्गहसण्णाए। पडिक्कमामि चउहिं विकहाहिं- इत्थीकहाए*, भत्तकहाए, देसकहाए, रायकहाए। पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं- अट्टेणं झाणेणं, रुद्देणं झाणेणं, धम्मेणं झाणेणं, सुक्केणं झाणेणं। पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं - काइयाए, अहिगरणियाए, पाउसियाए, पारितावणियाए, पाणाइवाय किरियाए । पडिक्कमामि पंचहिं कामगुणेहिं-सद्देणं, रूवेणं, गंधेणं, रसेणं, फासेणं। पडिक्कमामि पंचहिं महव्वएहिं-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं । पडिक्कमामि पंचहिं समिईहिं - इरियासमिईए, भासासमिईए, एसणासमिईए, आयाण-भंड-मत्त णिक्खेवणासमिईए, उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-पारिट्ठावणिया समिईए। पडिक्कमामि छहिं जीवनिकाएहिं - पुढवीकाएणं, आउकाएणं, तेउकाएणं, वाउकाएणं, वणस्सइकाएणं, तसकाएणं । पडिक्कमामि छहिं लेसाहिं - किण्हलेसाए, नीललेसाए, काउलेसाए, तेउलेसाए, पम्हलेसाए, सुक्कलेसाए। पडिक्कमामि सत्तहिं भयट्ठाणेहिं, अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं, नवहिं बंभचेरगुत्तीहिं, दसविहे समणधम्मे, एगारसहिं [एक्कारसहिं] उवासगपडिमाहिं, बारसहिं भिक्खुपडिमाहिं, तेरसहिं किरियाठाणेहिं, चोद्दसहिं भूयगामेहिं,

* श्राविकाएं 'इत्थीकहाए' के स्थान पर 'पुरिसकहाए' कहे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पण्णरसहिं परमाहम्मिएहिं, सोलसहिं गाहासोलसएहिं, सत्तरसविहे असंजमे, अट्ठारसविहे अबम्भे, एगूणवीसाए णायज्झयणेहिं, वीसाए असमाहिठाणेहिं, एगवीसाए सबलेहिं, बावीसाए परीसहेहिं, तेवीसाए सूयगडज्झयणेहिं, चोवीसाए देवेहिं, पणवीसाए भावणाहिं, छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसण-कालेहिं, सत्तावीसाए अणगारगुणेहिं, अट्ठावीसाए आयारप्पकप्पेहिं, एगूणतीसाए पावसुयप्पसंगेहिं, तीसाए महामोहणीयठाणेहिं, एगतीसाए सिद्धाइगुणेहिं, बत्तीसाए जोगसंगहेहिं, तेत्तीसाए आसायणाहिं - १. अरहंताणं आसायणाए २ सिद्धाणं आसायणाए ३ आयरियाणं आसायणाए ४ उवज्झायाणं आसायणाए ५ साहूणं आसायणाए ६ साहुणीणं आसायणाए ७ सावयाणं आसायणाए ८ सावियाणं आसायणाए ९ देवाणं आसायणाए १० देवीणं आसायणाए ११ इहलोगस्स आसायणाए १२ परलोगस्स आसायणाए १३ केवलिपण्णत्तस्स धम्मस्स आसायणाए १४ सदेव-मणुयासुरस्स लोगस्स आसायणाए १५ सव्वपाण-भूयजीवसत्ताणं आसायणाए १६ कालस्स आसायणाए १७. सुयस्स आसायणाए १८ सुयदेवयाए आसायणाए १९ वायणायरियस्स आसायणाए २० जं वाइद्धं २१ वच्चामेलियं २२ हीणक्खरं २३ अच्चक्खरं २४ पयहीणं २५ विणयहीणं २६ जोगहीणं २७ घोसहीणं २८ सुट्ठुदिण्णं २९ दुट्ठुपडिच्छियं ३० अकाले कओ सज्झाओ ३१ काले न कओ सज्झाओ ३२ असज्झाइए सज्झाइयं ३३ सज्झाइए न सज्झाइयं। इन तेतीस बोल में जानने योग्य को नहीं जाने हों, छोड़ने योग्य को नहीं छोड़े हों और आदरने योग्य को नहीं आदरे हों, तो जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

कठिन शब्दार्थ - **एगविहे** - एक प्रकार के, **असंजमे** - असंयम से, **दोहिं** - दोनों, **बंधणेहिं** - बन्धनों से, **राग बंधणेणं** - राग के बन्धन से, **दोस बंधणेणं** - द्वेष के बन्धन से, **तिहिं** - तीनों, **दंडेहिं** - दण्डों से, **मणदंडेणं** - मन दण्ड से, **वयदंडेणं** - वचन दण्ड

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से, **कायदंडेणं** - काया दण्ड से, **गुत्तीहिं** - गुप्तियों से, **मणगुत्तीए** - मनोगुप्ति से, **वयगुत्तीए** - वचनगुप्ति से, **कायगुत्तीए** - कायगुप्ति से, **सल्लेहिं** - शल्यों से, **माया सल्लेणं** - माया के शल्य से, **नियाण सल्लेणं** -निदान के शल्य से, **मिच्छादंसण सल्लेणं**- मिथ्यादर्शन के शल्य से, **गारवेहिं** - गौरवों से, **इड्ढिगारवेणं** - ऋद्धि गौरव से, **रसगारवेणं**- रस गौरव से, **सायागारवेणं** - साता गौरव से, **विराहणाहिं** - विराधनाओं से, **णाणविराहणाए**- ज्ञान की विराधना से, **दंसणविराहणाए** - दर्शन की विराधना से, **चरित्तविराहणाए** - चारित्र की विराधना से, **कसाएहिं** - कषाय से, **सण्णाहिं** - संज्ञाओं से, **विकहाहिं** - विकथाओं से, **अट्टेणं झाणेणं** - आर्त्त ध्यान से, **रुद्देणं झाणेणं** - रौद्रध्यान से, **धम्मेणं झाणेणं** - धर्म ध्यान से, **सुक्केणं झाणेणं** - शुक्ल ध्यान से, **किरियाहिं** - क्रियाओं से, **काइयाए** - कायिकी से, **अहिगरणियाए** - आधिकरणिकी से, **पाउसियाए** - प्राद्वेषिकी से, **पारितावणियाए**- पारितापनिकी से, **पाणाइवायकिरियाए** - प्राणातिपात क्रिया से, **पंचहिं** - पांचों, **कामगुणेहिं** - कामगुणों से, **सद्देणं** - शब्द से, **रूवेणं** - रूप से, **गंधेणं** - गंध से, **रसेणं** - रस से, **फासेणं** - स्पर्श से, **महव्वएहिं** - महाव्रतों से, **सव्वाओ** - सब प्रकार के, **इरिया** - ईर्या, **समिईए** - समिति से, **भासा** - भाषा, **एसणा** - एषणा, **आयाण** - आदान, **भंडमत्त** - भण्डमात्र, **निक्खेवणा** - निक्षेपणा, **उच्चार** - मल, **पासवण** - प्रस्रवण - मूत्र, **खेल** - कफ, **जल्ल** - शरीर का मैल, **सिंघाण** - नाक का मैल, **परिट्ठावणिया** - इनको परठने की, **छहिं** - छहों, **जीवनिकाएहिं** - जीव निकायों से, **किण्ह लेसाए** - कृष्ण लेश्या से, **नील लेसाए** - नील लेश्या से, **काउ लेसाए** - कापोत लेश्या से, **तेउ लेसाए** - तेजोलेश्या से, **पम्ह(पउम)लेसाए** - पद्म लेश्या से, **सुक्क लेसाए**- शुक्ल लेश्या से, **सत्तहिं** - सात, **भयट्ठाणेहिं** - भय के स्थानों से, **अट्ठहिं** - आठ, **मयट्ठाणेहिं**- मद के स्थानों से, **नवहिं** - नौ, **बंभचेरगुत्तीहिं** - ब्रह्मचर्य की गुप्तियों से, **दसविहे** - दस प्रकार के, **समणधम्मे** - श्रमण धर्म में, **एक्कारसहिं** - ग्यारह, **उवासग** - श्रावक की, **पडिमाहिं** - प्रतिमाओं से, **बारसहिं** - बारह, **भिक्खु** - भिक्षु की, **तेरसहिं** - तेरह, **किरियाठाणेहिं** - क्रिया के स्थानों से, **चउद्दसहिं** - चौदह, **भूयगामेहिं** - जीव समूहों से, **पण्णरसहिं** - पन्द्रह, **परमाहम्मिएहिं**- परमाधार्मिकों से, **सोलसहिं** - सोलह, **गाहासोलसएहिं**- गाथा षोडशकों से, **सत्तरसविहे** - सतरह प्रकार के, **अट्ठारसविहे** - अठारह प्रकार के, **अबंभे** - अब्रह्मचर्य में, **एगुणवीसाए** - उन्नीस, **णायज्झयणेहिं** - ज्ञातासूत्र के अध्ययनों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से, **वीसाए**- बीस, **असमाहि** - असमाधि से, **एगवीसाए** - इक्कीस, **सबलेहिं** - शबल दोषों से, **बावीसाए**- बावीस, **परीसहेहिं** - परीषहों से, **तेवीसाए** - तेवीस, **सूयगडज्झयणेहिं**- सूत्रकृतांग के अध्ययनों से, **चउवीसाए**- चौबीस, **देवेहिं** - देवों से, **पणवीसाए** - पच्चीस, **भावणाहिं** - भावनाओं से, **छव्वीसाए** - छब्बीस, **दसा** - दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, **कप्प** - बृहत्कल्प सूत्र, **ववहाराणं** - व्यवहार सूत्र के, **उद्देसणकालेहिं** - उद्देशनकालों से, **सत्तावीसाए** - सत्ताईस, **अणगार गुणेहिं** - साधु के गुणों से, **अट्ठावीसाए** - अट्ठाईस, **आयारप्पकप्पेहिं** - आचार प्रकल्पों से, **एगूणतीसाए** - उनतीस, **पावसुयप्पसंगेहिं** - पापश्रुतों के प्रसंगों से, **एगतीसाए**- इकतीस, **सिद्धाइगुणेहिं** - सिद्ध गुणों से, **बत्तीसाए** - बत्तीस, **जोगसंगहेहिं** - योग संग्रहों से, **तेत्तीसाए** - तेतीस, **आसायणाहिं** - आशातनाओं से, **सदेवमणुआऽसुरस्स लोगस्स** - मनुष्य, देव, असुर सहित लोक की, **सत्ताणं** - सत्त्वों की, **सुयदेवयाए** - श्रुत देवता की, **वायणायरियस्स** - वाचनाचार्य की।

भावार्थ - एक प्रकार के असंयम से निवृत्त होता हूँ । दो प्रकार के बंधनों से - राग बंधन और द्वेष बंधन से लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ । तीन प्रकार के दण्डों (मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड,) से, तीन प्रकार की गुप्तियों (मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति) से और तीन प्रकार के शल्यों (मायाशल्य, निदानशल्य और मिथ्यादर्शनशल्य) से लगे दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ । तीन प्रकार के गौरव (ऋद्धि गौरव, रस गौरव, साता गौरव) से और तीन प्रकार की विराधनाओं (ज्ञान विराधना, दर्शन विराधना और चारित्र विराधना) से होने वाले दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ। प्रतिक्रमण करता हूँ - चार प्रकार के कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) से, चार प्रकार की संज्ञाओं (आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रह संज्ञा) से, चार प्रकार की विकथाओं (स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा) से और चार प्रकार के ध्यानों (आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान शुक्लध्यान) से। कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपातक्रिया - इन पांचों क्रियाओं के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ । शब्द, रूप, गंध, रस, और स्पर्श - इन पांचों कामगुणों से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। सर्व प्राणातिपात विरमण, सर्व मृषावाद विरमण, सर्व अदत्तादान विरमण, सर्व मैथुन विरमण, सर्व परिग्रह विरमण-इन पांचों महाव्रतों का सम्यक्रूप से पालन न करने से जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ । ईर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति, उच्चार प्रस्रवण-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्लेष्म जल्लसिंघाण परिष्ठापनिका समिति, इन पांचों समितियों में जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन छह प्रकार के जीवों की हिंसा करने से जो अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ। कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्लेश्या, इन छहों लेश्याओं के द्वारा जो भी अतिचार लगा हो उसका प्रतिक्रमण करता हूं। सात भय स्थानों से, आठ मद के स्थानों से। नौ ब्रह्मचर्य की गुप्तियों से - उनका सम्यक् पालन न करने से, दश विध श्रमणधर्म की विराधना से, ग्यारह श्रावक प्रतिमाओं एवं बारह भिक्षु की प्रतिमाओं से - उनकी श्रद्धा, प्ररूपणा तथा आसेवना अच्छी तरह न करने से, तेरह क्रिया के स्थानों से, चौदह जीवों के समूह से, पन्द्रह परमाधार्मिकों जैसा भाव या आचरण करने से, सूत्रकृतांग सूत्र के सोलह अध्ययनों से, सतरह प्रकार के असंयम से, अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य में वर्तने से, ज्ञातासूत्र के उन्नीस अध्ययनों से- तदनुसार संयम में न रहने से, बीस असमाधि के स्थानों से, इक्कीस शबलों से, बाईस परीषहों से यानी उनको सहन न करने से, सूत्रकृतांग सूत्र के २३ अध्ययनों से अर्थात् तदनुसार आचरण न करने से, चौबीस देवों से, पांच महाव्रतों की पच्चीस भावनाओं से, दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र के छब्बीस उद्देशन कालों से, सत्ताईस साधु के गुणों से यानी उनको पूर्णतः धारण न करने से, आचारांग तथा निशीथ सूत्र के अट्ठाईस अध्ययनों से, उनतीस पापश्रुत के प्रसंगों से, महामोहनीय कर्म के तीस स्थानों से, सिद्धों के ३१ गुणों से, बत्तीस योग संग्रहों से और तेतीस आशातनाओं से जो कोई अतिचार लगा हो, तो उसका प्रतिक्रमण करता हूँ।

तेतीस आशातनाएँ - १ अर्हन्त २ सिद्ध ३ आचार्य ४ उपाध्याय ५ साधु ६ साध्वी ७ श्रावक ८ श्राविका ९ देव १० देवी ११ इहलोक १२ परलोक १३ केवली प्ररूपित धर्म १४ देव मनुष्य असुरों सहित समग्रलोक, १५ सर्व प्राण, भूत, जीव, सत्व १६ काल १७ श्रुतदेवता १९ वाचनाचार्य इन सबकी आशातना से तथा २० सूत्र के अक्षर उलट - पलट पढ़े हो २१ एक ही शास्त्र में अन्यान्य स्थान पर दिये गये एकार्थक सूत्रों को एक स्थान पर लाकर पढ़ा हो २२ हीन अक्षर पढ़े हो २३ अधिक अक्षर पढ़े हो, २४ पदहीन पढ़ा हो २५ विनय रहित पढ़ा हो २६ अस्थिर योग से पढ़ा हो, २७ उदात्त आदि स्वर रहित पढ़ा हो २८ शक्ति से अधिक पढ़ाया हो २९ आगम को बुरे भाव से ग्रहण किया हो ३० अकाल में स्वाध्याय किया हो ३१ काल में स्वाध्याय न किया हो ३२ अस्वाध्याय में स्वाध्याय किया

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो ३३ स्वाध्याय में स्वाध्याय न किया हो - इन तेतीस आशातनाओं से जो भी अतिचार लगा हो उसका दुष्कृत - पाप मेरे लिए मिथ्या हो।

इन तेतीस बोलों में से जानने योग्य बोल को जाना न हो, आचरण में लाने योग्य बोल का आचरण न किया हो और छोड़ने योग्य बोल को छोड़ा न हो तो उसका पाप मिथ्या (निष्फल) हो।

विवेचन - प्रस्तुत पाठ में **पडिक्कमामि एगविहे असंजमे** से लेकर **तेतीसाए आसायणाहिं** तक के सूत्र में एकविध असंयम का ही विराट् रूप बतलाया गया है। यह सब अतिचार-समूह मूलतः असंयम का ही विवरण है। **'पडिक्कमामि एगविहे असंजमे'** यह असंयम का संक्षिप्त प्रतिक्रमण है और यही प्रतिक्रमण आगे **दोहिं बंधणेहिं** आदि से लेकर **तेतीसाए आसायणाहिं** तक क्रमशः विराट् होता गया है।

प्रस्तुत पाठ में आये कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थ एवं विवेचन इस प्रकार है -

असंजमे (असंयम) - सं+यम अर्थात् सावधानी पूर्वक इच्छाओं का नियमन एवं इन्द्रिय निग्रह करना संयम कहलाता है। संयम का विरोधी असंयम है। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले रागद्वेष रूप कषाय भाव का नाम असंयम है। इसमें दृष्टि पौद्गलिक (बहिर्मुखी) हो जाती है। अतः इस सूत्र का अर्थ हुआ - संयम पथ पर चलते हुए प्रमाद वश असंयम हो गया हो, अन्तर्हृदय साधना पथ से भटक गया हो तो वहाँ से हट कर पुनः उसे संयम (आत्म-स्वरूप) में केन्द्रित करता हूँ। असंयम ही समस्त सांसारिक दुःखों का मूल है।

यद्यपि संयम के १७ भेद होने से उसके विरोधी असंयम के भी १७ भेद हैं और विस्तार की अपेक्षा से अन्य भेद भी हो सकते हैं किंतु सामान्यग्राही संग्रहनय की अपेक्षा से यहां एक ही प्रकार कहा गया है।

बंधणेहिं (बंधनों से) - **'बद्धयतेऽष्ट विधेन कर्मणा येन हेतुभूतेन तद् बन्धनम्'** अर्थात् जिसके द्वारा आठ कर्मों का बंध हो, उसे बंधन कहते हैं। राग और द्वेष - ये दो बंधन हैं। जिसके द्वारा जीव कर्मों से रंगा जाता है वह मोह की परिणति ही राग है अतः राग बंधन रूप है। जिस मोह परिणति के द्वारा शत्रुता, घृणा, क्रोध, अहंकार आदि किया जाता है, वह द्वेष है। वह भी बंधन रूप है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्नेहाभ्यक्त शरीरस्य, रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम्।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य, कर्म बन्धो भवत्येवम्॥

अर्थ - जिस मनुष्य ने शरीर पर तेल चुपड़ रखा हो उसके शरीर पर उड़ने वाली धूलि चिपक जाती है। वैसे ही राग द्वेष से युक्त आत्मा पर कर्म रज का बंध हो जाता है।

दण्डेहिं (दंडों से) - आत्मा की जिस अशुभ प्रवृत्ति से आत्मा दण्डित होता है अर्थात् दुःख का पात्र बनता है, वह दण्ड कहलाता है। दण्ड तीन प्रकार के हैं - १. मनोदण्ड २. वचनदण्ड और ३. कायदण्ड। लाठी आदि द्रव्य दण्ड है उसके द्वारा शरीर दण्डित होता है यहाँ दुष्प्रयुक्त मन आदि भावदण्ड है जिससे आत्मा दण्डित होती है।

गुत्तीहिं (गुप्तियों से) - अशुभ योग से निवृत्त हो कर शुभ योग में प्रवृत्ति करना गुप्ति है अथवा संसार के कारणों से आत्मा की सम्यक् प्रकार से रक्षा करना गुप्ति है। गुप्ति के तीन भेद हैं - १. मनोगुप्ति २. वचनगुप्ति और ३. कायगुप्ति।

सल्लेहिं (शल्यों से) - **'शल्यतेऽनेनेति शल्यम्'** जिसके द्वारा अन्तर में पीड़ा सालती रहती हो, कसकती रहती हो वह तीर, कांटा आदि द्रव्य शल्य है और माया आदि भाव शल्य है। द्रव्य शल्य कांटा तीर आदि शरीर में घुस जावे और नहीं निकले तब तक वह चैन नहीं लेने देता, उसी प्रकार मायादि शल्य अन्तरात्मा को शांति नहीं लेने देते हैं। तीनों ही शल्य तीव्र कर्म बन्ध के हेतु हैं। अतः दुःखोत्पादक होने के कारण शल्य है। सूत्रोक्त शल्य के तीन भेद इस प्रकार हैं -

१. माया शल्य - माया अर्थात् कपट। माया, एक तीक्ष्ण धार वाली ऐसी तलवार है जो क्षण भर में स्नेह संबंधों को काट देती है।

२. निदान शल्य - धर्माचरण के द्वारा सांसारिक फल की कामना करना, भोगों की लालसा रखना, निदान शल्य कहलाता है।

३. मिथ्यादर्शन शल्य - सत्य पर श्रद्धा न रखना एवं असत्य का कदाग्रह रखना मिथ्यादर्शन शल्य होता है। यह शल्य सम्यग्दर्शन का विरोधी है।

गारवेहिं (गौरवों से) - गौरव का अर्थ है - गुरुत्व - भारीपन। पत्थर आदि की गुरुता द्रव्य गौरव है और अभिमान एवं लोभ के कारण होने वाला आत्मा का अशुभ भाव भाव गौरव है। गौरव के तीन भेद इस प्रकार हैं -

१. ऋद्धिगौरव - ऊंचा पद, सत्कार-सम्मान, वंदन, उग्र व्रत, अनुयायी शिष्य संपदा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विद्या आदि का अभिमान करना, इन्हें प्राप्त करने की लालसा रखना ऋद्धिगौरव कहलाता है।

२. रसगौरव - दूध, दही, घृत आदि मधुर एवं स्वादिष्ट रसों की इच्छानुसार प्राप्ति होने पर अभिमान करना और प्राप्ति न होने पर उनकी लालसा रखना रसगौरव है।

३. सातागौरव - साता का अर्थ - आरोग्य एवं शारीरिक सुख है। अतएव आरोग्य, शारीरिक सुख तथा वस्त्र, पात्र, शयनासन आदि सुख के साधनों के मिलने पर अभिमान करना और न मिलने पर उसकी लालसा-इच्छा करना, सातागौरव है।

विराहणाहिं (विराधनाओं से) - ज्ञानादि आचार का सम्यक् रूप से आराधन न करना, उनका खण्डन करना, उनमें दोष लगाना 'विराधना' है। विराधना तीन प्रकार की होती है - १. ज्ञान विराधना २. दर्शन विराधना ३. चारित्र विराधना।

कसाएहिं (कषायों से) - **'कष्यते प्राणी विविध दुःखैरस्मिन्निति कषः=संसारः तस्य आयो लाभो येभ्यस्ते कषायः'** - जिसमें प्राणी विविध दुःखों के द्वारा कष्ट पाते हैं। वह संसार (कष) है। उस संसार का लाभ कषाय है अथवा **'दुःखशस्यं कर्मक्षेत्रं कृषन्ति फलवत्कुर्वन्ति इति कषायः'** - जो दुःख रूप धान्य को पैदा करने वाले कर्म रूपी खेत का कर्षण करते हैं, फल वाले करते हैं, वे कषाय हैं।

आत्मा को इस संसार में परिभ्रमण कराने वाले या गमनागमन रूप कण्टकों में प्राणियों को घसीटने वाले अथवा आत्मा को मलिन करने वाले जीव परिणाम को 'कषाय' कहते हैं। कषाय चार हैं - १. क्रोध २. मान ३. माया और ४. लोभ।

अपनी आत्मा का हित चाहने वाले साधक को पाप बढ़ाने वाले क्रोध, मान, माया तथा लोभ इन चारों कषायों का त्याग कर देना चाहिये। आत्मा का कषायों द्वारा जितना अहित होता है उतना किसी भी अन्य शत्रु द्वारा नहीं होता। कषाय, कर्मबंध के प्रबल कारण हैं। ये ही आत्मा को संसार-भ्रमण कराते हैं।

सण्णाहिं (संज्ञाओं से) - कर्मोदय के प्राबल्य से होने वाली अभिलाषा - इच्छा, संज्ञा कहलाती है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह के भेद से संज्ञा चार प्रकार की कही है।

विकहाहिं (विकथाओं से) - **'विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा'** संयम जीवन को दूषित करने वाली विरुद्ध कथा, विकथा कही जाती है। विकथा के चार भेद इस प्रकार हैं -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१. स्त्रीकथा - अमुक देश, जाति, कुल की अमुक स्त्री सुंदर अथवा कुरूप होती है। वह बहुत सुंदर वस्त्राभूषण पहनती है। गाना भी बहुत सुंदर गाती है। इत्यादि विचार से ब्रह्मचर्य आदि व्रतों में दोष लगने की संभावना होने से इसको अतिचार का हेतु माना गया है।

२. भक्तकथा - भक्त कथा चार प्रकार की कही गई है -

१. आवाप - अमुक रसोई में इतना घी, इतना शाक, इतना मसाला ठीक रहेगा।

२. निर्वाप - इतने पकवान थे, इतना शाक था, मधुर था इस प्रकार देखे हुए भोज्य पदार्थ की कथा करना।

३. आरम्भ - अमुक रसोई में इतने शाक और फल आदि की जरूरत रहेगी, इत्यादि।

४. निष्ठान - अमुक भोज्य पदार्थों में इतने रुपये लगेंगे आदि।

३. देशकथा - देशों की विविध वेशभूषा, श्रृंगार रचना, भोजन पद्धति, गृह निर्माण कला, रीतिरिवाज आदि की प्रशंसा या निंदा करना देशकथा है।

४. राजकथा - राजाओं की सेना, रानियों, युद्ध कला, भोग विलास आदि का वर्णन राजकथा कहलाती है।

झाणेहिं (ध्यानों से) - अंतर्मुहूर्त्त काल तक स्थिर अध्यवसान एवं मन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। ध्यान, प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार का होता है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अप्रशस्त ध्यान है तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त ध्यान है। चार ध्यान का स्वरूप इस प्रकार है -

१. आर्त्तध्यान - आर्त्त का अर्थ है दुःख, व्यथा, कष्ट या पीड़ा। आर्त्त के निमित्त से जो ध्यान होता है वह आर्त्तध्यान कहलाता है। अनिष्ट वस्तु के संयोग से, इष्ट वस्तु के वियोग से, रोग आदि के कारण तथा भोगों की लालसा से मन में जो एक प्रकार की विकलता-सी अर्थात् पीड़ा-सी होती है और जब वह एकाग्रता का रूप धारण करती है तब आर्त्तध्यान कहलाती है।

२. रौद्रध्यान - हिंसा आदि अत्यंत क्रूर विचार रखने वाला व्यक्ति रुद्र कहलाता है। रुद्र व्यक्ति के मनोभावों को रौद्रध्यान कहा जाता है अथवा छेदन, भेदन, दहन, बंधन, मारण, प्रहरण, दमन, कर्तन आदि के कारण रागद्वेष का उदय हो और दया न हो, ऐसे आत्मपरिणाम को रौद्रध्यान कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. धर्मध्यान - वीतराग की आज्ञा रूप धर्म से युक्त ध्यान को धर्मध्यान कहते हैं। अथवा आगम के पठन व्रतधारण, बंध मोक्षादि, इन्द्रिय दमन तथा प्राणियों पर दया करने के चिंतन को धर्मध्यान कहते हैं।

४. शुक्लध्यान - कर्ममल को शोधन करने वाला तथा शोक को दूर करने वाला ध्यान शुक्लध्यान है। जिसकी इन्द्रियां विषयवासना रहित हों, संकल्प विकल्प आदि दोषयुक्त जो तीन योग हैं उनसे रहित महापुरुष के ध्यान को शुक्लध्यान कहते हैं।

किरियाहिं (क्रियाओं से) - कर्मबंधन कराने वाली चेष्टा अर्थात् हिंसा प्रधान दुष्ट व्यापार विशेष को क्रिया कहते हैं। मूल क्रियाएं पांच हैं। विस्तार से क्रिया के २५ भेद माने गये हैं। पांच भेद इस प्रकार हैं -

१. काइयाए (कायिकी) - काय के द्वारा होने वाली क्रिया कायिकी क्रिया कहलाती है।

२. अहिगरणियाए (आधिकरणिकी) - जिसके द्वारा आत्मा नरक आदि दुर्गति का अधिकारी होता है वह दुर्मंत्रादि का अनुष्ठान विशेष अथवा घातक शस्त्र आदि 'आधिकरण' कहलाता है। आधिकरण से लगने वाली क्रिया आधिकरणिकी क्रिया कहलाती है।

३. पाउसियाए (प्राद्वेषिकी) - प्रद्वेष का अर्थ है - मत्सर, डाह, ईर्षा। जीव तथा अजीव किसी भी पदार्थ के प्रति द्वेष भाव रखना, प्राद्वेषिकी क्रिया कहलाती है।

४. परियावणियाए (पारितापनिकी) - ताड़न आदि के द्वारा दिया जाने वाला दुःख 'परितापन' कहलाता है। परितापन से निष्पन्न होने वाली क्रिया पारितापनिकी क्रिया कहलाती है।

५. पाणाइवाइयाए (प्राणातिपातिकी) - प्राणों का अतिपात - विनाश 'प्राणातिपात' कहलाता है। प्राणातिपात से होने वाली क्रिया प्राणातिपातिकी क्रिया कहलाती है।

कामगुणेहिं (कामगुणों से) - काम का अर्थ है - विषयभोग। काम के साधनों - शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श को कामगुण कहते हैं। कामगुण में 'गुण' शब्द श्रेष्ठता का वाचक न होकर केवल बंध हेतु वाचक है।

महव्वएहिं (महाव्रतों से) - अहिंसा, सत्य, अस्तेय - चोरी का त्याग, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह - ये जब मर्यादित - सीमित रूप से ग्रहण किये जाते हैं तब अणुव्रत कहलाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अणुव्रत का अधिकारी गृहस्थ होता है क्योंकि गृहस्थ अवस्था में रहने के कारण साधक, अहिंसा आदि की साधना के पथ पर पूर्णतया नहीं चल सकता, हिंसा आदि का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता। किंतु साधु का जीवन गृहस्थ के उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्त होता है अतः वह अहिंसा आदि व्रतों की नव कोटि से सदा सर्वथा पूर्ण साधना करता है फलतः साधु के अहिंसा आदि व्रत महाव्रत कहलाते हैं अथवा महान् पुरुषों के द्वारा आचरित महान् अर्थ मोक्ष का प्रसाधन और स्वयं भी व्रतों में महान् होने से महाव्रत कहलाते हैं। कहा भी है - **"जाति देशकालसमयाऽनवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रताः"** अर्थात् जात्यादि की सीमा से रहित सब अवस्थाओं में पालन करने योग्य महाव्रत कहलाते हैं। ऐसे पांच महाव्रत इस प्रकार हैं -

१. सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं (सर्व प्राणातिपात विरमण - अहिंसा) - किसी प्रकार की हिंसा न स्वयं करना, न दूसरे से कराना, न करने वालों का अनुमोदन करना, मन से, वचन से और काया से।

२. सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं (सर्व मृषावाद विरमण - सत्य) - किसी प्रकार का झूठ बोलना नहीं, बुलवाना नहीं और बोलने वालों का अनुमोदन करना नहीं - मन से, वचन से और काया से।

३. सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं (सर्व अदत्तादान विरमण - अस्तेय) - किसी प्रकार की चोरी स्वयं करनी नहीं, न दूसरों से करानी और करने वालों की अनुमोदना भी करनी नहीं, मन से, वचन से और काया से।

४. सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं (सर्व मैथुन विरमण - ब्रह्मचर्य) - किसी प्रकार का मैथुन स्वयं सेवन करना नहीं, करवाना नहीं और न ही करने वालों का अनुमोदन करना, मन से, वचन से और काया से।

५. सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं (सर्व परिग्रह विरमण - अपरिग्रह) - किसी प्रकार का परिग्रह रखना नहीं, रखवाना नहीं और रखने वाले का अनुमोदन करना नहीं, मन से, वचन से, काया से।

समिइहिं (समितियों से) - विवेकयुक्त होकर प्रवृत्ति करना, समिति है। समिति शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ इस प्रकार है - **"सम = एकीभावेन इतिः प्रवृत्तिः समिति, शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थः"**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् प्राणातिपात आदि पापों से निवृत्त रहने के लिए प्रशस्त एकाग्रतापूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति समिति कहलाती है। समिति के पांच प्रकार इस प्रकार हैं -

१. इरियासमिइए (ईर्यासमिति) - युग परिमाण भूमि को एकाग्रचित्त से देखते हुए, जीवों को बचाते हुए यतनापूर्वक गमनागमन करना, ईर्यासमिति है।

२. भासासमिइए (भाषासमिति) - आवश्यकता होने पर भाषा के दोषों का परिहार करते हुए यतना पूर्वक भाषण में प्रवृत्ति करना फलतः हित, मित, सत्य एवं स्पष्ट वचन कहना भाषासमिति कहलाती है।

३. एसणासमिए (एषणा समिति) - गोचरी के ४२ दोषों को टालते हुए शुद्ध आहारपानी तथा वस्त्र, पात्र, उपधि ग्रहण करना एषणा समिति है।

४. आयाणभंडमत्त णिक्खेवणा समिए (आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति) - वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि भाण्ड मात्र - उपकरणों को उपयोगपूर्वक आदान = ग्रहण करना एवं जीव रहित प्रमार्जित भूमि पर निक्षेपण = रखना आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति होती है।

५. उच्चार पासवण खेल जल्ल सिंघाण परिट्ठावणिया समिए (उच्चार प्रस्रवण खेल जल्ल सिंघाण परिष्ठापनिका समिति) - मल, मूत्र, कफ, शरीर का मल, नाक का मल आदि परठने योग्य वस्तुओं को जीवरहित एकांत स्थण्डिल भूमि में यतनापूर्वक परठना, परिष्ठापनिका समिति है।

जीवणिकाएहिं (जीव निकायों से) - जीवनिकाय शब्द, जीव और निकाय - इन दो शब्दों से बना है। जीव का अर्थ है - चैतन्य = आत्मा और निकाय का अर्थ है - राशि अर्थात् समूह। जीवों की राशि को जीवनिकाय कहते हैं। जीवनिकाय छह हैं -

१. पुढवीकाएणं (पृथ्वीकाय) - जिन जीवों का शरीर पृथ्वी रूप हैं, वे पृथ्वीकाय कहलाते हैं।

२. आउकाएणं (अप्काय) - जिन जीवों का शरीर जल रूप हैं, वे अप्काय कहलाते हैं।

३. तेउकाएणं (तेजस्काय) - जिन जीवों का शरीर अग्निरूप हैं, वे तेजस्काय कहलाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४. वाउकाएणं (वायुकाय) - जिन जीवों का शरीर वायु रूप हैं, वे वायुकाय कहलाते हैं।

५. वणस्सइकाएणं (वनस्पतिकाय) - जिन जीवों का शरीर वनस्पति रूप हैं, वे वनस्पतिकाय कहलाते हैं।

ये पांच स्थावरकाय हैं। इनको केवल एक स्पर्शनइन्द्रिय होती हैं।

६. तसकाएणं (त्रसकाय) - त्रसनामकर्म के उदय से गतिशील शरीर को धारण करने वाले द्वीन्द्रिय - कीड़े आदि, त्रीन्द्रिय - यूका खटमल आदि, चतुरिन्द्रिय - मक्खी मच्छर आदि और पंचेन्द्रिय - पशु पक्षी, मनुष्य, देव आदि जीव त्रसकाय कहलाते हैं।

लेसाहिं (लेश्याओं से) - **"लिश सश्लेषणे संश्लिष्यते आत्मा तैस्तैः परिणामान्तरैरितिलेश्याः"** - आत्मा के जिन शुभाशुभ परिणामों के द्वारों शुभाशुभ कर्म का संश्लेष होता है वे परिणाम लेश्या कहलाते हैं।

कृष्णादि द्रव्यसाचिव्यात् परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्दः प्रवर्तते।

अर्थ - जैसे स्फटिक मणि के पास जिस वर्ण की वस्तु रख दी जाती है स्फटिक मणि उसी वर्ण वाली प्रतीत होती है उसी प्रकार कृष्णादि द्रव्यों के संसर्ग से आत्मा में भी उसी तरह का परिणाम होता है। यह परिणाम भाव लेश्या रूप है और कृष्णादि द्रव्य लेश्या है यह लेश्या योगान्तर्गत द्रव्य है।

लेश्या के छह भेद हैं - १. कृष्ण लेश्या २. नील लेश्या ३. कापोत लेश्या ४. तेजो लेश्या ५. पद्म लेश्या और ६. शुक्ल लेश्या। प्रथम की तीन लेश्याएं अशुभ (अधर्म) लेश्याएं हैं जबकि अंतिम की तीन लेश्याएं शुभ (धर्म) लेश्याएं हैं।

भयट्ठाणेहिं (भय स्थान) - भय मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले आत्मा के उद्वेग रूप परिणाम विशेष को 'भय' कहते हैं। भय के सात स्थान ये हैं -

१. इहलोकभय - अपनी ही जाति के प्राणी से डरना, इहलोकभय है। जैसे मनुष्य का मनुष्य से, तिर्यंच का तिर्यंच से डरना।

२. परलोकभय - दूसरी जाति वाले प्राणी से डरना, परलोक भय है। जैसे मनुष्य का देव से या तिर्यंच आदि से डरना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. **आदानभय** - अपनी वस्तु की रक्षा के लिए चोर आदि से डरना।

४. **अकस्मात्भय** - किसी बाह्य निमित्त के बिना अपने आप ही सशंक हो कर रात्रि आदि में अचानक डरने लगना।

५. **आजीविकाभय** - दुर्भिक्ष आदि में जीवन यात्रा के लिए भोजन आदि की अप्राप्ति के दुर्विकल्प से डरना*।

६. **मरणभय** - मृत्यु से डरना।

७. **अश्लोकभय** - अपयश की आशंका से डरना।

मयट्ठाणेहिं (मद स्थान) - **'मदो नाम मानोदयादात्मोत्कर्ष परिणामः। स्थानानि तस्यैव पर्याया भेदाः।'** अर्थात् मान मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले आत्मा के परिणाम विशेष को मद कहते हैं। ये त्याज्य हैं। समवायांग सूत्र के अनुसार आठ मद स्थान इस प्रकार हैं-

१. **जाति मद** - ऊंची और श्रेष्ठ जाति का अभिमान।

२. **कुल मद** - ऊंचे कुल का अभिमान।

३. **बल मद** - अपने बल का घमण्ड करना।

४. **रूप मद** - अपने रूप, सौन्दर्य का गर्व करना।

५. **तप मद** - उग्र तपस्वी होने का अभिमान।

६. **श्रुत मद** - शास्त्राभ्यास का अर्थात् पण्डित होने का अभिमान।

७. **लाभ मद** - अभीष्ट वस्तु के मिल जाने पर अपने लाभ का अहंकार।

८. **ऐश्वर्य मद** - अपने ऐश्वर्य अर्थात् प्रभुत्व का अहंकार।

मान मोहनीय कर्म के उदय से जन्य ये आठों ही मद सर्वथा त्याज्य हैं।

बंभचेर गुत्तिहिं - उत्तराध्ययन सूत्र के १६वें अध्ययन के अनुसार ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियां इस प्रकार हैं -

१. **विविक्त वसति सेवन** - स्त्री, पशु और नपुंसकों से युक्त स्थान में न ठहरे।

२. **स्त्रीकथा परिहार** - स्त्रियों की कथावार्त्ता सौन्दर्य आदि की चर्चा न करे।

---

* ठाणांग सूत्र में **आजीविका** के स्थान पर **वेयणा भय** (वेदना या पीड़ा का भय)है। समवायांग सूत्र में विवेचन उपरोक्त अनुसार है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. **निषद्यानुपवेशन** - स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे, उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त्त तक उस आसन पर न बैठे।

४. **स्त्री अंगोपांग दर्शन** - स्त्रियों के मनोहर अंग उपांग न देखे। यदि कभी अकस्मात् दृष्टि पड़ जाय तो सहसा हटा ले, फिर उसका ध्यान न करे।

५. **कुड्यान्तर शब्द श्रवणादि वर्जन** - दीवार आदि की आड़ से स्त्री के शब्द, गीत, रूप आदि न सुने और न देखे।

६. **पूर्वभोगाऽस्मरण** - पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करे।

७. **प्रणीत भोजन-त्याग** - विकारोत्पादक गरिष्ठ भोजन न करे।

८. **अतिमात्र भोजन-त्याग** - रूखा सूखा भोजन भी अधिक न करे।

९. **विभूषा परिवर्जन** - अपने शरीर की विभूषा-सजावट न करे।

समणधम्मे (श्रमण धर्म) - दशविध श्रमण धर्म का वर्णन पूर्व में पृ० २३ पर दिया जा चुका है।

उवासगपडिमाहिं (उपासक प्रतिमा) - उपासक का अर्थ श्रावक होता है और प्रतिमा का अर्थ - प्रतिज्ञा - अभिग्रह है। उपासक की प्रतिमा, उपासक-प्रतिमा कहलाती है। ये ग्यारह हैं -

१. **दर्शन प्रतिमा** - शुद्ध, अतिचार रहित समकित धर्म पाले। यह प्रतिमा एक मास की है।

२. **व्रत प्रतिमा** - नाना प्रकार के व्रत-नियमों का अतिचार रहित पालन करे। यह प्रतिमा दो मास की है।

३. **सामायिक प्रतिमा** - सदैव अतिचार-रहित सामायिक करे। यह प्रतिमा तीन मास की है।

४. **पौषध प्रतिमा** - अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वों का अतिचार रहित पौषध करे। यह प्रतिमा चार मास की है।

५. **कायोत्सर्ग प्रतिमा** - सदैव रात्रि में कायोत्सर्ग करे और पांच बातों का पालन करे - १. स्नान नहीं करे २. रात्रि भोजन त्यागे ३. धोती की लांग खुली रखे ४. दिन को ब्रह्मचर्य पाले और ५. रात्रि को ब्रह्मचर्य का परिमाण करे। यह प्रतिमा जघन्य एक, दो, तीन दिन, उत्कृष्ट पांच मास की है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

६. ब्रह्मचर्य प्रतिमा – अतिचार रहित पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करे। यह प्रतिमा जघन्य एक, दो, तीन दिन, उत्कृष्ट छह मास की है।

७. सचित्त त्याग प्रतिमा – सचित्त वस्तु नहीं भोगे। यह प्रतिमा जघन्य एक, दो, तीन दिन, उत्कृष्ट सात मास की है।

८. आरंभ-त्याग प्रतिमा – स्वयं आरंभ नहीं करे। यह प्रतिमा जघन्य एक, दो, तीन दिन, उत्कृष्ट आठ मास की है।

९. प्रेष्य प्रतिमा – दूसरे से भी आरम्भ नहीं करावे। यह प्रतिमा जघन्य एक, दो, तीन दिन, उत्कृष्ट नव मास की है।

१०. उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा – अपने वास्ते आरंभ करके कोई वस्तु देवे, तो लेवे नहीं। खुरमुण्डन करावे या शिखा रखे। कोई उनसे संसार सम्बन्धी कोई बात एक-बार पूछे या बार-बार पूछे, तब जानता होवे, तो 'हाँ' कहे और नहीं जानता होवे तो 'ना' कहे। यह प्रतिमा जघन्य एक, दो, तीन दिन, उत्कृष्ट दस मास की है।

११. श्रमणभूत प्रतिमा – खुरमुण्डन करावे, या लोच करे। साधु जितना ही उपकरण, पात्र, रजोहरणादि रखे✪। स्वज्ञाति की गोचरी करे और कहे कि 'मैं श्रावक हूँ।' साधु के समान उपदेश देवे। यह प्रतिमा उत्कृष्ट ग्यारह मास की है।

सभी प्रतिमाओं में साढ़े पांच वर्ष लगते हैं।

भिक्खुपडिमाहिं (भिक्षु प्रतिमा) – बारह भिक्षु प्रतिमाओं का यथा शक्ति आचरण न करना श्रद्धा न करना तथा प्ररूपणा न करना अतिचार है। भिक्षु प्रतिमा के नाम इस प्रकार हैं – १. एक मासिकी भिक्षु प्रतिमा २. दो मासिकी भिक्षु प्रतिमा ३. तीन मासिकी भिक्षु प्रतिमा ४. चार मासिकी भिक्षु प्रतिमा ५. पाँच मासिकी भिक्षु प्रतिमा ६. छह मासिकी भिक्षु प्रतिमा ७. सात मासिकी भिक्षु प्रतिमा ८. प्रथमा सप्त रात्रि दिवा भिक्षु प्रतिमा ९. द्वितीया सप्त रात्रि दिवा भिक्षु प्रतिमा १०. तृतीया सप्त रात्रि दिवा भिक्षु प्रतिमा ११. अहो रात्रि की भिक्षु पडिमा १२. एक रात्रि की भिक्षु प्रतिमा। भिक्षु की बारह प्रतिमायें नीचे लिखे हुए चौदह नियम से होती है। **पहली प्रतिमा** एक मास की है, जिसका पालन इस प्रकार होता है –

१. शरीर पर ममता नहीं रखे, शरीर की शुश्रूषा नहीं करे। देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग समभाव से सहन करे।

✪ पूर्वाचार्यों ने प्रतिमाधारियों का रजोहरण बिना निशिथिये का होना बताया है, जो उचित है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अगली प्रतिमाओं में अन्न व पानी की दाति में बढ़ोतरी होगी लेकिन बाकी नियम प्रथम प्रतिमा अनुसार पालन करना होता है। आठवीं व ऊपर की प्रतिमाओं में तपस्या आदि का विधान है, बाकी नियम पूर्ववत् पालन करना होता है।

२. एक दाति आहार और एक दाति पानी, प्रासुक तथा एषणिक लेवे। (दाति=धार=एक साथ, धारखण्डित हुए बिना जितना पात्र में पड़े, उतने को 'दाति' कहते हैं)।

३. प्रतिमाधारी साधु, गोचरी के लिए दिन के तीन विभाग करे और तीन विभागों में से चाहे जिस एक विभाग में गोचरी करे।

४. प्रतिमाधारी साधु, छह प्रकार से गोचरी करे - १. पेटी के आकारे २. अर्ध पेटी के आकारे ३. बैल के मूत्र के आकारे ४. जिस प्रकार पतंगिया क्रमशः फूलों पर नहीं बैठता हुआ छुट कर फूलों से मकरंद ग्रहण करता है इस प्रकार गोचरी करे ५. शंखावर्त्तन और ६. जाते हुए करे, तो आते हुए नहीं करे और आते हुए करे, तो जाते हुए नहीं करे।

५. गांव के लोगों को मालूम हो जाय कि 'यह प्रतिमाधारी मुनि है,' तो वहाँ एक रात ही रहे और ऐसा मालूम नहीं हो, तो दो रात्रि रहे। उपरान्त जितनी रात रहे उतना प्रायश्चित्त का भागी बने।

६. प्रतिमाधारी साधु, चार कारण से बोलते हैं - १. याचना करते २. मार्ग पूछते ३. आज्ञा प्राप्त करते और ४. प्रश्न का उत्तर देते।

७. प्रतिमाधारी साधु, तीन स्थान में निवास करे - १. बाग -बगीचा २. श्मशान-छत्री ३. वृक्ष के नीचे। इनकी याचना करे।

८. प्रतिमाधारी साधु, तीन प्रकार की शय्या ले सकते हैं - १. पृथ्वी शिला २. काष्ठ पटीया ३. यथासंस्तृत (पहले से बिछी हुई)।

९. प्रतिमाधारी साधु, जिस स्थान में हैं, वहाँ स्त्री आदि आवे, तो भय के मारे बाहर निकले नहीं। कोई बरबस हाथ पकड़ कर निकाले, तो ईर्यासमिति सहित बाहर हो जावे तथा वहाँ आग लगे तो भी भय से बाहर आवे नहीं, कोई बाहर निकाले, तो ईर्यासमिति पूर्वक बाहर निकल जावे।

१०. प्रतिमाधारी साधु के पाँव में काँटा लग जाय अथवा आँख में काँटा (धूल तृण आदि) गिर जावे, तो आप उसे अपने हाथों से निकाले नहीं।

Jain Education International　For Personal & Private Use Only　www.jainelibrary.org

११. प्रतिमाधारी साधु, सूर्योदय से सूर्य के अस्त होने तक विहार करे, बाद में एक कदम भी चले नहीं।

१२. प्रतिमाधारी साधु को सचित्त पृथ्वी पर बैठना या सोना कल्पे नहीं तथा सचित्त रज लगे हुए पैरों से गृहस्थ के यहाँ गोचरी जाना कल्पे नहीं।

१३. प्रतिमाधारी साधु, प्रासुक जल से भी हाथ पाँव और मुंह आदि धोवे नहीं, अशुचि का लेप दूर करने के लिए धोना कल्पता है।

१४. प्रतिमाधारी साधु के मार्ग में हाथी, घोड़ा अथवा सिंह आदि जंगली जानवर सामने आये हों तो भी भय से रास्ता छोड़े नहीं, यदि वह जीव डरता हो, तो तुरंत अलग हट जावे तथा रास्ते चलते धूप में से छाया और छाया से धूप में आवे नहीं और शीत-उष्ण का उपसर्ग समभाव से सहन करे।

दूसरी प्रतिमा एक मास की, जिसमें दो दाति अन्न और दो दाति पानी लेना कल्पता है।

तीसरी प्रतिमा एक मास की। जिसमें तीन दाति अन्न और तीन दाति पानी लेना कल्पे। इसी प्रकार **चौथी, पाँचवीं, छठी** और **सातवीं** प्रतिमा भी एक-एक मास की है। इनमें क्रमशः चार दाति, पांच दाति, छह दाति और सात दाति आहार पानी लेना कल्पे।

आठवीं प्रतिमा सात दिन की। चौविहार एकान्तर तप करे, ग्राम के बाहर रहे, इन तीन आसन में से एक आसन करे-चित्ता सोवे, करवट (एक बाजु पर) सोवे, पलांठी लगा कर सोवे। परीषह से डरे नहीं।

नौवीं प्रतिमा सात दिन की ऊपर प्रमाणे। इतना विशेष कि इन तीन आसन में से एक आसन करे-दण्ड आसन, लकुट आसन या उत्कट आसन।

दसवीं प्रतिमा सात दिन की, ऊपर प्रमाणे। इतना विशेष कि इन तीन में से एक आसन करे-गोदुह आसन, वीरासन और अम्बकुब्ज आसन।

ग्यारहवीं प्रतिमा एक दिन रात की। चौविहार बेला करे, गांव बाहर पांव संकोच कर और हाथ फैलाकर कायोत्सर्ग करे।

बारहवीं प्रतिमा एक रात की। चौविहार तेला करे। गांव के बाहर शरीर वोसिरावे, नेत्र खुले रखे, पाँव संकोचे, हाथ पसारे और अमुक वस्तु पर दृष्टि लगाकर ध्यान करे। देव मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी उपसर्ग सहे। इस प्रतिमा के आराधन से अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन तीन में से एक ज्ञान होता है। चलायमान हो जाय तो पागल बन जाय, दीर्घकाल का रोग हो जाय और केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाय।

इन कुल बारह प्रतिमाओं का काल ७ मास २८ दिन का है।

किरियाठाणेहिं (क्रिया स्थान) - यहां क्रिया का अर्थ कार्य है। तेरह क्रिया स्थान इस प्रकार है -

१. अर्थ क्रिया - **'अर्थाय क्रिया अर्थक्रिया'** - अपने किसी अर्थ - प्रयोजन के लिए त्रस स्थावर जीवों की हिंसा करना, कराना तथा अनुमोदन करना।

२. अनर्थ क्रिया - बिना किसी प्रयोजन के किया जाने वाला पाप कर्म अनर्थ क्रिया कहलाता है। व्यर्थ ही किसी को सताना, पीड़ा देना।

३. हिंसा क्रिया - अमुक व्यक्ति मुझे अथवा मेरे स्नेहियों को कष्ट देता है, देगा अथवा दिया है - यह सोच कर किसी प्राणी की हिंसा करना हिंसा क्रिया है।

४. अकस्मात् क्रिया - शीघ्रतावश बिना जाने हो जाने वाला पाप, अकस्मात् क्रिया है। बाणादि से अन्य की हत्या करते हुए अचानक ही अन्य किसी की हत्या हो जाना।

५. दृष्टि विपर्याय क्रिया - मति-भ्रम से होने वाला पाप। चोरादि के भ्रम से साधारण अनपराधी पुरुष को दण्ड दे देना।

६. मृषा क्रिया - झूठ बोलना।

७. अदत्तादान क्रिया - चोरी करना।

८. अध्यात्म क्रिया - बाह्य निमित्त के बिना मन में होने वाला शोक आदि का दुर्भाव।

९. मान क्रिया - अपनी प्रशंसा करना, घमण्ड करना।

१०. मित्र क्रिया - प्रियजनों को कठोर दण्ड देना।

११. माया क्रिया - दम्भ करना।

१२. लोभ क्रिया - लोभ करना।

१३. ईर्यापथिकी क्रिया - अप्रमत्त विवेकी संयमी को गमनागमन से लगने वाली क्रिया।

भूयग्गामेहिं (भूतग्राम) - भूतग्राम यानी जीव समूह। सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय - इन सातों के अपर्याप्त और पर्याप्त ये कुल चौदह भेद भूतग्राम के होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परमाहम्मिएहिं (परमाधार्मिक) - परम अधार्मिक, पापाचारी, क्रूर एवं निर्दय असुरजाति के पन्द्रह देवों के नाम इस प्रकार हैं - १. अम्ब २. अम्बरीष ३. श्याम ४. सबल ५. रौद्र ६. महारौद्र ७. काल ८. महाकाल ९. असिपत्र १०. धनु ११. कुम्भ १२. वालुक १३. वैतरणी १४. खरस्वर १५. महाघोष। ये पन्द्रह परमाधार्मिक देव हैं।

गाहासोलसएहिं (गाथा षोडशक) - सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के गाथा षोडशक - सोलह अध्ययन इस प्रकार हैं -

१. समय २. वैतालीय ३. उपसर्ग परिज्ञा ४. स्त्री परिज्ञा ५. नरक विभक्ति ६. महावीर स्तुति ७. कुशील परिभाषित ८. वीर्य ९. धर्म १०. समाधि ११. मार्ग १२. समवसरण १३. यथातथ्य १४. ग्रन्थ १५. आदानीय १६. गाथा।

असंजमे (असंयम) - मन, वचन और काया की सावद्य व्यापार में प्रवृत्ति होना असंयम है। समवायांग सूत्र में वर्णित सतरह असंयम इस प्रकार हैं -

१-९. पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा करना, कराना, अनुमोदन करना।

१०. अजीव असंयम -अजीव होने पर भी जिन वस्तुओं के द्वारा असंयम होता है, उन बहुमूल्य वस्त्र, पात्र आदि का ग्रहण करना अजीव असंयम है।

११. प्रेक्षा असंयम - जीव सहित स्थान में उठना, बैठना, सोना आदि।

१२. उपेक्षा असंयम - गृहस्थ के पाप कर्मों का अनुमोदन करना।

१३. अपहृत्य असंयम - अविधि से परठना। इसे परिष्ठापना असंयम भी कहते हैं।

१४. प्रमार्जना असंयम - वस्त्र पात्र आदि का प्रमार्जन न करना।

१५. मनः असंयम - मन में दुर्भाव रखना।

१६. वचन असंयम - कुवचन बोलना।

१७. काय असंयम - गमनागमनादि में असावधान रहना।

अबंभेहिं (अब्रह्मचर्य) - समवायांग सूत्र में अब्रह्मचर्य के अठारह भेद इस प्रकार कहे हैं - देव संबंधी भोगों का मन, वचन और काया से स्वयं सेवन करना, दूसरों से सेवन कराना तथा सेवन करते हुए को भला जानना - इस प्रकार नौ भेद वैक्रिय शरीर संबंधी होते हैं। मनुष्य तथा तिर्यंच संबंधी औदारिक भोगों के भी इसी तरह नौ भेद समझ लेने चाहिए। कुल मिलाकर ये अठारह भेद होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

णायज्झयणेहिं (ज्ञाता के अध्ययन) - ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के १९ अध्ययन इस प्रकार हैं -

१. उत्क्षिप्तज्ञान (मेघकुमार का) २. संघाट (धन्नासार्थवाह और विजय चोर का) ३. अंड (मयूरी के अण्डों का) ४. कूर्म (कछुए का) ५. शैलक (थावच्चापुत्र और शैलक राजर्षि का) ६. तुंबे का ७. रोहिणीज्ञात (धन्नासार्थवाह और चार बहुओं का) ८. मल्ली (मल्ली भगवती का) ९. माकंदी (जिनपाल और जिनरक्षित का) १०. चन्द्र की कला का ११. दावद्रव वृक्ष का १२. उदकज्ञात (जितशत्रु राजा और सुबुद्धि प्रधान का) १३. दर्दुरज्ञात (नन्द मणिकार का) १४. तेतलीपुत्र (तेतलीपुत्र प्रधान और पोटिला का) १५. नंदी फल का १६. अपरकंका का १७. आकीर्ण (उत्तम घोड़ों का) १८. सुंसुमा बालिका का और १९. पुंडरीक कंडरीक का।

असमाहि ठाणेहिं (असमाधि स्थान) - जिस सत्कार्य के करने से चित्त में शांति हो, आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मोक्ष मार्ग में अवस्थित रहे, उसे समाधि कहते हैं और जिस कार्य से चित्त में अप्रशस्त एवं अशांत भाव हो, ज्ञानादि मोक्षमार्ग से आत्मा भ्रष्ट हो, उसे असमाधि कहते हैं। असमाधि के बीस स्थान इस प्रकार हैं -

१. उतावल से चले २. बिना पूंजे चले ३. अयोग्य रीति से पूंजे ४. पाट-पाटला अधिक रखे ५. बड़ों के-गुरुजनों के सामने बोले ६. वृद्ध-स्थविर-गुरु का उपघात करे (मृत प्रायः करे) ७. साता-रस-विभूषा के निमित्त एकेन्द्रिय जीव हणे ८. पल पल में क्रोध करे ९. हमेशा क्रोध में जलता रहे १०. दूसरे के अवगुण बोले, चुगली-निंदा करे ११. निश्चयकारी भाषा बोले १२. नया क्लेश खड़ा करे १३. दबे हुए क्लेश को पीछा जगावे १४. अकाल में स्वाध्याय करे १५. सचित्त पृथ्वी से भरे हुए हाथों से गोचरी करे १६. एक प्रहर रात्रि बीतने पर भी जोर-जोर से बोले १७. गच्छ में भेद उत्पन्न करे १८. क्लेश फैला कर गच्छ में परस्पर दुःख उपजावे १९. सूर्य उदय होने से अस्त होने तक खाया ही करे और २०. अनेषणीय अप्रासुक आहार लेवे।

सबलेहिं (शबल दोष) -जिन कार्यों के करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट हो जाती है, चारित्र मलक्लिन्न होने के कारण कर्बुर-चितकबरा हो जाता है, उन्हें शबल दोष कहते हैं। इक्कीस शबल दोष इस प्रकार हैं -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१. हस्तकर्म करे।

२. मैथुन सेवे।

३. रात्रि-भोजन करे।

४. आधाकर्मी आहारादि सेवन करे।

५. राजपिण्ड सेवन करे।

६. पांच बोल सेवे - खरीद किया हुआ, उधार लिया हुआ, जबरन् छिना हुआ, स्वामी की आज्ञा बिना लिया हुआ और स्थान पर या सामने लाकर दिया हुआ आहार आदि ग्रहण करे (साधु को देने के लिए ही खरीदा हो। अन्यथा स्वाभाविक तो सभी खरीदा जाता है)।

७. त्याग कर के बार-बार तोड़े।

८. छह-छह महीने में गण-संप्रदाय-पलटे।

९. एक मास में तीन बार कच्चे जल का स्पर्श करे-नदी उतरे।

१०. एक मास में तीन बार माया (कपट) करे।

११. शय्यातर (स्थान दाता) के यहाँ का आहार करे।

१२. जानबूझ कर हिंसा करे।

१३. जानबूझ कर झूठ बोले।

१४. जानबूझ कर चोरी करे।

१५. जानबूझ कर सचित्त-पृथ्वी पर शयन-आसन करे।

१६. जानबूझ कर सचित्त-मिश्र पृथ्वी पर शय्या आदि के।

१७. सचित्त शिला तथा जिसमें छोटे-छोटे जन्तु रहें, वैसे काष्ठ आदि वस्तु पर अपना शयन-आसन लगावे।

१८. जानबूझ कर दस प्रकार की सचित्त वस्तु खावे-मूल, कंद, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज।

१९. एक वर्ष में दस बार सचित्त जल का स्पर्श करे-नदी उतरे।

२०. एक वर्ष में दस बार माया (कपट) करे।

२१. सचित्त जल से भीगे हुए हाथ से गृहस्थ, आहारादि देवे और उसे जानता हुआ ले कर भोगवे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परीसहेहिं (परीषह) - क्षुधा आदि किसी भी कारण के द्वारा आपत्ति आने पर संयम में स्थिर रहने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए जो शारीरिक तथा मानसिक कष्ट साधु को सहन करने चाहिए, उन्हें परीषह कहते हैं। बाईस परीषह इस प्रकार हैं -

१. क्षुधा - भूख २. पिपासा - प्यास ३. शीत - ठंड ४. उष्ण - गर्मी ५. दंशमशक ६. अचेल - वस्त्राभाव का कष्ट ७. अरति - कठिनाइयों से घबरा कर संयम के प्रति होने वाली उदासीनता ८. स्त्री परीषह ९. चर्या - विहार यात्रा में होने वाला गमनादि कष्ट १०. नैषेधिकी - स्वाध्याय भूमि आदि में होने वाले उपद्रव ११. शय्या - निवास स्थान की प्रतिकूलता १२. आक्रोश - दुर्वचन १३. वध - लकड़ी आदि की मार सहना १४. याचना १५. अलाभ १६. रोग १७. तृणस्पर्श १८. जल्ल - मल का परीषह १९. सत्कार पुरस्कार - पूजा प्रतिष्ठा २०. प्रज्ञा परीषह - प्रज्ञा-बुद्धि के अभाव में चिन्ता से होने वाला कष्ट २१. अज्ञान परीषह - विशिष्ट अवधि आदि ज्ञान के अभाव से होने वाला कष्ट २२. दर्शन परीषह - सम्यक्त्व भ्रष्ट करने वाले मिथ्या मतों का मोहक वातावरण।

सूयगडज्झयणेहिं (सूत्रकृतांग के अध्ययन) - प्रथम श्रुतस्कंध के १६ अध्ययन सोलहवें बोल में बतलाए गये हैं। द्वितीय श्रुतस्कंध के सात अध्ययन इस प्रकार हैं - १७. पौण्डरीक १८. क्रिया स्थान १९. आहार परिज्ञा २०. अप्रत्याख्यान क्रिया २१. अनगार श्रुत २२. आर्द्रकीय और २३. नालन्दीय।

देवेहिं (देव) - चौबीस जाति के देव इस प्रकार कहे गये हैं - असुरकुमार आदि दश भवनपति, भूत, यक्ष आदि आठ व्यन्तर, सूर्य चन्द्र आदि पांच ज्योतिषी और वैमानिक देव - ये कुल २४ जाति के देव हैं। संसार में भोग जीवन के ये सबसे बड़े प्रतिनिधि हैं।

भावणाहिं (भावनाएं) - महाव्रतों का शुद्ध पालन करने के लिये आगमों में प्रत्येक महाव्रत की पांच भावना बतलाई गयी है, जो इस प्रकार है -

पहले महाव्रत की ५ भावना - १. ईर्यासमिति भावना २. मन-समिति भावना ३. वचनसमिति भावना ४. एषणासमिति भावना और ५. आदानभाण्ड-मात्र-निक्षेपना समिति भावना।

दूसरे महाव्रत की पांच भावना - १. बिना विचार किये बोलना नहीं २. क्रोध से बोलना नहीं ३. लोभ से बोलना नहीं ४. भय से बोलना नहीं और ५. हास्य से बोलना नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीसरे महाव्रत की पांच भावना - १. निर्दोष स्थानक याच कर लेना २. तृण आदि याच कर लेना ३. स्थानक आदि की क्षेत्र सीमा निर्धारण पूर्वक आज्ञा लेना ४. रत्नाधिक की आज्ञा से तथा आहार का संविभाग करके आहार करना ५. उपाश्रय में रहे हुए संभोगी साधुओं से आज्ञा लेकर रहना तथा भोजनादि करना।

चौथे महाव्रत की पांच भावना - १. स्त्री, पशु, नपुंसक सहित स्थानक में ठहरना नहीं २. स्त्री सम्बन्धी कथा वार्त्ता करना नहीं ३. स्त्री के अंगोपांग, राग दृष्टि से देखना नहीं ४. पहले के काम-भोग याद करना नहीं और ५. सरस तथा बल-वर्धक आहार करना नहीं।

पांचवें महाव्रत की पांच भावना - १. अच्छे शब्द पर राग और बुरे शब्द पर द्वेष करना नहीं, वैसे ही २. रूप पर ३. गंध पर ४. रस पर और ५. स्पर्श पर रागद्वेष नहीं करना।

दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं (दशाकल्प व्यवहार उद्देशनकाल) - दशाश्रुतस्कंध सूत्र के दश उद्देशक, बृहत्कल्प के छह उद्देशक और व्यवहार के दश उद्देशक- इस प्रकार सूत्रत्रयी के छब्बीस उद्देशक होते हैं। जिस श्रुतस्कंध या अध्ययन के जितने उद्देशक होते हैं उतने ही वहां उद्देशनकाल अर्थात् श्रुतोपचार रूप उद्देशावसर होते हैं।

अणगारगुणेहिं (अनगार के गुण) - आचार्य हरिभद्र ने आवश्यकसूत्र की टीका में अनगार के २७ गुण इस प्रकार कहे हैं -

१-५. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच महाव्रतों का सम्यक् पालन करना।

६. रात्रिभोजन का त्याग करना।

७-११. पांचों इन्द्रियों को वश में रखना।

१२. भावसत्य - अन्तःकरण की शुद्धि।

१३. करण सत्य - वस्त्र पात्र आदि की भलीभांति प्रतिलेखना करना।

१४. क्षमा।

१५. विरागता-लोभ निग्रह।

१६. मन की शुभ प्रवृत्ति।

१७. वचन की शुभ प्रवृत्ति।

१८. काय की शुभ प्रवृत्ति।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१९-२४. छह काय जीवों की रक्षा २५. संयमयोग युक्तता २६. वेदनाऽभिसहना - तितिक्षा अर्थात् शीतादि कष्ट सहिष्णुता २७. मारणांतिक उपसर्ग को भी समभाव से सहना।

समवायांग सूत्र में सत्ताईस गुण इस प्रकार हैं - पांच महाव्रत, पांच इन्द्रियों का निरोध, चार कषायों का त्याग, भाव सत्य, करण सत्य, योग सत्य, क्षमा, विरागता, मनः समाहरणता, वचन समाहरणता, काय समाहरणता, ज्ञान संपन्नता, दर्शन संपन्नता, चारित्र सम्पन्नता, वेदनातिसहनता, मारणांतिकातिसहनता।

आयारप्पकप्पेहिं (आचार-प्रकल्प) - **'आचार एव आचारप्रकल्पः'** - (आचार्य हरिभद्र) - आचार ही आचार-प्रकल्प कहलाता है। आचार्य अभयदेव समवायांग सूत्र की टीका में कहते हैं कि - आचार का अर्थ प्रथम अंग सूत्र है। उसका प्रकल्प अर्थात् अध्ययन विशेष निशीथ सूत्र आचार-प्रकल्प कहलाता है। अथवा ज्ञानादि साधु आचार का प्रकल्प अर्थात् व्यवस्थापन आचार-प्रकल्प कहा जाता है।

आचारांग सूत्र के शस्त्र परिज्ञा आदि २५ अध्ययन हैं और निशीथ सूत्र भी आचारांग सूत्र की चूलिका स्वरूप माना जाता है अतः उसके तीन अध्ययन मिला कर आचारांग सूत्र के सब अट्ठाईस अध्ययन होते हैं-

१. शस्त्र परिज्ञा २. लोक विजय ३. शीतोष्णीय ४. सम्यक्त्व ५. लोकसार ६. धूताध्ययन ७. महापरिज्ञा ८. विमोक्ष ९. उपधान श्रुत १०. पिण्डैषणा ११. शय्यैषणा १२. ईर्या १३. भाषा १४. वस्त्रैषणा १५. पात्रैषणा १६. अवग्रह प्रतिमा (१६+७=२३) सप्त स्थानादि सप्तैकका २४. भावना २५. विमुक्ति २६. उद्घात २७. अनुद्घात और २८. आरोपण।

समवायांग सूत्र में आचारप्रकल्प के २८ भेद इस प्रकार हैं -

१. एक मास का प्रायश्चित्त २. एक मास और पांच दिन का ३. एक मास और दस दिन का। इसी प्रकार पाँच-पाँच दिन बढ़ाते हुए चार महीनें पच्चीस दिन तक कहना चाहिए। इस प्रकार पच्चीस उद्घातिक आरोपणा है, २६. अनुद्घातिक आरोपणा २७. कृत्स्न (सम्पूर्ण) आरोपणा और २८. अकृत्स्न (अपूर्ण) आरोपणा।

पावसुयप्पसंगेहिं (पापश्रुत प्रसंग) - समवायांग सूत्र के अनुसार पापश्रुत के २९ भेद इस प्रकार हैं -

१. भूमिकम्प शास्त्र २. उत्पात् शास्त्र ३. स्वप्न शास्त्र ४. अंतरिक्ष-आकाश शास्त्र ५. अंगस्फुरण शास्त्र ६. स्वर शास्त्र ७. व्यंजन-शरीर पर के तिल-मसादि चिह्न शास्त्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

८. लक्षण शास्त्र। ये आठ सूत्र रूप, आठ वृत्तिरूप और आठ वार्तिकरूप, कुल चौबीस हुए २५. विकथा अनुयोग २६. विद्या अनुयोग २७. मंत्र अनुयोग २८. योग अनुयोग और २९. अन्य तीर्थिक प्रवर्तनानुयोग।

महामोहणीयठाणेहिं (महामोहनीय के स्थान) - मोहनीय कर्म बंध के हेतुभूत कारणों के तीस भेद इस प्रकार हैं -

१. त्रस जीव को जल में डुबा कर मारे।

२. त्रस जीव को श्वास रूंध कर मारे।

३. त्रस जीवों को मकान, बाड़े आदि में बन्द कर अग्नि या धुएँ से घोंट कर मारे।

४. तलवारादि शस्त्र से मस्तकादि अंगोपांग काटे।

५. मस्तक पर गीला चमड़ा बांध कर मारे।

६. ठगाई, धोखाबाजी, धूर्तता से दण्ड फलक आदि के द्वारा मार कर दूसरे का उपहास करे तथा विश्वासघात करे।

७. कपट करके अपना दुराचार छिपावे, सूत्रार्थ छिपावे।

८. आप कुकर्म करे और दूसरे निरपराधी मनुष्य पर आरोप लगावे तथा दूसरे की यश:कीर्ति घटाने के लिये झूठा कलंक लगावे।

९. सत्य को दबाने के लिए मिश्र वचन बोले, सत्य का अपलाप करे तथा क्लेश बढ़ावे।

१०. राजा का मंत्री होकर राजा की लक्ष्मी हरण करना चाहे, राजा की रानी से कुशील सेवन करना चाहे, राजा के प्रेमीजनों के मन को पलटना चाहे तथा राजा को राज्याधिकार से हटाना चाहे।

११. विषय-लम्पट हो कर (शादी किया हुआ होते हुए) भी अपने को कुँवारा बतावे।

१२. ब्रह्मचारी नहीं होते हुए भी अपने को ब्रह्मचारी बतावे।

१३. जो नौकर, स्वामी की लक्ष्मी लूटे तथा लुटावे।

१४. जिस पुरुष ने अपने को धनवान् इज्जतवान् अधिकारी बनाया, उस उपकारी से ईर्षा करे, बुराई करे, हलका बताने की चेष्टा करे, उपकार का बदला अपकार से देवे।

१५. भरणपोषण करने वाले राजादि के धन में लुब्ध हो कर राजा का तथा ज्ञानदाता गुरु का हनन करे।

१६. राजा, नगर-सेठ तथा मुखिया और बहुल यश वाले, इन तीनों में से किसी का हनन करे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१७. बहुत-से मनुष्यों का आधारभूत जो मनुष्य है, उसे हने।

१८. जो संयम लेने के तैयार हुआ है, उसकी संयम-रुचि हटावे तथा संयम लिये हुए को धर्म से भ्रष्ट करे।

१९. तीर्थंकर के अवर्णवाद बोले।

२०. तीर्थंकर प्ररूपित न्याय मार्ग का द्वेषी बन कर उस मार्ग की निन्दा करे तथा उस मार्ग से लोगों का मन दूर हटावें।

२१. आचार्य, उपाध्याय, सूत्र विनय के सिखाने वाले पुरुषों की निन्दा करे, उपहास करे।

२२. आचार्य, उपाध्याय के मन को आराधे नहीं तथा अहंकार भाव के कारण भक्ति नहीं करे।

२३. अल्प शास्त्रज्ञान वाला होते हुए भी खुद को बहुश्रुत बतावे, अपनी झूठी प्रशंसा करे।

२४. तपस्वी नहीं होते हुए भी, तपस्वी कहलावे।

२५. शक्ति होते हुए भी गुर्वादि तथा स्थविर, ग्लान मुनि का विनय वैयावच्च करे नहीं और कहे कि इन्होंने मेरी वैयावच्च नहीं की थी-ऐसा अनुकम्पा रहित होवे।

२६. चार तीर्थ में भेद पड़े-ऐसी कथा-क्लेशकारी वार्त्ता करे तो महा मोहनीय कर्म बांधे।

२७. अपनी प्रशंसा के लिए तथा दूसरे को प्रसन्न करने के लिए वशीकरणादि प्रयोग करे तो महा मोहनीय कर्म बांधे।

२८. मनुष्य तथा देव सम्बन्धी भोगों की तीव्र अभिलाषा करे तो महा मोहनीय कर्म बांधे।

२९. महाऋद्धिवान्-महायश के धनी देव हैं, उनके बलवीर्य की निंदा करे, निषेध करे तो महा मोहनीय कर्म बांधे।

३०. अज्ञानी जीव, लोगों से पूजा प्रशंसा प्राप्त करने के लिए देव को नहीं देखने पर भी कहे कि 'मैं देव को देखता हूँ' तो महा मोहनीय कर्म बांधे।

सिद्धाइगुणेहिं (सिद्धों के गुण) - आठ कर्म की इकत्तीस प्रकृतियों के क्षय होने से ३१ गुण प्रकट होते हैं। वे इकत्तीस प्रकृतियाँ ये हैं -

५ ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच प्रकृति - १. मतिज्ञानावरणीय २. श्रुतज्ञानावरणीय ३. अवधिज्ञानावरणीय ४. मनःपर्ययज्ञानावरणीय और ५. केवलज्ञानावरणीय।

९ दर्शनावरणीय कर्म की नौ प्रकृति - १. निद्रा २. निद्रानिद्रा ३. प्रचला

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४. स्त्यानगृद्धि ६. चक्षुदर्शनावरणीय ७. अचक्षुदर्शनावरणीय ८. अवधिदर्शनावरणीय और ९. केवलदर्शनावरणीय।

२ वेदनीय कर्म की दो प्रकृति - १. सातावेदनीय और २. असातावेदनीय।

२ मोहनीय कर्म की दो प्रकृति - १. दर्शनमोहनीय और २. चारित्र मोहनीय।

४ आयु कर्म की चार प्रकृति - १. नरकायु २. तिर्यंचायु ३. मनुष्यायु और ४. देवायु।

२ नामकर्म की दो प्रकृति - १. शुभ नाम और २. अशुभ नाम।

२ गोत्र कर्म की दो प्रकृति - १. उच्च गोत्र और २. नीच गोत्र।

५ अंतराय कर्म की पांच प्रकृति - १. दानान्तराय २. लाभान्तराय ३. भोगांतराय ४. उपभोगांतराय और ५. वीर्यान्तराय।

सिद्धों के गुणों का एक प्रकार और भी है - पांच संस्थान, पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, तीन वेद, शरीर, आसक्ति और पुनर्जन्म - इन सब इकत्तीस दोषों के क्षय से भी इकत्तीस गुण होते हैं (आचारांग)।

आदि गुण का अर्थ है - ये गुण सिद्धों में प्रारंभ से ही होते हैं, यह नहीं कि कालान्तर में होते हों। क्योंकि सिद्धों की भूमिका क्रमिक विकास की नहीं है।

आचार्य श्री शांतिसूरि **'सिद्धाइगुण'** का अर्थ - **'सिद्धाऽतिगुण'** करते हैं। अतिगुण का भाव है - 'उत्कृष्ट असाधारण गुण।'

जोगसंगहेहिं (योग संग्रह) - मोक्ष साधना में सहायक, दोषों को दूर कर के शुद्धि करने वाले, ऐसे प्रशस्त योगों के संग्रह को योग संग्रह कहते हैं। मन, वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति रूप शुभ-योग के ३२ भेद समवायांग सूत्र में इस प्रकार कहे हैं -

१. आलोचना - गुरु के समक्ष शुद्ध भावों से सच्ची आलोचना करना।

२. निरपलाप - शिष्य या अन्य कोई अपने सामने आलोचना करे, तो वह किसी को नहीं कह कर अपने में ही सीमित रखना।

३. दृढ़ धर्मिता - आपत्ति आने पर भी अपने धर्म में दृढ़ रहना।

४. निराश्रित तप - किसी भी प्रकार की भौतिक इच्छा के बिना अथवा किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा के बिना तप करना।

५. शिक्षा - सूत्र और अर्थ रूप ग्रहण तथा प्रतिलेखनादि रूप आसेवना की शिक्षा ग्रहण करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

६. **निष्प्रतिकर्म** - शरीर की शोभा नहीं करना।

७. **अज्ञात तप** - यश और सत्कार की इच्छा नहीं रख कर इस प्रकार तप करना कि जो बाहर किसी को मालूम नहीं हो सके।

८. **निर्लोभ** - वस्त्र, पात्र अथवा स्वादिष्ट आहार आदि किसी भी वस्तु का लोभ नहीं करना।

९. **तितिक्षा** - संयम साधना करते हुए जो परीषह और उपसर्ग आवे, उन्हें शांतिपूर्वक सहन करना।

१०. **आर्जव** - हृदय में ऋजुता-सरलता धारण करना।

११. **शुचि** - सत्य और शुद्धाचार से पवित्र रहना।

१२. **सम्यग्दृष्टि** - दृष्टि की विशेष शुद्धता, सम्यक्त्व की शुद्धि।

१३. **समाधि** - समाधिवन्त - समाधिवन्त-शांत और प्रसन्न रहना।

१४. **आचार** - चारित्रवान् होना, निष्कपट हो कर चारित्र का पालन करना।

१५. **विनयोपगत** - मान को त्याग कर विनयशील बनना।

१६. **धैर्यवान्** - अधीरता और चंचलता छोड़ कर धीरज धारण करना।

१७. **संवेग** - संसार से अरुचि और मोक्ष के प्रति अनुराग होना-मुक्ति की अभिलाषा होना।

१८. **प्रणिधि** - माया का त्याग करके निःशल्य होना, भावों को उज्ज्वल रखना।

१९. **सुविहित** - उत्तम आचार का सतत पालन करते हीं रहना।

२०. **संवर** - आस्रव के मार्गों को बन्द करके संवरवंत होना।

२१. **दोष निरोध** - अपने दोषों को हटा कर उनके मार्ग ही बन्द कर देना, जिससे पुनः दोष प्रवेश नहीं हो।

२२. **सर्व काम विरक्तता** - पाँचों इन्द्रियों के अनुकूल विषयों से सदा विरक्त ही रहना।

२३. **मूल गुण प्रत्याख्यान** - मूल गुण विषयक-हिंसादि त्याग के प्रत्याख्यान करना और उसमें दृढ़ रहना।

२४. **उत्तरगुण प्रत्याख्यान** - उत्तर गुण विषयक-तप आदि के प्रत्याख्यान करके शुद्धता पूर्वक पालन करना।

२५. **व्युत्सर्ग** - शरीरादि द्रव्य और कषायादि भाव व्युत्सर्ग करना।

२६. **अप्रमाद** - प्रमाद को छोड़ कर अप्रमत्त रहना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२७. समय साधना - काल के प्रत्येक क्षण को सार्थक करना, जिस समय जो अनुष्ठान करने का हो वही करना। समय को व्यर्थ नहीं खोना।

२८. ध्यान संवर योग - मन, वचन और काया के अशुभ योगों का संवरण करके शुभ ध्यान करना।

२९. मारणान्तिक उदय - मृत्यु का समय अथवा मारणान्तिक कष्ट आ जाने पर भी दृढ़तापूर्वक साधना करते रहना।

३०. संयोग ज्ञान - इन्द्रियों अथवा विषयों का संयोग, अथवा बाह्य संयोग को ज्ञान से हेय जान कर त्यागना।

३१. प्रायश्चित्त - लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त करके शुद्ध होना।

३२. अन्तिम साधना - अन्तिम समय में संलेखना कर के पण्डित मरण की आराधना करना।

उपरोक्त योग-संग्रह में सभी प्रकार की उत्तम करणी का समावेश हो जाता है। इस प्रकार बत्तीस योग-संग्रह से आत्मा को उज्ज्वल करने वाले संत प्रवर, संसार के लिए मंगल रूप हैं।

आसायणाहिं (आशातना) - आशातना शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है - **'आयः सम्यग्दर्शनाद्यवाप्ति लक्षणस्तस्यशातना-खण्डनं निरुक्तादाशातना।'** सम्यग्दर्शन आदि आध्यात्मिक गुणों की प्राप्ति को आय कहते हैं और शातना का अर्थ - खण्डन करना है। गुरुदेव आदि पूज्य पुरुषों का अपमान करने से सम्यग्दर्शन आदि सद्गुणों की शातना-खण्डना होती हैं। आशातना के तेतीस भेद इस प्रकार हैं -

१. अरहंताणं आसायणाए (अर्हन्तों की आशातना) - कोई भी जीव राग-द्वेष से रहित नहीं हो सकता, अतः अर्हन्त भी रागद्वेष से मुक्त नहीं है। "अर्हन्त ने सर्वज्ञ होते हुए भी पूर्ण समाधान नहीं दिया।" "इतने कठोर विधान बनाने वाले अर्हन्त दयालु कैसे कहे जा सकते हैं?" आदि कहना एवं उनकी आप्तता आदि में संशय करना अर्हन्त आशातना है।

२. सिद्धाणं आसायणाए (सिद्ध आशातना) - 'सिद्ध की क्या कृतकृत्यता है' 'एक स्थान में अनंतकाल तक रूके रहना भी क्या सिद्धि है?' सिद्ध है ही नहीं? 'जब शरीर ही नहीं हैं तो फिर उनको सुख किस बात का?' या सिद्धत्व में क्या सुख है? इत्यादि रूप से अवज्ञा करना सिद्ध आशातना है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. आयरियाणं आसायणाए (आचार्य आशातना) - आचार्य की आज्ञा नहीं मानना, आचार्य को यमपाल जैसा मानना, आचार्य की निंदा करना आदि आचार्य आशातना कहलाती है।

४. उवज्झायाणं आसायणाए (उपाध्याय आशातना) - उपाध्याय को शास्त्र के कीडे, अबहुश्रुत, बाल की खाल निकालने वाले, युगप्रवाह से अपरिचित, चमत्कार विहीन आदि मानना - कहना उपाध्याय आशातना है।

५. साहूणं आसायणाए (साधु आशातना) - 'साधु होना नपुंसक होना है।' 'आत्म साधक स्वार्थी हैं' 'कमाना नहीं आया तो साधु हो गये' आदि कहने - मानने से साधु की आशातना होती है।

६. साहूणीणं आसायणाए (साध्वी आशातना) - 'स्त्री होने के कारण साध्वियों को नीच बताना। उनको कलह और संघर्ष की जड़ कहना। स्त्री साधु धर्म पाल ही नहीं सकती। स्त्रियां अपवित्र है अतः साध्वियां भी वैसी हैं' - इस प्रकार अवहेलना करना साध्वी की आशातना है।

७. सावयाणं आसायणाए (श्रावक आशातना) - 'गृहवास में अंशमात्र धर्म नहीं है, इसलिये श्रावक धर्म आराधक नहीं हो सकता। संसार के प्रपंच में श्रावक क्या धर्म पालते होंगे' - आदि कहने से श्रावकों की अवहेलना होती है, जिसे श्रावक आशातना कहते हैं।

८. सावियाणं आसायणाए (श्राविका आशातना) - 'स्त्रियां कपटी होती है अतः श्राविका क्या धर्म पालेगी? धर्मस्थान में इकट्ठी होकर दुनिया भर की निंदा करती है।' 'निठल्लियों को घर में कार्य नहीं है सो मुंह बांध कर बैठ जाती है' 'श्राविका गृहकार्य में लगी रहती है, आरंभ में ही जीवन गुजारती है, बाल बच्चों के मोह में फंसी रहती है, उनकी सद्गति कैसे होगी?' इत्यादि कहना श्राविकाओं की अवहेलना है। जो त्याज्य है।

९. देवाणं आसायणाए (देव आशातना) - देवताओं को कामगर्दभ कहना, उन्हें आलसी और अकिंचित्कर कहना, देवता मांस खाते हैं, मद्य पीते हैं इत्यादि निंदास्पद सिद्धांतों का प्रचार करना, देवताओं का अपलाप - अवर्णवाद करना, देव आशातना है।

१०. देवीणं आसायणाए (देवी आशातना) - देवों की तरह ही देवियों का अपलाप एवं अवर्णवाद करना देवी आशातना है।

११-१२. इहलोगस्स आसायणाए, परलोगस्स आसायणाए (इहलोक और परलोक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की आशातना) - स्व जाति का प्राणी वर्ग 'इहलोक' कहा जाता है और विजातीय प्राणी वर्ग 'परलोक'। इहलोक और परलोक की असत्य प्ररूपणा करना, पुनर्जन्म आदि न मानना। नरकादि चार गतियों के सिद्धान्त पर विश्वास न रखना आदि इहलोक और परलोक की आशातना है।

१३. केवलिपण्णत्तस्स धम्मस्स आसायणाए (केवली प्ररूपित धर्म की आशातना) - सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेश्वर भगवंतों का कथन त्रिकाल सत्य होता है ऐसे जिनेश्वर धर्म की अवहेलना करना, उसके विरुद्ध प्रचार करना, मिथ्या प्ररूपणा करना।

१४. सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स आसायणाए (देव, मनुष्य असुर सहित लोक की आशातना) - लोक, संसार को कहते हैं। देव, मनुष्य, असुर आदि सहित लोक के संबंध में मिथ्या प्ररूपणा करना, उसे ईश्वर आदि के द्वारा बना हुआ मानना, लोक संबंधी पौराणिक कल्पनाओं पर विश्वास करना, लोक की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय संबंधी भ्रांत धारणाओं का प्रचार करना आदि 'सदेवमणुआसुरस्स लोगस्स आसायणाए' है।

१५. सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं आसायणाए (सर्व प्राण भूत जीव सत्त्वों की आशातना)- द्वीन्द्रिय आदि तीन विकलेन्द्रिय जीवों को 'प्राण' कहते हैं। एकेन्द्रिय जीवों को 'भूत', पंचेन्द्रिय प्राणियों को 'जीव' तथा शेष सब जीवों (चार स्थावरों) को 'सत्त्व' कहा जाता है। इनकी आशातना करना 'सर्व प्राण भूत जीव सत्त्व' की आशातना है।

विश्व के समस्त अनन्तानंत जीवों की आशातना का यह सूत्र बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जैन-धर्म की करुणा का अनन्त प्रवाह केवल परिचित और स्नेही जीवों तक ही सीमित नहीं है। अपितु समस्त जीवराशि से क्षमा मांगने का महान् आदर्श है। प्राणी निकट हों या दूर हों, स्थूल हों या सूक्ष्म हों, ज्ञात हों या अज्ञात हों, शत्रु हों या मित्र हों किसी भी रूप में हो, उनकी आशातना एवं अवहेलना करना, साधक के लिए सर्वथा निषिद्ध है।

आत्मा की सत्ता ही स्वीकार न करना, पृथ्वी आदि को जड़ मानना, आत्म तत्त्व को क्षणिक कहना, एकेन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय आदि जीवों के जीवन को तुच्छ समझना, उन्हें पीड़ा पहुंचाना, इस आशातना के अंतर्गत है।

१६. कालस्स आसायणाए (काल की आशातना) - पांच समवाय में काल समवाय को नहीं मानना, काल की आशातना करना है। वर्तना लक्षण रूप काल है। यदि काल न हो तो द्रव्य में रूपान्तर ही कैसे हो सकता है? ऐसे काल को न मानना 'काल आशातना' है। धार्मिक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषार्थ न करते हुए काल को ही कोसना जैसे कि - 'यह पांचवां आरा है, हम धर्म करणी कैसे करें' इत्यादि रूप से कहना पर अपनी प्रवृत्ति नहीं सुधारना भी काल आशातना है।

१७. सुयस्स आसायणाए (श्रुत की आशातना) - जैन धर्म में श्रुतज्ञान को भी धर्म कहा है। बिना श्रुतज्ञान के चारित्र कैसा? श्रुत तो साधक के लिए तीसरा नेत्र है, जिसके बिना शिव बना ही नहीं जा सकता। श्रुत की आशातना साधक के लिए अतीव भयावह है।

"जैनश्रुत, साधारण भाषा प्राकृत में है, पता नहीं उसका कौन निर्माता है? वह केवल कठोर चारित्र धर्म पर ही बल देता है। श्रुत के अध्ययन के लिए काल मर्यादा का बंधन क्यों है?" इत्यादि विपरीत विचार और वर्तन श्रुत की आशातना है।

१८. सुयदेवयाए आसायणाए (श्रुतदेवता की आशातना) - श्रुत देवता का अर्थ है - श्रुतनिर्माता तीर्थंकर तथा गणधर। तीर्थंकर श्रुत के मूल अधिष्ठाता है, गणधर, रचयिता है अतः वे श्रुतदेवता कहलाते हैं। तीर्थंकर एवं गणधर की, उनके प्ररूपित श्रुत की आशातना, श्रुतदेवता की आशातना है।

१९. वायणायरियस्स आसायणाए (वाचनाचार्य की आशातना) - आचार्य, उपाध्याय की आज्ञा से शिष्यों को श्रुत की वाचना आदि देने वाले को वाचनाचार्य कहते हैं। वाचनाचार्य की आशातना करना, अनादर करना, वाचनाचार्य आशातना है।

२०. वाइद्धं २१. वच्चामेलियं २२. हीणक्खरं २३. अच्चक्खरं २४. पयहीणं २५. विणयहीणं २६. जोगहीणं २७. घोसहीणं २८. सुट्ठुदिण्णं २९. दुट्ठुपडिच्छियं ३०. अकाले कओ सज्झाओ ३१. काले ण कओ सज्झाओ ३२. असज्झाइए सज्झाइयं ३३. सज्झाइए ण सज्झाइयं, इन आशातनाओं का वर्णन ज्ञान के अतिचार के पाठ में पूर्व में आ चुका है।

प्रतिज्ञा सूत्र

नमो चउवीसाए (निर्ग्रंथ प्रवचन) का पाठ

णमो चउवीसाए तित्थयराणं उसभाइ-महावीर पज्जवसाणाणं । इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं, अणुत्तरं, केवलियं, पडिपुण्णं, णेयाउयं, संसुद्धं, सल्लगत्तणं, सिद्धिमग्गं, मुत्तिमग्गं, णिज्जाणमग्गं, णिव्वाणमग्गं, अवितह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मविसंधि, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं । इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति। तं धम्मं सद्दहामि, पत्तियामि, रोएमि, फासेमि, पालेमि, अणुपालेमि। तं धम्मं सद्दहंतो, पत्तियंतो, रोयंतो, फासंतो, पालंतो, अणुपालंतो। तस्स धम्मस्स केवलिपण्णत्तस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए, विरओमि विराहणाए। १. असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपज्जामि। २. अबंभं परियाणामि, बंभं उवसंपज्जामि। ३. अकप्पं परियाणामि, कप्पं उवसंपज्जामि। ४. अण्णाणं परियाणामि, णाणं उवसंपज्जामि। ५. अकिरियं परियाणामि, किरियं उवसंपज्जामि। ६. मिच्छत्तं परियाणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि। ७ अबोहिं परियाणामि, बोहिं उवसंपज्जामि। ८. अमग्गं卐 परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि।

जं संभरामि, जं च न संभरामि, जं पडिक्कमामि, जं च न पडिक्कमामि, तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि ।

समणोऽहं संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय पावकम्मो, अनियाणो, दिट्ठिसंपन्नो, मायामोस-विवज्जिओ। अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पण्णरससु कम्मभूमिसु जावंत● केइ❖ साहू, रयहरण-गुच्छ✤पडिग्गहधरा☆पंच महव्वय धरा☆अट्ठारस-सहस्ससीलंग [रह] धरा+अक्खयायार-चरित्ता, ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि।

कठिन शब्दार्थ - **चउवीसाए** - चौबीस, **तित्थयराणं** - तीर्थंकरों को, **पज्जवसाणाणं**- पर्यन्तों को, **इणमेव** - यह ही, **णिग्गंथं** - निर्ग्रन्थों का, **पावयणं** - प्रवचन, **सच्चं** - सत्य है, **अणुत्तरं** - सर्वोत्तम है, **केवलियं** - सर्वज्ञ प्ररूपित अथवा अद्वितीय है, **पडिपुण्णं** - प्रतिपूर्ण है, **णेयाउयं** - न्यायाबोधित है, मोक्ष ले जाने वाला है, **संसुद्धं** - पूर्ण शुद्ध है, **सल्लगत्तणं** - शल्यों को काटने वाला है, **सिद्धिमग्गं** - सिद्धि का मार्ग है, **मुत्तिमग्गं** - मुक्ति का मार्ग है, **णिज्जाणमग्गं** - संसार से निकलने का मार्ग है, मोक्ष स्थान का मार्ग है, **णिव्वाणमग्गं** - निर्वाण का मार्ग है, **अवितहं** - तथ्य है, यथार्थ है, **अविसंधि** - अव्यवच्छिन्न

卐 कहीं कहीं 'उम्मग्गं' पाठ भी मिलता है ।

पाठान्तर - ● जावंति · ❖ के वि ✤ गुच्छग ☆ धारा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, सदा शाश्वत है, **सव्वदुक्खपहीणमग्गं** - सब दुःखों के क्षय का मार्ग है, **ठिया** - स्थित हुए, **सिज्झंति** - सिद्ध होते हैं, **बुज्झंति** - बुद्ध होते हैं, **मुच्चंति** - मुक्त होते हैं, **परिणिव्वायंति** - निर्वाण को प्राप्त होते हैं, **सव्वदुक्खाणमंतं** - सब दुःखों का अन्त, **तं** - उस, **धम्मं** - धर्म की, **सद्दहामि** - श्रद्धा करता हूँ, **पत्तियामि** - प्रतीति करता हूँ, **रोएमि** - रुचि करता हूँ, **फासेमि** - स्पर्शना करता हूँ, **पालेमि** - पालन करता हूँ, **अणुपालेमि** - अनुपालन करता हूँ, **अब्भुट्ठिओमि** - उपस्थित हुआ हूँ, **विरओमि** - निवृत्त हुआ हूँ, **असंजमं** - असंयम को, **परियाणामि** - जानता हूँ एवं त्यागता हूँ, **संजमं** - संयम को, **उवसंपज्जामि** - स्वीकार करता हूँ, **अबंभं** - अब्रह्मचर्य को, **बंभं** - ब्रह्मचर्य को, **अकप्पं** - अकल्प्य को, **कप्पं** - कल्प को, **अण्णाणं** - अज्ञान को, **णाणं** - ज्ञान को, **अकिरियं** - अक्रिया को, **किरियं** - क्रिया को, **मिच्छत्तं** - मिथ्यात्व को, **सम्मत्तं** - सम्यक्त्व को, **अबोहिं** - अबोधि को, **बोहिं** - बोधि को, **अमग्गं** - उन्मार्ग को, **मग्गं** - मार्ग को, **संभरामि** - स्मरण करता हूँ, **समणोऽहं** - मैं श्रमण हूँ, **संजय** - संयमी, **विरय** - विरत, **पडिहय** - नाश करने वाला, **पच्चक्खाय** - त्याग करने वाला, **पावकम्मो** - पाप कर्मों का, **अनियाणो** - निदान रहित, **दिट्ठिसंपन्नो** - सम्यग्दृष्टि से युक्त, **विवज्जिओ** - सर्वथा रहित, **अड्ढाइज्जेसु** - अढाई, **दीव समुद्देसु** - द्वीप समुद्रों में, **पण्णरस कम्मभूमिसु** - पन्द्रह कर्म-भूमियों में, **जावंत** - जितने भी, **केइ** - कोई, **रयहरण गुच्छ(ग) पडिग्गहधरा** - रजोहरण, गोच्छक, पात्र के धारक हैं, **पंच महव्वयधरा** - पाँच महाव्रत के धारक, **अट्ठारस सहस्स सीलंग(रह) धरा** - अठारह हजार शीलाङ्ग के धारक, **अक्खयायार चरित्ता** - अक्षत-परिपूर्ण आचार रूप चारित्र के धारक, **सिरसा** - शिर से।

भावार्थ - भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर देवों को नमस्कार करता हूँ।

यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, अनुत्तर - सर्वोत्तम है, केवल अद्वितीय है अथवा केवलज्ञानियों से प्ररूपित है, प्रतिपूर्ण है, नैयायिक - मोक्ष पहुंचाने वाला है अथवा न्याय से युक्त है, पूर्ण शुद्ध अर्थात् सर्वथा निष्कलंक है, माया आदि शल्यों को नष्ट करने वाला है, सिद्धिमार्ग - पूर्ण हितार्थ रूप सिद्धि की प्राप्ति का उपाय है, मुक्तिमार्ग है, निर्याण-मार्ग-मोक्ष स्थान का मार्ग है, निर्वाण मार्ग - पूर्ण शांति रूप निर्वाण का मार्ग है । अवितथ - मिथ्यात्व रहित है, अविसंधि - विच्छेद रहित अर्थात् सनातन नित्य है तथा पूर्वापर विरोध रहित है, सब दुःखों का क्षय करने का मार्ग है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस निर्ग्रन्थ प्रवचन में स्थिर रहने वाले अर्थात् तदनुसार आचरण करने वाले भव्य जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध-सर्वज्ञ होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण-पूर्ण आत्म शांति को प्राप्त करते हैं, समस्त दुःखों का सदा काल के लिए अन्त करते हैं।

मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन रूप धर्म की श्रद्धा करता हुआ, प्रतीति करता हूँ रुचि करता हूँ स्पर्शना करता हूं, पालना अर्थात् रक्षा करता हूँ, विशेष रूप से पालना करता हूँ ।

मैं इस जिन धर्म (निर्ग्रंथ प्रवचन) की श्रद्धा करता हुआ, प्रतीति करता हुआ, रुचि करता हुआ, स्पर्शना-आचरण करता हुआ, पालना करता हुआ, विशेष रूप से पालना करता हुआ उस धर्म की आराधना करने में पूर्ण रूप से अभ्युत्थित-तत्पर हूँ और धर्म की विराधना से पूर्णतया निवृत्त होता हूँ ।

असंयम को ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से छोड़ता हूँ, संयम को स्वीकार करता हूँ। अब्रह्मचर्य को जानता और त्यागता हूँ, ब्रह्मचर्य को स्वीकार करता हूँ, अकल्प को जानता हूँ और त्यागता हूँ कल्प को स्वीकार करता हूँ, अज्ञान को जानता हूँ और त्यागता हूँ ज्ञान को स्वीकार करता हूँ, अक्रिया को जानता हूँ और त्यागता हूँ और क्रिया को स्वीकार करता हूँ। मिथ्यात्व को जानता हूँ तथा त्यागता हूँ, सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ। अबोधि को जानता हूँ और त्यागता हूँ बोधि को स्वीकार करता हूँ, उन्मार्ग को जानता हूँ और त्यागता हूँ और मार्ग को भावपूर्वक स्वीकार करता हूँ।

जो दोष मुझे याद हैं और जो याद नहीं हैं जिनका प्रतिक्रमण कर चुका हूँ और जिनका प्रतिक्रमण नहीं कर पाया हूँ, उन सब दिवस संबंधी अतिचारों-दोषों का प्रतिक्रमण करता हूँ।

मैं श्रमण हूँ, संयत-संयमी हूँ, विरत-सावद्य व्यापारों एवं संसार से निवृत्त हूँ, पाप कर्मों को प्रतिहत करने वाला हूँ एवं पापों का त्याग करने वाला हूँ, निदान शल्य से रहित दृष्टि संपन्न-सम्यग्दर्शन से युक्त हूँ और माया सहित मृषावाद का परिहार करने वाला हूँ ।

ढाई द्वीप और दो समुद्र रूप मनुष्य क्षेत्र में पन्द्रह कर्म-भूमि क्षेत्रों में जो भी रजोहरण, मुखवस्त्रिका, पूंजनी एवं पात्र को धारण करने वाले तथा पांच महाव्रत, अठारह हजार शीलांग रूप रथ के धारण करने वाले एवं अक्षत आचार के पालक त्यागी साधु हैं उन सब को शिर से, मन से, मस्तक से वंदना करता हूँ।

विवेचन - प्रस्तुत प्रतिज्ञा सूत्र का एक-एक शब्द साधना को स्फूर्ति एवं प्रगति की दिव्य ज्योति को आलोकित करने वाला है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"णमो चउवीसाए तित्थयराणं उसभाइ महावीर पज्जवसाणाणं" इस पाठ में सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया है। यह नियम है कि जैसी साधना करनी हो उसी साधना के उपासकों का स्मरण किया जाता है। युद्धवीर, युद्धवीरों का तो अर्थवीर, अर्थवीरों का स्मरण करते हैं। यह धर्म युद्ध है अतः यहां धर्मवीरों का ही स्मरण किया गया है। जैन धर्म के इन चौबीस तीर्थंकरों ने धर्मसाधना के लिए अनेकानेक भयंकर परीषह सहे और अंत में साधक से सिद्ध पद पर पहुंच कर अजर अमर परमात्मा हो गए। अतः उनका पवित्र स्मरण हम साधकों के दुर्बल मन में उत्साह, बल एवं स्वाभिमान की भावना प्रदीप्त करने वाला है। उनकी स्मृति हमारी आत्मशुद्धि को स्थिर करने वाली है। तीर्थंकर हमारे लिए अंधकार में प्रकाश स्तंभ के समान है।

वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकर हुए हैं उनमें भगवान् ऋषभदेव प्रथम और भगवान् महावीर स्वामी अंतिम (चौबीसवें) तीर्थंकर थे।

णिग्गंथं पावयणं (निर्ग्रंथ प्रवचन) - यहां **'पावयणं'** विशेष्य है और **'णिग्गंथं'** विशेषण है। **णिग्गंथं** का संस्कृत रूप 'निर्ग्रंथ' होता है। निर्ग्रंथ का अर्थ है - धन, धान्य आदि बाह्य ग्रंथ और मिथ्यात्व अविरति, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आभ्यंतर ग्रंथ अर्थात् परिग्रह से रहित पूर्ण त्यागी एवं संयमी साधु।

जो रागद्वेष की गांठ को सर्वथा अलग कर देता है, तोड़ देता है वही निश्चय में निर्ग्रंथ है। यहां निर्ग्रंथ शब्द का यही अर्थ लिया गया है अतः सच्चे निर्ग्रंथ तो अर्हन्त और सिद्ध ही है।

जिसमें जीवादि पदार्थों का तथा ज्ञानादि रत्नत्रय की साधना का यथार्थ रूप से निरूपण किया गया है वह सामायिक से लेकर बिंदुसार पूर्व तक का आगम साहित्य 'प्रवचन' है।

अतः निर्ग्रंथ प्रवचन का अर्थ है - अर्हन्तों का प्रवचन अर्थात् जिनधर्म। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रूप मोक्ष मार्ग ही जिनधर्म है।

निर्ग्रंथ प्रवचन (जैन धर्म) की महिमा बताने के लिए सूत्रकार ने निम्न विशेषण प्रयुक्त किये हैं -

१. सच्चं (सत्य) - रत्नत्रय रूप जैन धर्म सत्य है। जो असत्य है, अविश्वसनीय है वह धर्म नहीं अधर्म है। आचार्य जिनदास ने **सच्चं** शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

'सद्भ्यो हितं सत्यं, सद्भूतं वा सत्यं' अर्थात् जो भव्यात्माओं के लिए हितकर हो तथा सद्भूत हो वह सत्य है।

२. **केवलियं** (कैवलिक, केवल) - **केवलियं** शब्द के संस्कृत रूपान्तर हैं - केवल और कैवलिक। 'केवल' का अर्थ है - अद्वितीय सम्यग्दर्शन आदि तत्त्व अद्वितीय हैं, सर्वश्रेष्ठ है।

कैवलिक का अर्थ है - केवलज्ञानियों द्वारा प्ररूपित अर्थात् प्रतिपादित। छद्मस्थ मनुष्य भूल कर सकता है अतः उसके बताए हुए सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता परन्तु जो केवलज्ञानी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वद्रष्टा हैं - त्रिकालदर्शी हैं, उनका कथन किसी प्रकार भी असत्य नहीं हो सकता।

सम्यग्दर्शन आदि धर्म तत्त्व का निरूपण केवलज्ञानियों द्वारा हुआ है अतः वह पूर्ण सत्य है, त्रिकालाबाधित है।

३. **पडिपुण्णं** (प्रतिपूर्ण) - जैन धर्म एक प्रतिपूर्ण धर्म है। आचार्य हरिभद्र प्रतिपूर्ण शब्द का अर्थ करते हैं - **'अपवर्ग-प्रापकैर्गुणैर्भृतमिति'** अर्थात् - जो मोक्ष को प्राप्त कराने वाले सद्गुणों से पूर्ण भरा हुआ है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप जैनधर्म अपने आप में सब ओर से प्रतिपूर्ण है, किसी प्रकार खण्डित नहीं है।

४. **णेयाउयं** (नैयायिक) - आचार्य हरिभद्र नैयायिक का अर्थ करते हैं - **'नयनशीलं नैयायिकं मोक्षगमक-मित्यर्थः'** - 'जो नयनशील है, ले जाने वाला है वह नैयायिक है।' सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष में ले जाने वाले हैं अतः नैयायिक कहलाते हैं।

आचार्य जिनदास नैयायिक का अर्थ करते हैं - न्यायाबाधित। यथा - **'न्यायेन चरति नैयायिकं न्यायाबाधितमित्यर्थः'** - सम्यग्दर्शन आदि जैनधर्म सर्वथा न्यायसंगत है। केवल आगमोक्त होने से ही मान्य है, यह बात नहीं है। यह पूर्ण तर्क सिद्ध धर्म है। यही कारण है कि जैनधर्म तर्क से डरता नहीं है अपितु तर्क का स्वागत करता है।

५. **संसुद्धं** (संशुद्ध) - जैनधर्म परीक्षा की कसौटी पर पूर्ण शुद्ध है, सत्य है। वह धर्म ही क्या जो परीक्षा की आग में पड़ कर म्लान हो जाय? जैनधर्म शुद्ध सोने की तरह खरा है।

६. **सल्लगत्तणं** (शल्यकर्तन) - शल्य तीन हैं - माया, निदान और मिथ्यात्व। इन शल्यों को काटने की शक्ति एक मात्र धर्म में ही है। सम्यग्दर्शन, मिथ्यात्व शल्य को काटता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है, सरलता, मायाशल्य को और निर्लोभता, निदान शल्य को, अतएव जैनधर्म को शल्यकर्तन कहना उपयुक्त है।

७. **सिद्धिमग्गं** (सिद्धिमार्ग) - आचार्य हरिभद्र **'सिद्धि'** का अर्थ करते हैं - हितार्थ प्राप्ति। आचार्यकल्प पं. आशाधरजी ने मूलाराधना की टीका में **'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः'**- अपने आत्मस्वरूप की उपलब्धि को 'सिद्धि' कहा है। मार्ग का अर्थ है - उपाय। आत्मस्वरूप की प्राप्ति का उपाय, सिद्धिमार्ग है। सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय, सिद्धिमार्ग है। जिसको सिद्धत्व प्राप्त करना है उसको शुद्ध भाव से सम्यग्दर्शन आदि धर्म की साधना करनी होगी।

८. **मुत्तिमग्गं** (मुक्ति मार्ग) - कर्मों की विच्युति, मुक्ति कहलाती है। जैनधर्म, मुक्ति मार्ग है। कर्मबंधन से मुक्ति का साधन है।

९. **णिज्जाणमग्गं** (निर्याण मार्ग) - आचार्य हरिभद्र निर्याण का अर्थ मोक्ष पद करते हैं। जहां जाया जाता है वह यान होता है। निरूपम यान निर्याण कहलाता है। मोक्ष ही ऐसा पद है, जो सर्वश्रेष्ठ यान = स्थान है, अतः वह जैन आगम साहित्य में निर्याण पद वाच्य भी है।

आचार्य जिनदास निर्याण का अर्थ करते हैं - **'निर्याणं संसारात्पलायणं'** - संसार से निर्गमन। सम्यग्दर्शनादि धर्म ही अनंतकाल से भटकते हुए भव्य जीवों को संसार से बाहर निकालते हैं अतः संसार से बाहर निकलने का मार्ग होने से सम्यग्दर्शनादि धर्म 'निर्याण मार्ग' कहलाता है।

१०. **णिव्वाणमग्गं** (निर्वाण मार्ग) - आचार्य हरिभद्र कहते हैं - **'निर्वृति निर्वाण-सकल कर्मक्षयजमात्यन्तिकं सुखाभित्यर्थः'** अर्थात् सब कर्मों के क्षय होने पर आत्मा को जो कभी नष्ट न होने वाला आत्यंतिक आध्यात्मिक सुख प्राप्त होता है, वह निर्वाण कहलाता है। निर्वाण का मार्ग सम्यग्दर्शन आदि रूप जैनधर्म है।

११. **अवितहं** (अवितथ) - अवितथ का अर्थ सत्य है। जिनशासन सत्य है, असत्य नहीं।

पहले सत्य शब्द का उल्लेख हुआ है वह विधानात्मक रूप था। किंतु अवितथ शब्द से असत्य का सर्वथा परिहार हो जाता है, पूर्ण यथार्थ सत्य का स्पष्टीकरण हो जाता है। अतः इसे पुनरुक्ति दोष का कारण नहीं समझना चाहिये।

१२. **अविसंधि** (अविसन्धि) - अविसंधि का अर्थ है - सन्धि रहित। संधि बीच के अंतर को कहते हैं। जैनधर्म विच्छेदरहित अर्थात् सनातन नित्य है तथा पूर्वापर विरोध रहित है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१३. सव्वदुक्खपहीणमग्गं (सर्वदुःखप्रहीण मार्ग) - धर्म का अंतिम विशेषण सर्वदुःखप्रहीण मार्ग है। उक्त विशेषण में धर्म की महिमा का विराट् सागर छुपा हुआ है। संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख से व्याकुल है, क्लेश से संतप्त है। वह अपने लिए सुख चाहता है, आनंद चाहता है। आनंद भी वह, जो कभी दुःख से स्पृष्ट न हो। दुःखों का सर्वथा अभाव तो मोक्ष में ही हो सकता है, अन्यत्र नहीं और वह मोक्ष, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप धर्म की साधना से ही प्राप्त हो सकता है। यानी सभी दुःखों का पूर्णतया क्षय कर शाश्वत सुख प्राप्त करने का मार्ग जैनधर्म है।

अब इस धर्म की आराधना का फल बतलाने के लिए निम्न शब्दों का प्रयोग किया गया है -

सिज्झंति (सिद्ध होते हैं) - धर्म की आराधना करने वाले ही सिद्ध होते हैं। आराधना-साधना की पूर्णाहुति का नाम ही सिद्धि है। आचार्य जिनदास महत्तर के अनुसार - **'सिज्झंति-सिद्धा भवंति, परिनिष्ठितार्था भवन्ति'** - आत्मा के अनंत गुणों का पूर्ण विकास हो जाना ही सिद्धत्व माना गया है।

बुज्झंति (बुद्ध होते हैं) - बुद्ध का अर्थ होता है - पूर्ण ज्ञानी।

शंका - आध्यात्मिक विकास क्रम स्वरूप चौदह गुणस्थानों में अनंतज्ञान अनंतदर्शन आदि तेरहवें गुणस्थान में ही प्राप्त हो जाते हैं और मोक्ष चौदहवें गुणस्थान के बाद होती है अतः **'सिज्झंति'** के बाद **'बुज्झंति'** कहने का क्या अर्थ है? विकास क्रम के अनुसार तो **बुज्झंति** का प्रयोग **सिज्झंति** के पहले होना चाहिए था?

समाधान - यह सत्य है कि केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान में प्राप्त हो जाता है, अतः विकास क्रम के अनुसार बुद्धत्व का नम्बर पहला है और सिद्धत्व का दूसरा। परंतु यहां सिद्धत्व के बाद जो बुद्धत्व कहा है उसका अभिप्राय यह है कि सिद्ध हो जाने के बाद भी बुद्धत्व बना रहता है, नष्ट नहीं होता।

मुच्चंति (मुक्त होते हैं) - जैनदर्शन में **'कृत्स्नकर्म क्षयो मोक्षः'** कहा है अर्थात् जब तक एक भी कर्म परमाणु आत्मा से संबंधित रहता है तब तक मोक्ष नहीं हो सकती। सब कर्मों का क्षय होने पर ही सिद्धत्व भाव प्राप्त होता है, मोक्ष होता है। सिद्धत्व का अर्थ ही मुक्तत्व - कर्मों से मुक्त होना है। किंतु कुछ दार्शनिक मोक्ष अवस्था में भी शुभ कर्म की सत्ता मानते हैं इसका निराकरण करने के लिए ही **'मुच्चंति'** शब्द का प्रयोग किया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् जैन धर्म का यह सिद्धान्त सर्वथा सत्य है कि सिद्ध होने पर आत्मा सब प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से सदा के लिए मुक्त हो जाती है।

परिणिव्वायंति (परिनिर्वाण को प्राप्त करते हैं) - परिनिर्वाण - पूर्ण आत्म शांति को प्राप्त करते हैं।

'परिणिव्वायंति' शब्द के द्वारा यही स्पष्टीकरण किया गया है कि जैनधर्म का निर्वाण न आत्मा का बुझ जाना है और न केवल दुःखाभाव का होना है। वह तो अनंत सुखस्वरूप है और वह सुख भी ऐसा है जो कभी दुःख से संप्रक्त नहीं होता।

सव्वदुक्खाणमंतं करेंति (सब दुःखों का अंत करते हैं) - मोक्ष की विशेषताओं को बताते हुए सबके अंत में कहा गया है कि 'धर्माराधक साधक मोक्ष प्राप्त कर शारीरिक तथा मानसिक सब प्रकार के दुःखों का अंत कर देता है।'

प्रस्तुत विशेषण का सारांश पहले के विशेषणों में भी आ चुका है। यहां स्वतंत्र रूप में इसका उल्लेख सामान्यतः मोक्ष स्वरूप का दिग्दर्शन कराने के लिए है।

सद्दहामि पत्तियामि रोएमि (श्रद्धा करता हूं, प्रतीति करता हूं, रुचि करता हूं) समकित छप्पनी में कहा है कि -

तर्क अगोचर सद्द हो, द्रव्य धर्म अधर्म।
केई प्रतीते युक्ति सु, पुण्य पाप सकर्म॥
तप चारित्रे ने रोचवो, कीजे तस अभिलाष।
श्रद्धा प्रत्यय रुचि तिहं, जिन आगम साख॥

अर्थात् - धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों पर विश्वास श्रद्धा है। व्याख्याता के साथ तर्क वितर्क करके युक्तियों द्वारा पुण्य पाप आदि को समझ कर विश्वास करना प्रतीति है। व्याख्याता द्वारा उपदिष्ट विषय में श्रद्धा करके उसके अनुसार तप-चारित्र आदि का सेवन करने की इच्छा करना रुचि है।

धर्म के लिए अपनी हार्दिक श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए साधक कहता है कि मैं धर्म की श्रद्धा करता हूं, प्रतीति (प्रीति) करता हूं और रुचि करता हूं।

प्रीति का अर्थ है प्रेम भरा आकर्षण और रुचि का अर्थ है अभिरुचि अर्थात् उत्सुकता। सामान्य प्रेमाकर्षण को प्रीति कहते हैं और विशेष प्रेमाकर्षण को अभिरुचि। अस्तु, साधक कहता है, मैं धर्म की श्रद्धा करता हूं। श्रद्धा ऊपर मन से भी की जा सकती है अतः कहता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है कि 'मैं धर्म की प्रीति (प्रतीति)करता हूं' प्रीति होते हुए भी कभी विशेष स्थिति में रुचि नहीं रहती अतः कहता है कि 'मैं धर्म के प्रति सदाकाल रुचि रखता हूं। कितने ही संकट हों, आपत्तियाँ हों, परंतु सच्चे साधक की धर्म के प्रति कभी भी अरुचि नहीं होती। वह जितना ही धर्माराधन करता है, उतनी ही उस ओर रुचि बढ़ती जाती है। धर्माराधन के मार्ग में न सुख बाधक बन सकता और न दुःख। दिन रात अविराम गति से हृदय में श्रद्धा, प्रतीति और रुचि की ज्योति प्रदीप्त करता हुआ साधक, अपने धर्मपथ पर अग्रसर होता रहता है।

फासेमि पालेमि अणुपालेमि (स्पर्श करता हूँ, पालन करता हूँ, अनुपालन करता हूँ) - साधक श्रद्धा, प्रतीति और रुचि से आगे बढ़ कर कहता है - "मैं धर्म का स्पर्श करता हूँ, उसे आचरण के रूप में स्वीकार करता हूँ।" "केवल स्पर्श ही नहीं, मैं प्रत्येक स्थिति में धर्म का पालन करता हूँ - स्वीकृत आचार की रक्षा करता हूं।" "एक दो बार ही पालन करता हूँ, यह बात नहीं। मैं धर्म का नित्य निरन्तर पालन करता हूँ, बार बार पालन करता हूँ, जीवन के हर क्षण में पालन करता हूँ।"

अब्भुट्ठिओमि (अभ्युत्थित होता हूँ) - साधक प्रतिज्ञा करता है कि मैं धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, स्पर्शना, पालना तथा अनुपालना करता हुआ धर्म की आराधना में पूर्ण रूप से अभ्युत्थित होता हूँ और धर्म की विराधना से निवृत्त होता हूँ।

परिजाणामि (जानता हूँ और छोड़ता हूँ) - **'परिजाणामि'** का अर्थ न केवल जानना है और न केवल छोड़ना है अपितु सम्मिलित अर्थ है - जान कर छोड़ना। आचार्य हरिभद्र ने इसका अर्थ किया है - **'ज्ञ-परिज्ञया विज्ञाय प्रत्याख्यान परिज्ञया प्रत्याख्यामीत्यर्थः'।** ज्ञ परिज्ञा का अर्थ, हेय आचरण को स्वरूपतः जानना है और प्रत्याख्यान परिज्ञा का अर्थ, उसका प्रत्याख्यान करना है - उसको छोड़ना है। प्रत्याख्यान परिज्ञा से पहले ज्ञ-परिज्ञा अत्यंत आवश्यक है। जान कर समझ कर विवेकपूर्वक किया हुआ प्रत्याख्यान ही सुप्रत्याख्यान होता है।

'असंजमं परियाणामि संजमं उवसंपज्जामि.....' आदि आठ बोल जान कर छोड़ने योग्य हैं तो इससे विपरीत आठ बोल स्वीकार करने योग्य हैं, यथा -

१. असंयम - प्राणातिपात आदि २. अब्रह्मचर्य - मैथुन वृत्ति ३. अकल्प - अकृत्य ४. अज्ञान - मिथ्याज्ञान ५. अक्रिया - असत् क्रिया ६. मिथ्यात्व - अतत्त्वार्थ श्रद्धान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७. अबोधि – मिथ्यात्व का कार्य ८. उन्मार्ग – अमार्ग हिंसा आदि, ये आठ बोल जान कर छोड़ने योग्य हैं। उपरोक्त आठ आत्मविरोधी प्रतिकूल आचरण का त्याग कर –

१. संयम २. ब्रह्मचर्य ३. कल्प-कृत्य ४. सम्यग्ज्ञान ५. सत्क्रिया ६. सम्यक्त्व ७. बोधि ८. सन्मार्ग इन आठ बोलों को स्वीकार करना।

जं संभरामि, जं च न संभरामि – साधक कहता है कि जिन दोषों की मुझे स्मृति है उनका प्रतिक्रमण करता हूँ और जिन दोषों की स्मृति नहीं भी रही है उनका भी प्रतिक्रमण करता हूँ।

जं पडिक्कमामि जं च न पडिक्कमामि – जिनका प्रतिक्रमण करता हूं, जिनका प्रतिक्रमण नहीं करता हूं उन सब दैवसिक अतिचारों का प्रतिक्रमण करता हूँ।

शंका – जिनका प्रतिक्रमण करता हूं फिर भी उनका प्रतिक्रमण करता हूं – इसका क्या अर्थ? प्रतिक्रमण का भी प्रतिक्रमण करना कुछ समझ में नहीं आता?

समाधान – इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य जिनदास **'पडिक्कमामि'** का अर्थ **परिहरामि** करते हैं और कहते हैं – 'शारीरिक दुर्बलता आदि किसी विशेष परिस्थितिवश यदि मैंने करने योग्य सत्कार्य छोड़ दिया हो – न किया हो और न करने योग्य कार्य किया हो तो उस सब अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूं।'

समणोऽहं (मैं श्रमण हूं) – 'श्रमण' शब्द में साधना के प्रति निरन्तर जागरूकता, सावधानता एवं प्रयत्नशीलता का भाव रहा हुआ है 'मैं श्रमण हूं' अर्थात् साधना के लिए कठोर श्रम करने वाला हूं। मुझे जो कुछ पाना है, अपने श्रम अर्थात् पुरुषार्थ के द्वारा ही पाना है।

संजय (संयत) – संयम में सम्यक् यत्न करने वाला। अहिंसा, सत्य आदि कर्त्तव्यों में साधक को सदैव सम्यक् प्रयत्न करते रहना चाहिये। यह संयम की साधना का भावात्मक रूप है।

विरय (विरत) – सब प्रकार के सावद्य योगों से विरति – निवृत्ति करने वाला। जो संयम की साधना करना चाहता है उसे असदाचरण रूप समस्त सावद्य प्रयत्नों से निवृत्त होना ही चाहिये। असंयम में निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति करने से ही साधना का वास्तविक रूप स्पष्ट होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मो (प्रतिहत प्रत्याख्यात पापकर्मा) - भूतकाल में किए गए पाप कर्मों को निन्दा एवं गर्हा के द्वारा प्रतिहत करने वाला और वर्तमान तथा भविष्य में होने वाले पाप कर्मों को अकरणता रूप प्रत्याख्यान के द्वारा प्रत्याख्यात करने वाला।

यह विशेषण साधक की त्रैकालिक जीवन शुद्धि का प्रतीक है।

अनियाणो (अनिदान) - निदान से रहित अर्थात् निदान का परिहार करने वाला। निदान का अर्थ आसक्ति है। साधना के लिए किसी भी प्रकार की भी भोगासक्ति जहरीला कीड़ा है। कितनी ही बड़ी ऊंची साधना हो, यदि भोगासक्ति है तो वह उसे अंदर ही अंदर खोखला कर देती है, सड़ा गला देती है। अतः साधक घोषणा करता है कि - 'मैं अनिदान हूँ। न मुझे इस लोक की आसक्ति है और न परलोक की। न मुझे देवताओं का वैभव ललचा सकता है और न किसी चक्रवर्ती सम्राट का विशाल साम्राज्य ही इस विराट् संसार में मेरी कोई भी कामना नहीं है। न मुझे दुःख से भय है और न सुख से मोह। अतः मेरा मन न कांटों में उलझ सकता है और न फूलों में। मैं साधक हूँ। अस्तु, मेरा एक मात्र लक्ष्य मेरी साधना है, अन्य कुछ नहीं। मेरा ध्येय बंधन नहीं, प्रत्युत बंधन से मुक्ति है।'

दिट्ठिसंपण्णो (दृष्टिसंपन्न) - दृष्टिसंपन्न का अर्थ है - सम्यग्दर्शन रूप शुद्ध दृष्टि वाला। सम्यग्दर्शन ही वह निर्मल दृष्टि है जिसके द्वारा संसार को संसार के रूप में, मोक्ष को मोक्ष के रूप में, संसार के कारणों को संसार के कारणों के रूप में, मोक्ष के कारणों को मोक्ष के कारणों के रूप में अर्थात् धर्म को धर्म के रूप में और अधर्म को अधर्म के रूप में देखा जा सकता है।

मायामोस विवज्जिओ (माया-मृषा विवर्जित) - माया मृषा रहित। माया मृषा साधक के लिए बड़ा ही भयंकर पाप है। जो साधक झूठ बोल सकता है, झूठ भी वह, जिसके गर्भ में माया रही हुई हो, भला वह क्या साधना करेगा? मायामृषावादी साधक नहीं होता, ठग होता है। वह धर्म के नाम पर अधर्म करता है, धर्म का ढोंग रचता है।

अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पण्णरसकम्मभूमीसु - जंबूद्वीप, धातकीखण्ड और अर्द्धपुष्कर द्वीप तथा लवण एवं कालोदधि समुद्र - यह अढाई द्वीप समुद्र परिमित मानव क्षेत्र है। श्रमण धर्म की साधना का यही क्षेत्र माना जाता है। आगे के क्षेत्रों में न मनुष्य है और श्रमण धर्म की साधना है। यहां अढाई द्वीप के मानव क्षेत्र में जो भी साधु साध्वी हैं उन सबको मस्तक झुका कर वंदन किया गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रयहरण गुच्छ पडिग्गहधरा(धारा) - रजोहरण गोच्छक एवं प्रतिग्रह - पात्र आदि द्रव्य साधु के चिह्न हैं, इनको धारण करने वाले।

पंच महव्वयधरा - पांच महाव्रत आदि भाव साधु के गुण कहे गये हैं। जो द्रव्य और भाव दोनों दृष्टियों से साधुता की मर्यादा से युक्त हों, वे सब वंदनीय मुनि हैं।

द्रव्य के बाद भाव का उल्लेख, भाव साधुता का महत्त्व बताने के लिए हैं। द्रव्य साधुता न हो और केवल भाव साधुता हो तब भी वह वंदनीय है परंतु भाव के बिना केवल द्रव्य साधुता कथमपि वंदनीय नहीं हो सकती है।

अट्ठारस सहस्स सीलंगधरा (अठारह हजार शीलांग के धारक) - शील का अर्थ आचार है। भेदानुभेद की दृष्टि से आचार के अठारह हजार प्रकार होते हैं। क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्य - यह दश प्रकार का श्रमण-धर्म है। दशविध श्रमण धर्म के धर्ता मुनि पांच स्थावर, चार त्रस और एक अजीव - इस प्रकार दश की विराधना नहीं करते। अस्तु, दशविध श्रमण धर्म को पृथ्वीकाय आदि दश की अविराधना से गुणन करने पर १०×१०=१०० भेद हो जाते हैं। पांच इन्द्रियों के वश में पड़ कर ही मानव पृथ्वीकाय आदि दश की विराधना करता है अतः १०० × ५ = ५०० भेद होते हैं। पुनः आहार, भय, मैथुन और परिग्रह उक्त चार संज्ञाओं के निरोध से ५०० × ४ = २००० भेद होते हैं। २००० को मन, वचन और काय उक्त तीन दण्डों के निरोध से तीन गुणा करने पर छह हजार भेद होते हैं। पुनः ६००० को करना, कराना और अनुमोदन उक्त तीनों से गुणन करने पर कुल १८००० शील के भेद होते हैं।

शील के १८००० भेद एक गाथा में बतलाये गये हैं। वह गाथा इस प्रकार हैं -

"जे णो करेंति मणसा णिज्जियाहारसण्णा सोइंदिए।
पुढविकायारंभं खंति जुआ ते मुणी वंदे॥"

इस एक गाथा से अठारह हजार गाथाएं बन जाती है। यथा - मन से न करना। इसको क्षमादि दस गुणों से गुणा करने पर दस गाथाएं बनती है। फिर इनको पृथ्वीकाय आदि दस असंयम से गुणा करने पर सौ गाथाएं बनती हैं। इनको मन, वचन और काया, इन तीन योग से गुणा करने पर छह हजार गाथाएं बनती है। इनको करना, कराना, अनुमोदना इन तीन करण से गुणा करने पर अठारह हजार गाथाएं बनती हैं।

शील का अर्थ ब्रह्मचर्य तो है ही किन्तु शील का अर्थ संयम भी होता है अतः ये अठारह हजार गाथाएं शील (संयम) संबंधी कही है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि (शिर से, मन से और मस्तक से वंदना करता हूँ) प्रश्न होता है कि शिर और मस्तक तो एक ही है फिर यह पुनरुक्ति क्यों? इसका समाधान यह है कि शिर, समस्त शरीर में मुख्य है। अतः शिर से वंदन करने का अभिप्राय है शरीर से वंदन करना। मन, अंतःकरण है अतः यह मानसिक वंदना का द्योतक है। **'मत्थएण वंदामि'** का अर्थ है - मस्तक झुकाकर वंदन करता हूं, यह वाचिक वन्दना का रूप है। अस्तु मानसिक, वाचिक और कायिक विविध वंदना का स्वरूप निर्देश होने से पुनरुक्ति दोष नहीं है।

प्रश्न - **'असंजमं परियाणामि'** आदि ८ बोलों का परस्पर क्या सम्बन्ध है?

उत्तर - जिस प्रकार चौथे श्रमण सूत्र में एक असंयम के प्रतिक्रमण में सभी बोलों का समावेश हो जाने पर भी साधारण साधक अच्छी तरह प्रतिक्रमण कर सकें, उसी असंयम को तेंतीस बोलों के द्वारा उचित विस्तार करके समझाया है। इसी प्रकार पांचवें श्रमण सूत्र में भी समझना चाहिए। अर्थात् संयम के स्वीकार में ब्रह्मचर्यादि का समावेश हो जाने पर भी अधिक सजगता के लिए आठ बोल अलग दिए हैं।

सर्वप्रथम साधक प्रतिज्ञा करता है कि मैं आराधना के लिए कटिबद्ध हुआ हूँ और विराधना से निवृत्त हुआ हूँ। यह कोई बोल नहीं है यह तो प्रतिज्ञा मात्र है। आगे आराधना के लिए किन्हें स्वीकार करता हूं और किनका त्याग करता हूं। साधक इसका ब्योरा पेश करता है। इस ब्योरे में सर्वप्रथम असंयम का त्याग और संयम को स्वीकार करता है, अपने संयम की सुरक्षा के लिए आगे अब्रह्म का त्याग एवं ब्रह्म को स्वीकार करता है। अपने ब्रह्म की रक्षा के लिए (सदोष एवं प्रणीत आहारादि) का त्याग एवं कल्प को स्वीकार करता है, ज्ञान के बिना यह सम्भव नहीं होने से आगे अज्ञान का त्याग और ज्ञान को स्वीकार करता है, ज्ञान के द्वारा जब अपने आचरण को देखता है तब वह जिनवाणी की आज्ञा से विपरीत आचरण रूप अक्रिया का त्याग करता है और भगवदाज्ञानुसार शुद्ध आचरण रूप क्रिया को स्वीकार करता है। ज्ञान और क्रिया की शुद्धि सम्यक् श्रद्धान पर ही स्थायी रह सकती है। अतः मिथ्या श्रद्धान रूप मिथ्यात्व का त्याग करता है और सम्यक् श्रद्धान रूप सम्यक्त्व को स्वीकार करता है। आत्म जागृति के अभाव में नन्द मणियार की तरह साधक पुनः मिथ्यात्व में जा सकता है, इसलिए साधक अबोधि का त्याग करता है और आत्म जागृति रूप बोधि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को स्वीकार करता है। अपनी जागृति को सुरक्षित रखने के लिए विषय कषायादि औदयिक भाव रूप अमार्ग का त्याग करता है और क्षयोपशमिकादि भाव रूप मार्ग को स्वीकार करता है, इस प्रकार साधक अपनी साधना में जागृति टिकाये रखने के लिए जिनवाणी की महिमा कथन पूर्वक भाव विभोर होकर आराधना के लिए कटिबद्ध होता हुआ अकार्यों से निवृत्ति और कार्यों में प्रवृत्ति की भावना रखता है, इससे जीवन पर बड़ा हितकारी असर होता है।

उपर्युक्त प्रकार से जैसा इन आठ पदों का सम्बन्ध ध्यान में आया है वह बताया गया है इसी प्रकार के अन्य सम्बन्ध भी बिठाये जा सकते हैं। क्योंकि सूत्र के अनन्त गम पर्याय होते हैं।

क्षमापना सूत्र

आयरिय उवज्झाए का पाठ

आयरिय उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणे य ।
जे मे केई कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥
सव्वस्स समणसंघस्स, भगवओ अंजलिं करिय सीसे ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥ २ ॥
सव्वस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्म-निहिय निय चित्तो ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि❖ ॥ ३ ॥

कठिन शब्दार्थ - आयरिय - आचार्य पर, **उवज्झाए** - उपाध्याय पर, **सीसे** - शिष्य पर, **साहम्मिए** - साधर्मिक पर, **गणे** - गण पर, **कसाया** - कषाय किये हो, **खामेमि** - खमाता हूं, **सीसे** - शिर पर, **सव्वस्स** - सब, **समण संघस्स** - श्रमण संघ से, **खमावइत्ता**- क्षमा करके, **अहयं पि** - मैं भी, **जीवरासिस्स** - जीव राशि से, **भावओ** - भाव से, **धम्म निहिय-निय-चित्तो** - धर्म में अपने चित्त को स्थिर करके।

❖ **रागेण व दोसेण व अहवा, अकयन्नुणा पडिनिवेसेणं।**
जं मे किंचि वि भणियं, तमहं तिविहेण खामेमि॥

अर्थ - राग,द्वेष, अकृतज्ञता अथवा आग्रहवश मैंने जो कुछ भी कहा है उसके लिए मैं मन, वचन, काया से सभी से क्षमा चाहता हूँ। (किसी किसी प्रति में यह पाठ अधिक है)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल और गण पर मैंने जो कुछ भी कषाय भाव किये हों, उन सब की मैं मन, वचन और काया से क्षमा चाहता हूँ॥१॥

अंजलिबद्ध दोनों हाथ जोड़ कर समस्त श्रमण संघ से मैं अपने सब अपराधों की क्षमा चाहता हूँ और मैं भी उनके प्रति क्षमा भाव करता हूँ॥२॥

धर्म में अपने चित्त को स्थिर कर के समस्त जीवराशि से मैं भावपूर्वक अपने अपराधों की क्षमायाचना करता हूँ और मैं भी उनके प्रति क्षमा भाव करता हूँ॥३॥

खामेमि सव्व जीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं ण केणइ ॥ १ ॥
एवमहं आलोइय, निंदिय-गरहिय-दुगुंछियं सम्मं ।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे-चउव्वीसं ॥ २ ॥

कठिन शब्दार्थ - **खमंतु** - क्षमा करें, **सव्वभूएसु** - सब जीवों पर, **मे** - मेरी, **मित्ती** - मित्रता है, **केणइ** - किसी के साथ, **मज्झं** - मेरा, **वेरं** - वैरभाव, **एवमहं** - इस प्रकार मैं, **आलोइय** - आलोचना करके, **निंदिय** - निन्दा करके, **गरहिय** - गर्हा करके, **दुगुंछियं** - जुगुप्सा करके, **तिविहेण** - तीन प्रकार से, **पडिक्कंतो** - पाप कर्म से निवृत्त होकर, **चउव्वीसं** - चौबीस।

भावार्थ - मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ वे सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों के साथ मैत्री-मित्रता है किसी के साथ भी मेरा वैर-विरोध नहीं है।

इस प्रकार मैं सम्यक् आलोचना, निन्दा, गर्हा और जुगुप्सा करके तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन और काया से प्रतिक्रमण कर पापों से निवृत्त हो कर चौबीस तीर्थंकर देवों को वंदन करता हूँ।

विवेचन - क्षमा, मनुष्य की सबसे बड़ी शक्ति है। मनुष्य की मनुष्यता के पूर्ण दर्शन भगवती क्षमा में ही होते हैं। क्षमा के बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। उग्र से उग्र क्रियाकाण्ड, दीर्घ से दीर्घ तपश्चरण क्षमा के अभाव में केवल देह दण्ड ही होता है, उससे आत्मकल्याण तनिक भी नहीं हो सकता।

क्षमा का अर्थ है - सहनशीलता रखना। किसी के किए अपराध को अर्न्तहृदय से भी भूल जाना, दूसरों के अनुचित व्यवहार की ओर कुछ भी लक्ष्य न देना, प्रत्युत अपराधी पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुराग और प्रेम का मधुर भाव रखना, क्षमा धर्म की उत्कृष्ट विशेषता है। क्षमा के बिना मानवता पनप ही नहीं सकती।

प्रतिक्रमण अध्ययन की समाप्ति पर प्रस्तुत क्षामणा सूत्र पढ़ते समय जब साधक दोनों हाथ जोड़ कर क्षमायाचना करने के लिए खड़ा होता है, तब कितना सुंदर शांति का दृश्य होता है? अपने चारों ओर अवस्थित संसार के समस्त छोटे-बड़े प्राणियों से गद्‌गद् होकर क्षमा मांगता हुआ साधक वस्तुतः मानवता की सर्वोत्कृष्ट भूमिका पर पहुंच जाता है।

शंका - **'सव्वे जीवा खमंतु मे'** क्यों कहा जाता है? सब जीव मुझे क्षमा करें, इसका क्या अभिप्राय है? वे क्षमा करें या न करें, हमें इससे क्या? हमें तो अपनी ओर से क्षमा मांग लेनी चाहिये।

समाधान - प्रस्तुत पाठ में करुणा का अपार सागर तरंगित हो रहा है। कौन जीव कहां है? कौन क्षमा कर रहा है? कौन नहीं। कुछ पता नहीं। फिर भी अपने हृदय की करुणा भावना है कि मुझे सब जीव क्षमा कर दें। क्षमा कर दें तो उनकी आत्मा भी क्रोध निमित्तक कर्मबंध से मुक्त हो जाय।

जो साधक दृढ़ होगा, आत्मार्थी होगा, जीवन शुद्धि की ही चिंता रखता होगा, वही आलोचना के दुर्गम पथ पर अग्रसर हो सकता है।

निंदा का अर्थ है - आत्म साक्षी से अपने पापों की आलोचना करना। पश्चात्ताप करना।

गर्हा का अर्थ है - पर की साक्षी से अपने पापों की बुराई करना।

जुगुप्सा का अर्थ है - पापों की प्रति पूर्ण घृणा भाव व्यक्त करना। जब तक पापाचार के प्रति घृणा न हो, तब तक मनुष्य उससे बच नहीं सकता। पापाचार के प्रति उत्कृष्ट घृणा रखना ही पापों से बचने का एक मात्र अस्खलित मार्ग है। अतः आलोचना, निंदा, गर्हा और जुगुप्सा के द्वारा किया जाने वाला प्रतिक्रमण ही सच्चा प्रतिक्रमण है।

॥ चौथा अध्ययन समाप्त ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काउस्सग्गं णामं पंचमं अज्झयणं

कायोत्सर्ग नामक पंचम अध्ययन

छह अध्ययनों में कायोत्सर्ग पांचवां अध्ययन है। कायोत्सर्ग में दो शब्द हैं - काय और उत्सर्ग। जिसका अर्थ है - काय का त्याग अर्थात् शरीर के ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है। प्रतिक्रमण अध्ययन के बाद कायोत्सर्ग का स्थान है। प्रतिक्रमण के द्वारा व्रतों के अतिचार रूप छिद्रों को बंद कर देने वाला, पश्चात्ताप के द्वारा पाप कर्मों की निवृत्ति करने वाला साधक ही कायोत्सर्ग की योग्यता प्राप्त कर सकता है। जब तक प्रतिक्रमण के द्वारा पापों की आलोचना करके चित्त शुद्धि न की जाय तब तक धर्मध्यान या शुक्लध्यान के लिए एकाग्रता संपादन करने का जो कायोत्सर्ग का उद्देश्य है वह किसी भी तरह सिद्ध नहीं हो सकता। अनाभोग आदि से लगने वाले अतिचारों की अपेक्षा अविवेक, असावधानी आदि से लगे बड़े अतिचारों की कायोत्सर्ग शुद्धि करता है। इसीलिये कायोत्सर्ग को पांचवां स्थान दिया गया है।

कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है। वह पुराने पापों को धोकर साफ कर देता है। **तस्सउत्तरी के पाठ** (उत्तरीकरण का पाठ) में यही कहा है कि पाप युक्त आत्मा को श्रेष्ठ-उत्कृष्ट बनाने के लिये, प्रायश्चित्त करने के लिये, विशेष शुद्धि करने के लिये, शल्यों का त्याग करने के लिये, पापकर्मों का नाश करने के लिये कायोत्सर्ग - शरीर के व्यापारों का त्याग - किया जाता है।

अनुयोगद्वार सूत्र में कायोत्सर्ग आवश्यक का नाम 'व्रण चिकित्सा' कहा है। व्रत रूप शरीर में अतिचार रूप व्रण (घाव, फोड़े) के लिए पांचवां आवश्यक (अध्ययन) चिकित्सा रूप पुल्टिस (मरहम) का काम करता है। जैसे पुल्टिस, फोड़े के बिगड़े हुए रक्त को मवाद बना कर निकाल देता है और फोड़े की पीड़ा को शांत कर देता है उसी प्रकार यह काउस्सग्ग रूप पांचवां आवश्यक व्रत में लगे हुए अतिचारों के दोषों को दूर कर आत्मा को निर्मल एवं शांत बना देता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में कायोत्सर्ग का फल इस प्रकार कहा है -

काउस्सग्गेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हे भगवन्! कायोत्सर्ग करने से जीव को किन गुणों की प्राप्ति होती है? इसके उत्तर में प्रभु फरमाते हैं कि -

"काउस्सग्गेणं तीय पडुप्पण्णं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे णिव्वुयहियए ओहरिय भरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ।"

- कायोत्सर्ग करने से भूतकाल और वर्तमान काल के दोषों का प्रायश्चित्त करके जीव शुद्ध बनता है और जिस प्रकार बोझ उतर जाने से भारवाहक (मजदूर) सुखी होता है उसी प्रकार प्रायश्चित्त से विशुद्ध बना हुआ जीव शांत हृदय बन कर शुभ ध्यान ध्याता हुआ सुखपूर्वक विचरता है।

प्रायश्चित्त का पाठ

देवसिय पायच्छित्त विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं।

कठिन शब्दार्थ - पायच्छित्त - प्रायश्चित्त, **विसोहणत्थं** - विशुद्धि के लिये।

भावार्थ - मैं दिवस संबंधी प्रायश्चित्त की शुद्धि के लिये कायोत्सर्ग करता हूं।

विवेचन - आगम साहित्य में कायोत्सर्ग के दो भेद किये गये हैं - द्रव्य और भाव। द्रव्य कायोत्सर्ग का अर्थ है - शरीर की चेष्टाओं का निरोध करके एक स्थान पर जिनमुद्रा से निश्चल एवं निःस्पंद स्थिति में खड़े रहना। यह साधना के क्षेत्र में आवश्यक है परन्तु भाव के साथ। केवल द्रव्य का जैनधर्म में कोई महत्त्व नहीं है। साधना का प्राण है - भाव। भाव काय्योत्सर्ग का अर्थ है - आर्त्त, रौद्र ध्यानों का त्याग कर धर्म तथा शुक्लध्यान में रमण करना, मन में शुभ विचारों का प्रवाह बहाना, आत्मा के मूल स्वरूप की ओर गमन करना। कायोत्सर्ग में ध्यान की ही महिमा है।

कायोत्सर्ग करते समय यद्यपि अन्यान्य पाठों का भी उच्चारण किया जाता है परंतु वर्तमान में **'लोगस्स'** का ध्यान ही इसका प्रमुख अंग है। देवसिय राइय प्रतिक्रमण में ४, पक्खी प्रतिक्रमण में १२, चौमासी प्रतिक्रमण में २० और संवत्सरी प्रतिक्रमण में ४० **लोगस्स** का काउस्सग्ग करने की प्राचीन परंपरा है।

प्रवचन सारोद्धार (पूर्व भाग) प्रतिक्रमण द्वार की गाथा नं. १८३, १८४, १८५ में कायोत्सर्ग में कितने लोगस्स और श्वासोच्छ्वास का ध्यान करना यह बताया गया है -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चत्तारि[४] दो[२] दुवालस[१२], वीसं[२०] चत्तालीसं[४०] हुंति उज्जोय ।
देवसिय राइय पक्खिय, चाउम्मासे य वरिसे य ॥१८३॥
पणवीस[२५] अद्धतेरस १२½ सिलोग पन्नत्तरी[७५] य बोद्धव्वा ।
सयमेगं पणवीसं [१२५], बे बावण्णा[२५२] य वरिसम्मि ॥ १८४॥
सायं सयं[१००] गोसद्धं [५०] तिन्नेव[३००] सया हवंति पक्खम्मि ।
पंच[५००] य चाउम्मासे, वरिसे अट्ठोत्तर [१००८] सहस्सा ॥ १८५॥

दैवसिक को ४ लोगस्स का, रात्रिक को २ लोगस्स का, पाक्षिक को १२ लोगस्स का, चातुर्मासिक को २० लोगस्स का एवं सांवत्सरिक को ४० लोगस्स एवं एक नमस्कार सूत्र का काउस्सग्ग करना चाहिये ॥ १८३॥

(एक लोगस्स **'चंदेसु णिम्मलयरा'** तक बोलने से ६½ गाथा प्रमाण होता है अतः दूसरी गाथा में गाथाओं की संख्या बतायी गई है ।)

(एक गाथा में चार श्वासोच्छ्वास होने से एक लोगस्स में २५ श्वासोच्छ्वास होते हैं।)

- दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक को क्रमशः २५, १२½, ७५, १२५, २५२ गाथा प्रमाण ध्यान करना चाहिये ॥ १८४॥

- दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक को क्रमशः १००, ५०, ३००, ५००, १००८ श्वासोच्छ्वास का ध्यान करना चाहिये ॥ १८५॥

संवत्सरी को कायोत्सर्ग में **४० लोगस्स** और **१ नमस्कार सूत्र** का ध्यान करने से १००८ श्वासोच्छ्वास प्रमाण होता है ।

गाथा नं. १८३ में यद्यपि रात्रिक प्रतिक्रमण में दो लोगस्स के कायोत्सर्ग का ही विधान है तथापि आजकल रात्रिक प्रतिक्रमण में ४ लोगस्स का कायोत्सर्ग किया जाता है, क्योंकि इस गाथा की टीका में बताया गया है कि यद्यपि रात्रिक प्रतिक्रमण में दो लोगस्स का कायोत्सर्ग तथा दो लोगस्स जितना तप रूप चिन्तन करने का वर्णन है तथापि प्रत्येक साधक से तप रूप चिंतन करना संभव नहीं होने से पूर्वाचार्यों ने दो लोगस्स का कार्योत्सर्ग+दो लोगस्स (तप रूप चिंतन के स्थान पर)=४ लोगस्स के कायोत्सर्ग का विधान निर्धारित किया है।

॥ पांचवां अध्ययन समाप्त॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पच्चक्खाणं णामं छट्ठं अज्झयणं

प्रत्याख्यान नामक षष्ठ अध्ययन

पांचवें अध्ययन में पूर्व संचित कर्मों का क्षय कहा गया है। इस छठे अध्ययन में नवीन बंधने वाले कर्मों का निरोध कहा जाता है अथवा पांचवें अध्ययन में कायोत्सर्ग द्वारा अतिचार रूप व्रण की चिकित्सा का निरूपण किया गया है। चिकित्सा के अनन्तर गुण की प्राप्ति होती है इसलिये 'गुणधारण' नामक इस प्रत्याख्यान अध्ययन में मूलोत्तर गुणों की धारणा कहते हैं।

प्रत्याख्यान का सामान्य अर्थ है - त्याग करना। प्रत्याख्यान में तीन शब्द हैं - प्रति + आ + आख्यान। अविरति एवं असंयम के प्रति अर्थात् प्रतिकूल रूप में 'आ' अर्थात् मर्यादा स्वरूप आकार के साथ 'आख्यान' अर्थात् प्रतिज्ञा को 'प्रत्याख्यान' कहते हैं। अथवा अमुक समय के लिए पहले से ही किसी वस्तु के त्याग कर देने को प्रत्याख्यान कहते हैं।

अविवेक आदि से लगने वाले अतिचारों की अपेक्षा जानते हुए दर्प आदि से लगे बड़े अतिचारों की प्रत्याख्यान शुद्धि करता है अतः प्रत्याख्यान को छठा स्थान दिया गया है अथवा प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा अतिचार की शुद्धि हो जाने पर प्रत्याख्यान द्वारा तप रूप नया लाभ होता है अतः प्रत्याख्यान को छठा स्थान दिया गया है।

जो साधक कायोत्सर्ग द्वारा विशेष चित्त शुद्धि एकाग्रता और आत्मबल प्राप्त करता है, वही प्रत्याख्यान का सच्चा अधिकारी है अर्थात् प्रत्याख्यान के लिए विशिष्ट चित्त-शुद्धि और विशेष उत्साह की अपेक्षा है जो कायोत्सर्ग के बिना संभव नहीं है अतः कायोत्सर्ग के पश्चात् प्रत्याख्यान को स्थान दिया गया है।

अनुयोगद्वार सूत्र में प्रत्याख्यान का नाम 'गुणधारण' कहा है। गुणधारण का अर्थ है - व्रत रूप गुणों को धारण करना। प्रत्याख्यान के द्वारा आत्मा, मन, वचन, काया की दुष्ट प्रवृत्तियों को रोक कर शुभ प्रवृत्तियों पर केन्द्रित करता है। ऐसा करने से इच्छा निरोध, तृष्णा का अभाव, सुखशांति आदि अनेक सद्गुणों की प्राप्ति होती है।

उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में प्रत्याख्यान का फल इस प्रकार बताया है -

पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

हे भगवन्! प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है? उत्तर में प्रभु फरमाते हैं कि -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं णिरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छाणिरोहं जणयइ, इच्छाणिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ।"

– प्रत्याख्यान करने से आस्रवद्वारों का निरोध होता है। प्रत्याख्यान करने से इच्छा का निरोध होता है। इच्छा का निरोध होने से जीव सभी पदार्थों में तृष्णा रहित बना हुआ परम शांति से विचरता है।

प्रत्याख्यान के भेद मूलपाठ में इस प्रकार बताये हैं –

दसविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा –
अणागयमइक्कंतं, कोडीसहियं णियंटियं चेव।
सागारमणागारं, परिमाणकडं णिरवसेसं॥१॥
संकेयं चेव अद्धाए, पच्चक्खाणं भवे दसहा॥

कठिन शब्दार्थ – **दसविहे** – दशविध, **पच्चक्खाणे** – प्रत्याख्यान, **अणागयं** – अनागत, **अइक्कंतं** – अतिक्रान्त, **कोडीसहियं** – कोटिसहित, **णियंटियं** – नियन्त्रित, **सागारं** – साकार, **अणागारं** – अनाकार, **परिमाणकडं** – परिमाणकृत, **णिरवसेसं** – निरवशेष, **संकेयं** – संकेत, **अद्धाए** – अद्धा।

भावार्थ – प्रत्याख्यान दस प्रकार के कहे गये हैं, वे इस प्रकार हैं – १. अनागत २. अतिक्रान्त ३. कोटिसहित ४. नियन्त्रित ५. साकार ६. अनाकार ७. परिमाणकृत ८. निरवशेष ९. संकेत १०. अद्धा प्रत्याख्यान।

विवेचन – भविष्य में लगने वाले पापों से निवृत्त होने के लिए गुरुसाक्षी या आत्मसाक्षी से हेय वस्तु के त्याग करने को प्रत्याख्यान कहते हैं। वह दस प्रकार का है –

१. **अनागत** – वैयावृत्य आदि किसी अनिवार्य कारण से, नियत समय से पहले ही तप कर लेना।

२. **अतिक्रान्त** – कारणवश नियत समय के बाद तप करना।

३. **कोटि सहित** – जिस कोटि (चतुर्थ भक्त आदि के क्रम) से तप प्रारंभ किया, उसी से समाप्त करना।

४. **नियन्त्रित** – वैयावृत्य आदि प्रबल कारणों के हो जाने पर भी संकल्पित तप का परित्याग न करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५. **साकार** - जिसमें उत्सर्ग और अपवाद रूप आगार रखे जाते हैं, उसे साकार कहते हैं।

६. **अनाकार** - जिस तप में आगार न रखे जाएं, उसे अनाकार कहते हैं।

७. **परिमाणकृत्** - जिसमें दत्ति आदि का परिमाण किया जाय।

८. **निरवशेष** - जिसमें अशनादि का सर्वथा त्याग हो।

९. **संकेत** - जिसमें मुट्ठी खोलने आदि का संकेत हो, जैसे - 'मैं जब तक मुट्ठी नहीं खोलूंगा तब तक मेरे प्रत्याख्यान है' इत्यादि।

१०. **अद्धा प्रत्याख्यान** - मुहूर्त्त, पौरुषी आदि काल की अवधि के साथ किया जाने वाला प्रत्याख्यान।

प्रत्याख्यान सूत्र

१. नवकारसी

उग्गए सूरे णमुक्कारसहियं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं - असणं, पाणं, खाइमं, साइमं । अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, वोसिरामि ❶।

कठिन शब्दार्थ - उग्गए सूरे - सूर्योदय होने पर, **णमुक्कारसहियं** - नमस्कार सहित (नवकारसी, नमस्कारिका), **पच्चक्खामि** - प्रत्याख्यान करता हूं, **चउव्विहं पि** - चारों ही प्रकार के, **आहारं** - आहार का, **असणं** - अशन, **पाणं** - पान, **खाइमं** - खादिम, **साइमं**- स्वादिम, **अण्णत्थ** - अन्यत्र, **अणाभोगेणं** - अनाभोग, **सहसागारेणं** - सहसाकार।

भावार्थ - सूर्य उदय होने पर - दो घड़ी, दिन चढ़े तक - नमस्कार सहित प्रत्याख्यान ग्रहण करता हूँ और अशन, पान, खादिम, स्वादिम चारों ही प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। अनाभोग - अत्यन्त विस्मृति या अप्रत्याख्यान का उपयोग न रहने से और सहसाकार- शीघ्रता में या अचानक कुछ खाने पीने में आ गया हो तो इन दो आगारों के सिवाय चारों आहार वोसिराता हूँ - त्याग करता हूँ।

---

❶ स्वयं पच्चक्खाण करना हो, तब तीन बार '**वोसिरामि**' ऐसा बोले, जब दूसरे एक को पच्चक्खाण कराना हो, तब तीन बार '**वोसिरे**' ऐसा बोले तथा दूसरे एक से अधिक को पच्चक्खाण कराना हो तब तीन बार '**वोसिरह**' ऐसा बोले।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन - यह 'नमस्कार सहित' प्रत्याख्यान का सूत्र है। नमस्कार सहित का अर्थ है - सूर्योदय से लेकर दो घड़ी दिन चढ़े तक अर्थात् मुहूर्त्त भर के लिए, बिना नमस्कार सूत्र पढ़े आहार ग्रहण नहीं करना। इसका दूसरा नाम 'नमस्कारिका' भी है। आजकल साधारण बोलचाल में 'नवकारसी' कहते हैं।

संस्कृत का 'आकार' ही प्राकृत भाषा में 'आगार' है। आकार का अर्थ होता है अपवाद। अपवाद का अर्थ है कि यदि किसी विशेष स्थिति में त्याग की हुई वस्तु सेवन कर ली जाय तो भी प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता।

नवकारसी के दो आगार हैं - १. अनाभोग और २. सहसाकार।

१. अनाभोग का अर्थ है - अत्यन्त विस्मृति। प्रत्याख्यान लेने की बात सर्वथा भूल जाय और उस समय अनवधानता वश कुछ खा पी लिया जाय तो वह अनाभोग आगार की मर्यादा में रहता है।

२. सहसाकार - मेघ बरसने पर अथवा दही आदि मथते समय अचानक ही जल या छाछ आदि का छींटा मुख में चला जाय।

अनाभोग में तो खाने का प्रयत्न कर खाया जाता है। सहसाकार में प्रत्याख्यान की स्मृति रहती है। खाने का प्रयत्न नहीं किया जाता।

२. पौरुषी

उग्गए सूरे पोरिसिं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं। अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छण्णकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

कठिन शब्दार्थ - पच्छण्णकालेणं - प्रच्छन्नकाल, **दिसामोहेणं** - दिशा मोह, **साहुवयणेणं** - साधु वचन, **सव्वसमाहिवत्तियागारेणं** - सर्व समाधि प्रत्ययाकार।

भावार्थ - सूर्योदय से पौरुषी (प्रहर दिन तक) का प्रत्याख्यान करता हूँ। अशन, पान, खादिम, स्वादिम, चारों ही आहार का अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन, सर्वसमाधिप्रत्ययकार आगारों में सिवाय त्याग करता हूँ।

विवेचन - सूर्योदय से लेकर एक पहर दिन चढ़े तक चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, पौरुषी प्रमाण प्रत्याख्यान है। पौरुषी का शाब्दिक अर्थ है - पुरुष प्रमाण छाया। एक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पहर दिन चढ़ने पर मनुष्य की छाया घटते-घटते अपने शरीर प्रमाण लंबी रह जाती है। इसी भाव को लेकर पौरुषी शब्द प्रहर परिमित काल विशेष के अर्थ में लक्षण के द्वारा रूढ़ हो गया है।

पोरिसी के छह आगार इस प्रकार हैं - १. अनाभोग २. सहसाकार ३. प्रच्छन्नकाल ४. दिशामोह ५. साधु वचन और ६. सर्व समाधि प्रत्ययाकार। **अनाभोग, सहसाकार** का अर्थ पूर्व में दिया जा चुका है शेष आगारों का अभिप्राय इस प्रकार है -

प्रच्छन्नकाल - बादल आंधी या पहाड़ आदि के बीच में आ जाने पर सूर्य के न दिखाई देने से अधूरे समय में पोरिसी के काल को पूरा समझ कर पार लेना।

दिशामोह - पूर्व को पश्चिम समझ कर पोरिसी न आने पर भी सूर्य के ऊंचा चढ़ आने की भ्रान्ति से अशनादि सेवन कर लेना।

साधुवचन - 'पोरिसी आ गई' इस प्रकार किसी आप्त पुरुष के कहने पर बिना पोरिसी आए ही पोरिसी पार लेना।

सर्वसमाधिप्रत्ययाकार - किसी आकस्मिक शूल आदि तीव्र रोग की उपशांति के लिए औषधि आदि ग्रहण कर लेना।

३. पूर्वार्द्ध

उग्गए सूरे पुरिमड्ढं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पच्छण्णकालेणं, दिसामोहेणं, साहुवयणेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

कठिन शब्दार्थ - महत्तरागारेणं - महत्तराकार।

भावार्थ - सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्वार्ध तक अर्थात् दो प्रहर तक चारों आहार अशन, पान, खादिम, स्वादिम का प्रत्याख्यान करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधुवचन, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार-उक्त सात आगारों के सिवाय पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन - यह पूर्वार्द्ध प्रत्याख्यान का सूत्र है। इसमें सूर्योदय से लेकर दिन के पूर्व भाग तक अर्थात् दो प्रहर दिन चढ़े तक चारों आहार का त्याग किया जाता है। प्रस्तुत प्रत्याख्यान में सात आगार माने गये हैं। छह तो पूर्वोक्त पौरुषी के ही आगार हैं, सातवां आगार **महत्तरागारेणं** (महत्तराकार) है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महत्तराकार का अर्थ है - विशेष निर्जरा आदि को ध्यान में रखकर रोगी आदि की सेवा के लिए गुरुदेव आदि महत्तर पुरुष की आज्ञा पाकर निश्चित्त समय के पहले ही प्रत्याख्यान पार लेना।

पूर्वार्द्ध प्रत्याख्यान के समान ही अपार्ध प्रत्याख्यान भी होता है। **अपार्ध** प्रत्याख्यान का अर्थ है - तीन पहर दिन चढ़े तक आहार ग्रहण न करना। अपार्द्ध प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय **'पुरिमड्ढं'** के स्थान पर **'अवड्ढं'** पाठ बोलना चाहिये। शेष पाठ दोनों प्रत्याख्यानों का समान है।

४. एकाशन

एगासणं पच्चक्खामि, तिविहं ॐ पि आहारं-असणं, खाइमं, साइमं। अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, आउंटणपसारणेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

कठिन शब्दार्थ - **सागारियागारेणं** - सागारिकाकार, **आउंटणपसारणेणं** - आकुञ्चनप्रसारण, **गुरु अब्भुट्ठाणेणं** - गुर्वभ्युत्थान, **पारिट्ठावणियागारेणं** - पारिष्ठापनिकाकार।

भावार्थ - एकाशन तप स्वीकार करता हूँ फलतः अशन, खादिम स्वादिम तीनों आहारों का प्रत्याख्यान करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार, आकुञ्चनप्रसारण, गुर्वभ्युत्थान, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधि प्रत्ययाकार-उक्त आठ आगारों के सिवा पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन - पौरुषी या पूर्वार्द्ध के बाद दिन में एक बार भोजन एकाशन तप होता है। एकाशन का अर्थ होता है - एक+अशन, अर्थात् दिन में एक बार भोजन करना। यद्यपि मूल पाठ में यह उल्लेख नहीं है कि - 'दिन में किस समय भोजन करना' फिर भी प्राचीन परंपरा है कि क्रम से कम एक पहर के बाद ही भोजन करना चाहिये। क्योंकि एकाशन में पौरुषी तप अन्तर्निहित है।

'एगासणं' प्राकृत शब्द है, जिसके संस्कृत रूपान्तर दो होते हैं - एकाशन और एकासन। एकाशन का अर्थ है एक बार भोजन करना और एकासन का अर्थ है - एक

ॐ यदि चौविहार करना हो तो **'चउव्विह'** कह कर **'असणं'** के बाद **'पाणं'** भी कहना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आसन से भोजन करना अर्थात् एक बार बैठ कर फिर न उठते हुए भोजन करना। 'एगासण' में दोनों ही अर्थ ग्राह्य है।

एकाशन में अचित्त आहार-पानी ही ग्रहण करना कल्पता है जो तिविहार एकाशन करता है वह भोजन कर लेने के बाद भी इच्छानुसार अचित्त पानी पी सकता है (आजकल यह परंपरा ज्यादा प्रचलित है।) जो चौविहार एकाशन करता है वह भोजन करने के बाद उठ जाने पर पानी नहीं पीता है।

एकाशन में आठ आगार होते हैं। चार आगार तो पहले आ ही चुके हैं शेष चार आगार नये हैं उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है -

सागारिकाकार - सागरिक गृहस्थ को कहते हैं। गृहस्थ के आ जाने पर उसके सम्मुख भोजन करना साधुओं के लिए निषिद्ध है। अतः सागरिक के आने पर साधु को भोजन छोड़ कर बीच में ही उठ कर एकांत में जा कर पुनः भोजन करना पड़े तो व्रत भंग नहीं होता है। सर्प और अग्नि आदि का उपद्रव होने पर भी अन्यत्र भोजन किया जा सकता है। सागरिक शब्द से सर्पादि का भी ग्रहण किया है।

गृहस्थ के लिए सागरिकाकार जिनके देखने से आहार करने की शास्त्र में मनाही है, उनके उपस्थित हो जाने पर स्थान छोड़कर दूसरी जगह चले जाना।

आकुंचन प्रसारण - सुन्न पड़ जाने आदि कारण से हाथ पैर आदि अंगों को सिकोड़ना या फैलाना।

गुर्वभ्युत्थान - किसी पाहुने, मुनि या गुरु के आने पर विनय, सत्कार के लिए उठना।

परिष्ठापनिकाकार - अधिक हो जाने के कारण जिस आहार को परठवना पड़ता है तो परठवने के दोष से बचने के लिए उस आहार को गुरु की आज्ञा से ग्रहण कर लेना।

यह आगार साधु के लिए ही है। अतः श्रावक को नहीं बोलना चाहिये।

५. एकस्थान (एकलठाणा)

एगासणं एगट्ठाणं पच्चक्खामि, तिविहं ❖ पि आहारं-असणं, खाइमं, साइमं । अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, सागारियागारेणं, गुरुअब्भुट्ठाणेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

❖ यदि चौविहार करना हो, तो '**चउव्विहं**' कह कर '**असणं**' के बाद '**पाणं**' भी कहना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - एकाशन रूप एक स्थान=एक आसन से स्थित होकर भोजन करने का व्रत ग्रहण करता हूँ। फलतः अशन, खादिम और स्वादिम, तीनों आहार का त्याग करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार, गुर्वभ्युत्थान, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार-उक्त सात आगारों के सिवा पूर्णतया आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन - यह एकस्थान प्रत्याख्यान का सूत्र है। एकस्थान अन्तर्गत 'स्थान' शब्द 'स्थिति' का वाचक है। अतः एकस्थान का फलितार्थ है - 'दाहिने हाथ एवं मुख के अतिरिक्त शेष सब अंगों को हिलाए बिना दिन में एक ही आसन से और एक ही बार भोजन करना।' अर्थात् भोजन प्रारंभ करते समय जो स्थिति हो, जो अंगविन्यास हो, जो आसन हो, उसी स्थिति, अंगविन्यास एवं आसन से बैठे रहना चाहिए।

एकस्थान की अन्य सब विधि 'एगासण' के समान है। केवल हाथ, पैर आदि के आकुंचन प्रसारण का आगार नहीं रहता। इसीलिए प्रस्तुत पाठ में **'आउंटणपसारणेणं'** का उच्चारण नहीं किया जाता।

६. आयम्बिल

आयंबिलं पच्चक्खामि, अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, उक्खित्तविवेगेणं, गिहत्थसंसट्ठेणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

कठिन शब्दार्थ - **आयंबिलं** - आचाम्ल तप, **लेवालेवेणं** - लेपालेप, **उक्खित्तविवेगेणं**- उत्क्षिप्त विवेक, **गिहित्थसंसट्ठेणं** - गृहस्थसंसृष्ट।

भावार्थ - आज के दिन आयंबिल अर्थात् आचाम्ल तप ग्रहण करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, उत्क्षिप्त विवेक, गृहस्थ संसृष्ट, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार - उक्त पाठ आगारों के अतिरिक्त आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन - आचाम्ल व्रत (आयंबिल) में दिन में एक बार रूक्ष, नीरस एवं विकृति (विगय) रहित आहार ही ग्रहण किया जाता है। पुराने आचार ग्रन्थों में चावल, उड़द अथवा सत्तु आदि में से किसी एक के द्वारा ही आचाम्ल करने का विधान है। आजकल भूने हुए चने (भुंगड़ा) आदि नीरस अन्न (जैसे चने की दाल आदि) को पानी में भिगोकर खाने रूप

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रोटी आदि भी पानी में भिगोकर खाने रूप आयम्बिल किया जाता है। विशेष - एकासन, एक स्थान में लिलोती वर्जन अनिवार्य नहीं, किन्तु आयम्बिल, नीवि में तो चारों खन्ध त्याग की परम्परा है। आयम्बिल की विधि में पानी में भिगोकर खाना बताया गया है।

आयम्बिल में आठ आगार माने गये हैं। आठ में से पांच आगार तो पूर्व प्रत्याख्यानों के समान ही हैं। केवल तीन आगार ही नवीन हैं। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है -

लेपालेप - लेप आदि लगे हुए बर्तन आदि से दिया हुआ आहार ग्रहण करना। लेपालेप शब्द लेप और अलेप से मिल कर बना है। लेप का अर्थ है - आयम्बिल में ग्रहण न करने योग्य शाक, घृत आदि से पहले लिप्त होना और अलेप का अर्थ है - बाद में उसको पोंछ कर अलिप्त कर देना। पोंछ देने पर विगय का कुछ न कुछ अंश लिप्त रहता ही है। अतः आयम्बिल में लेपालेप का आगार रखा जाता है।

उत्क्षिप्त विवेक - ऊपर रखे हुए गुड़-शक्कर आदि को उठा लेने पर उनका कुछ अंश जिसमें लगा रह गया हो ऐसी रोटी आदि लेना।

गृहस्थ संसृष्ट - घी, तेल आदि से चिकने हाथों से गृहस्थ द्वारा दिया हुआ आहार पानी तथा दूसरे चिकने आहार का जिसमें लेप लग गया हो ऐसा आहार पानी ग्रहण करना।

७. उपवास (चौविहार)

उग्गए सूरे, अभत्तट्ठं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं। अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पारिट्ठावणियागारेणं○, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

कठिन शब्दार्थ - अभत्तट्ठं - अभक्तार्थ-उपवास।

भावार्थ - सूर्योदय से उपवास ग्रहण करता हूँ। फलतः अशन, पान, खादिम, स्वादिम चारों ही प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार-उक्त पाँच आगारों के सिवाय सब प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन - भक्त का अर्थ भोजन है। जिस व्रत में भक्त का प्रयोजन नहीं है वह है

○ "पारिट्ठावणियागारेणं" श्रावक को नहीं बोलना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अभत्तट्ठ यानी उपवास। सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय तक चारों आहारों का त्याग चौविहार अभत्तट्ठ (उपवास) कहलाता है। चौविहार उपवास के पांच आगार हैं - १. अनाभोग २. सहसाकार ३. पारिष्ठापनिकाकार ४. महत्तराकार और ५. सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार। इनका स्पष्टीकरण पूर्व में दिया जा चुका है।

तिविहार उपवास

उग्गए सूरे अभत्तट्ठं पच्चक्खामि, तिविहं पि आहार-असणं, खाइमं, साइमं। अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, पारिट्ठावणियागारेणं ✪ महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं पाणस्स लेवाडेण वा अलेवाडेण वा अच्छेण वा बहलेण वा ससित्थेण वा असित्थेण वा वोसिरामि ।

कठिन शब्दार्थ - पाणस्स - पानी का, **लेवाडेण** - लेपकृत, **अलेवाडेण** - अलेपकृत, **अच्छेण** - अच्छ, **बहलेण** - बहल, **ससित्थेण** - ससिक्थ, **असित्थेण** - असिक्थ।

भावार्थ - सूर्योदय से उपवास ग्रहण करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्व समाधि प्रत्ययाकार के सिवाय अशन, खादिम, स्वादिम तीनों ही आहार एवं लेवाड (लेपकृत) - दाल आदि का मांड, इमली, खजूर, दाख आदि का धोवन, अलेवाड (अलेपकृत) - छाछ आदि का निथरा हुआ पानी (आंछ) और कांजी आदि का पानी, अच्छ - गर्म किया हुआ स्वच्छ पानी, बहल - तिल, चावल, जौ आदि के ओसामण का पानी, ससिक्थ - आटे आदि से भरे हुए हाथ तथा पात्र का कण से युक्त धोवन, असिक्थ - आटे आदि से भरे हुए पात्र आदि का कण से रहित छना हुआ धोवन के सिवाय पानी का त्याग करता हूँ।

विवेचन - पानी का आगार रख कर तीन आहारों का त्याग करना तिविहार उपवास है। पानी संबंधी आगारों का भावार्थ इस प्रकार है -

१. लेपकृत - वह पानी जो पात्र में उपलेपकार है, लेपकृत कहलाता है। जैसे - दाल आदि का मांड तथा इमली, खजूर, द्राक्षा आदि का पानी।

✪ "पारिट्ठावणियागारेणं" श्रावक को नहीं बोलना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. **अलेपकृत्** - जिस पानी से पात्र में लेप न लगे। जैसे - छाछ आदि का निथरा हुआ कांजी आदि का पानी।

३. **अच्छ** - अच्छ का अर्थ स्वच्छ उष्णोदक है।

४. **बहल्** - तिल, चावल और जौ आदि का चिकना मांड।

५. **ससिक्थ्** - जिसमें सिक्थ अर्थात् आटे आदि के कण भी हों।

६. **असिक्थ्** - आटे आदि से लिप्त हाथ तथा पात्र आदि का वह धोवन जो छना हुआ हो फलतः जिसमें आटे आदि के कण भी न हों, असिक्थ कहलाता है।

८. दिवसचरिम

दिवसचरिमं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं। अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

भावार्थ - दिवस चरम का व्रत ग्रहण करता हूँ फलतः अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों आहार का त्याग करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार; महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार - उक्त चार आगारों के सिवाय आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन - चरम का अर्थ है - अंतिम भाग। वह दो प्रकार का है - १. दिवस का अंतिम भाग और २. भव अर्थात् आयु का अंतिम भाग। सूर्य के अस्त होने से पहले ही दूसरे दिन सूर्योदय तक के लिए चारों अथवा तीनों आहारों का त्याग करना, दिवसचरम प्रत्याख्यान है अर्थात् उक्त प्रत्याख्यान में शेष दिवस और संपूर्ण रात्रि भर के लिए चार अथवा तीन आहार का त्याग किया जाता है। साधक के लिए आवश्यक है कि वह कम से कम दो घड़ी दिन रहते ही आहार पानी से निवृत्त हो जाय और सायंकालीन प्रतिक्रमण के लिए तैयारी करे।

भवचरम प्रत्याख्यान का अर्थ है जब साधक को निश्चय हो जाय कि आयु थोड़ी ही शेष है तो यावज्जीवन के लिए चारों या तीनों आहारों का त्याग कर दे।

दिवसचरम और भवचरम के चार ही आगार है - १. अनाभोग २. सहसाकार ३. महत्तराकार और ४. सर्वसमाधि प्रत्ययाकार।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

९. अभिग्रह

अभिग्गहं पच्चक्खामि, चउव्विहं पि आहारं-असणं, पाणं, खाइमं, साइमं। अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

भावार्थ - अभिग्रह का व्रत ग्रहण करता हूँ, फलतः अशन, पान, खादिम और स्वादिम चारों ही आहार का (संकल्पित समय तक) त्याग करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार और सर्वसमाधिप्रत्ययाकार-उक्त चार आगारों के सिवा अभिग्रहपूर्ति तक चार आहार का त्याग करता हूँ।

विवेचन - उपवास के बाद या बिना उपवास के अपने मन में निश्चय कर लेना कि अमुक बातों के मिलने पर ही पारणा या आहारादि ग्रहण करूंगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा को 'अभिग्रह' कहते हैं। अभिग्रह में जो बातें धारण करनी हो उन्हें मन में या वचन द्वारा निश्चय कर लेने के बाद पच्चक्खाण किया जाता है।

१०. निर्विकृतिक (निवि)

विगइओ पच्चक्खामि अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, लेवालेवेणं, गिहत्थसंसट्ठेणं, उक्खित्तविवेगेणं, पडुच्चमक्खिएणं, पारिट्ठावणियागारेणं, महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि ।

कठिन शब्दार्थ - **विगइओ** - विगयों का, **पच्चक्खामि** - प्रत्याख्यान करता हूँ, **पडुच्चमक्खिएणं** - प्रतीत्यम्रक्षित।

भावार्थ - विगयों का प्रत्याख्यान करता हूँ। अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, गृहस्थसंसृष्ट, उत्क्षिप्त विवेक, प्रतीत्यम्रक्षित, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार उक्त नौ आगारों ✪ के सिवाय विगय का त्याग करता हूँ।

विवेचन - विगयों के त्याग को निर्विकृतिक - निवि पच्चक्खाण कहते हैं। निर्विकृतिक के ९ आगार हैं - १. अनाभोग २. सहसाकार ३. लेपालेप ४. गृहस्थसंसष्ट ५. उत्क्षिप्त

✪ ये सब आगार मुख्य रूप से साधु के लिए कहे गए हैं। श्रावक को अपनी मर्यादानुसार स्वयं समझ लेने चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेक ६. प्रत्यीयम्रक्षित ७. पारिष्ठापनिकाकार ८. महत्तराकार और ९. सर्वसमाधिप्रत्ययाकार। निवि के नौ आगारों में से आठ आगारों का वर्णन तो पूर्व में कर दिया गया है, नववें आगार **'पडुच्चमक्खिएणं'** का अर्थ इस प्रकार हैं -

पडुच्चमक्खिएणं (प्रतीत्य-म्रक्षित) - म्रक्षित - चुपड़े हुए को कहते हैं और प्रतीत्य का अर्थ जैसा (दिखाई दें) अतः प्रतीत्य-म्रक्षित का अर्थ हुआ जो अच्छी तरह चुपड़ा हुआ न हो किन्तु चुपड़ा हुआ जैसा हो अर्थात् म्रक्षिता भास हो। प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में कहा है कि - **'म्रक्षितमिव यद् वर्तते तत्प्रतीत्यं म्रक्षितं म्रक्षिताभास मित्यर्थः।'**

प्रत्याख्यान पारणा सूत्र

उग्गए सूरे नमुक्कारसहियं★ पच्चक्खाणं कयं तं पच्चक्खाणं सम्मं काएणं, न फासियं, न पालियं, न तीरियं, न किट्टियं, न सोहियं, न आराहियं, न आणाए अणुपालियं न भवइ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

कठिन शब्दार्थ - सम्मं - सम्यक्रूप से, **काएण** - काया से, **फासियं** - स्पर्शित, **पालियं** - पालित, **तीरियं** - तीरित, **सोहियं** - शोधित, **किट्टियं** - कीर्तित, **आराहियं** - आराधित, **अणुपालियं** - अनुपालित।

भावार्थ - सूर्योदय होने पर जो नवकारसी.....आदि प्रत्याख्यान किया था वह प्रत्याख्यान काया के द्वारा सम्यक् रूप से स्पर्शित पालित, तीरित, कीर्तित, शोधित और आराधित नहीं किया हो, आज्ञा की अनुपालना न की हो तो उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो।

विवेचन - यह प्रत्याख्यानपूर्ति का सूत्र है। कोई भी प्रत्याख्यान किया हो उसकी समाप्ति प्रस्तुत सूत्र के द्वारा करनी चाहिये। ऊपर मूल पाठ में 'नमुक्कार सहियं' नवकारसी का सूचक सामान्य शब्द है। इसके स्थान पर जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रखा हो उसका नाम लेना चाहिये।

प्रत्याख्यान पारने के छह अंग बतलाए गये हैं उनका स्पष्टीकरण (विवेचन) इस प्रकार है -

---

★ 'नमुक्कारसहियं' के स्थान पर जो प्रत्याख्यान ग्रहण कर रखा हो, उसका नाम लेना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१. **स्पर्शित्** - गुरुदेव से या स्वयं विधिपूर्वक प्रत्याख्यान लेना। (प्रवचन सारोद्धारवृत्ति) आचार्य हरिभद्रसूरि ने आवश्यक चूर्णि में कहा है - **फासियं नाम जं अंतरा न खंडिति** अर्थात् स्वीकृत प्रत्याख्यान को बीच में खंडित न करते हुए शुद्ध भावना से पालन करना।

२. **पालित्** - प्रत्याख्यान को बार-बार उपयोग में ला कर सावधानी के साथ उनकी सतत रक्षा करना।

३. **शोधित्** - कोई दूषण लग जाय तो सहसा उसकी शुद्धि करना। **सोहियं** का संस्कृत रूप शोभित भी होता है अर्थात् गुरुजनों को साधर्मिकों को अथवा अतिथिजनों को भोजन देकर फिर स्वयं करना।

४. **तीरित** - लिए हुए प्रत्याख्यान को तीर तक पहुँचाना अथवा लिए हुए प्रत्याख्यान का समय पूरा हो जाने पर भी कुछ समय ठहर कर भोजन करना।

५. **कीर्तित्** - भोजन प्रारंभ करने से पहले लिए हुए प्रत्याख्यान को विचार कर उत्कीर्तन पूर्वक कहना कि मैंने अमुक प्रत्याख्यान अमुक रूप से ग्रहण किया था, वह भलीभांति पूर्ण हो गया है। मैंने प्रत्याख्यान करके बहुत अच्छा किया, इस प्रकार कीर्तन करना।

६. **आराधित्** - सब दोषों से सर्वथा दूर रहते हुए ऊपर कही हुई विधि के अनुसार प्रत्याख्यान की आराधना करना।

प्रस्तुत सूत्र के द्वारा स्वीकृत व्रत की शुद्धि की जाती है **भ्रान्तिजनित दोषों की आलोचना** की जाती है और अंत में **मिच्छामि दुक्कडं** देकर प्रत्याख्यान में हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

॥ छठा अध्ययन समाप्त ॥

॥ आवश्यक सूत्र समाप्त ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट प्रथम

श्रमण आवश्यक सूत्र

वर्तमान में श्रमण आवश्यक में निम्न पाठ बोलने की परंपरा है - **१. नमस्कार सूत्र २. गुरुवंदन सूत्र ३. आलोचना सूत्र ४. उत्तरीकरण सूत्र ५. चतुर्विंशतिस्तव सूत्र ६. प्रतिज्ञा सूत्र ७. प्रणिपात सूत्र ८. इच्छामि णं भंते का पाठ ९. इच्छामि ठामि का पाठ १० ज्ञानातिचार सूत्र (आगमे तिविहे का पाठ) ११. दर्शन सम्यक्त्व का पाठ १२. कायोत्सर्ग का पाठ (१२५ अतिचार) १३. द्वादशावर्त्त वंदन सूत्र (इच्छामि खमासमणो) १४. १२५ अतिचारों का प्रकटीकरण १५. संलेखना का पाठ १६. अठारह पाप स्थान का पाठ १७. मंगलादि सूत्र (चत्तारि मंगलं) १८. तस्स सव्वस्स का पाठ १९. शय्या सूत्र (निद्रादोष निवृत्ति का पाठ) २०. गोचर चर्या सूत्र (भिक्षा दोष निवृत्ति का पाठ) २१. कालप्रतिलेखना सूत्र २२. तेतीस बोल २३. निर्ग्रन्थ प्रवचन का पाठ २४. पाँच पदों की वंदना २५. क्षमापना सूत्र २६. आयरिए उवज्झाए का पाठ २७. चौरासी लाख जीवयोनि कां पाठ २८. देवसिय पायच्छित्त का पाठ २९. समुच्चय पच्चक्खाण का पाठ ३०. प्रतिक्रमण का समुच्चय पाठ ३१. प्रत्याख्यान सूत्र।**

जो पाठ आवश्यक सूत्र में आ चुके हैं। उनके अलावा शेष पाठ इस परिशिष्ट में क्रमशः दिये जा रहे हैं -

प्रणिपात सूत्र (णमोत्थुणं का पाठ)

णमोत्थुणं अरहंताणं* भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं सयंसंबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवर-पुंडरीयाणं पुरिसवर-गंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोग-णाहाणं लोगहियाणं, लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणंअभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं

---

* पाठान्तर - अरिहंताणं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं दीवताण सरणगइपइट्ठाणं अप्पडिहय-वर-णाण-दंसणधराणं विअट्टछउमाणं जिणाणं जावयाणं तिण्णाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं सव्वण्णूणं सव्वदरिसीणं सिव-मयल-मरुअ-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणरावित्ति सिद्धिगइ नामधेयं ठाणं संपत्ताणं णमो जिणाणं जियभयाणं॥

कठिन शब्दार्थ - णमोत्थुणं - नमस्कार हो, **अरहंताणं** - अर्हंत, **भगवंताणं** - भगवान् को, **आइगराणं** - धर्मतीर्थ की आदि करने वाले, **तित्थयराणं** - धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले, **सयंसंबुद्धाणं** - स्वयं ही बोध को प्राप्त करने वाले, **पुरिसुत्तमाणं** - पुरुषों में उत्तम, **पुरिससीहाणं** - पुरुषों में सिंह के समान, **पुरिसवर-पुंडरीयाणं** - पुरुषों में श्रेष्ठ कमल के समान, **पुरिसवर-गंधहत्थीणं** - पुरुषों में श्रेष्ठ गंधहस्ती के समान, **लोगुत्तमाणं**- लोक में उत्तम, **लोगणाहाणं** - लोक के नाथ, **लोगहियाणं** - लोक के हितकारी, **लोगपईवाणं** - लोक में दीपक के समान, **लोगपज्जोयगराणं** - लोक में उद्योत करने वाले, **अभयदयाणं** - अभय देने वाले, **चक्खुदयाणं** - ज्ञान रूपी चक्षु (आंख) देने वाले, **मग्गदयाणं** - धर्ममार्ग के दाता, **सरणदयाणं** - शरण के दाता, **जीवदयाणं** - संयम जीवन के दाता, **बोहिदयाणं** - सम्यक्त्व देने वाले, **धम्मदयाणं** - धर्म के दाता, **धम्मदेसयाणं** - धर्म के उपदेशक, **धम्मनायगाणं** - धर्म के नायक, **धम्मसारहीणं** - धर्म के सारथी, **धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं** - चार गति का अन्त करने वाले श्रेष्ठ धर्म रूपी चक्र को धारण करने वाले (धर्म चक्रवर्ती), **दीव** - संसार समुद्र में द्वीप के समान, **ताणं** - रक्षक रूप, **सरण** - शरणभूत, **गइ** - गति रूप, **पइट्ठाणं** - प्रतिष्ठा (आधार) रूप, **अप्पडिहयवर-णाण-दंसणधराणं** - अप्रतिहत (बाधा रहित) तथा श्रेष्ठ (परिपूर्ण) ज्ञान दर्शन के धारक, **विअट्टछउमाणं** - छद्म अर्थात् घातीकर्म से निवृत्त, **जिणाणं** - स्वयं राग द्वेष को जीतने वाले, **जावयाणं** - दूसरों को जिताने वाले, **तिण्णाणं** - स्वयं संसार समुद्र से तिरे हुए, **तारयाणं** - दूसरों को तिराने वाले, **बुद्धाणं** - स्वयं बोध पाये हुए, **बोहयाणं** - दूसरों को बोध प्राप्त कराने वाले, **मुत्ताणं** - स्वयं कर्म बन्धन से छूटे हुए, **मोयगाणं** - दूसरों को छुड़ाने वाले, **सव्वण्णूणं** - सर्वज्ञ (सब कुछ जानने वाले), **सव्वदरिसीणं** - सर्वदर्शी (सब कुछ देखने वाले), **सिवं** - निरुपद्रव, कल्याण स्वरूप, **अयलं** - अचल-स्थिर, **अरुअं** -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रोग रहित, **अणंतं** - अन्त रहित, **अक्खयं** - क्षय रहित, **अव्वाबाहं** - बाधा पीड़ा रहित, **अपुणरावित्ति** - पुनरागमन से रहित (ऐसे), **सिद्धि गइ** - सिद्धि गति, **नामधेयं** - नामक, **ठाणं** - स्थान को, **संपत्ताणं** - प्राप्त हुए, **जियभयाणं** - भय को जीतने वाले, **जिणाणं** - जिन भगवान् को, **णमो** - नमस्कार हो, **संपाविउकामाणं** - मोक्ष पाने की इच्छा वाले।

नोट - दूसरे णमोत्थुणं में **'ठाणं संपत्ताणं'** के स्थान पर **'ठाणं संपाविउकामाणं'** पाठ बोलना चाहिए। तीसरा णमोत्थुणं - **''णमोत्थुणं मम धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स समणसेट्ठस्स।''**

आगमों में निकट उपकारी के लिए 'णमोत्थुणं' देने का विधान है। सिद्ध भगवान् जीवन का साध्य होने से उन्हें निकट उपकारी समझा गया है। सिद्धों में भी प्रमुख रूप से तीर्थंकर सिद्धों को ही 'णमोत्थुणं' दिया जाता है। णमोत्थुणं के विशेषण तीर्थंकर सिद्धों में ही घटित होते हैं। निकट उपकारी तीर्थंकरों के विद्यमान होते हुए भी सिद्धों को तो 'णमोत्थुणं' दिया ही जाता है। इससे सिद्धों को 'णमोत्थुणं' देने की अनिवार्य परम्परा स्पष्ट होती है। जीवन का साध्य सबसे निकट उपकारी है। उसे प्राप्त करने की भावना से सिद्धों को सर्वत्र 'णमोत्थुणं' देने का वर्णन उपलब्ध होता है। दूसरा 'णमोत्थुणं' विद्यमान शासनपति तीर्थंकर को दिया जाता है। उनके मोक्ष पधार जाने पर उनके शासन में सिद्धों के 'णमोत्थुणं' में उनका अर्न्तभाव हो जाने से तीर्थंकरों को अलग से णमोत्थुणं देने की आगमीय परम्परा नहीं है। अन्य क्षेत्र के तीर्थंकरों को णमोक्कार से वंदना की जाती है। णमोत्थुणं निकट उपकारी के लिए होने से उन्हें 'णमोत्थुणं' नहीं दिया जाता। आगमकालीन युग में जिनसे धर्म की प्राप्ति हुई उन उपकारी गुरु को भी (चाहे वह साधु हो या श्रावक हो) 'णमोत्थुणं' देने की आगमीय परम्परा रही है। वर्तमान में गुजरात में समुच्चय रूप से गुरु को 'णमोत्थुणं' देने की परम्परा है। अलग-अलग उपकारी गुरु के नामोल्लास से गणभेदादि की आशंका से इधर गुरु को 'णमोत्थुणं' देने की परम्परा नहीं रही है। गुजरात की तरह समुच्चय रूप से गुरु को 'णमोत्थुणं' देने में बाधा नहीं समझी जाती है। वर्तमान में सर्वत्र तीर्थंकरों को 'णमोत्थुणं' देने की परम्परा है। आगमकाल में यह परम्परा नहीं थी।

विवेचन - णमोत्थुणं में तीर्थंकर भगवान् की स्तुति की गई है। इस स्तुति में अर्हंत और सिद्धों के गुणों को प्रकट कर उन्हें श्रद्धा से नमन किया गया है।

आइगराणं - द्वादशांगी की अपेक्षा धर्म की आदि करने वाले।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तित्थयराणं - साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका तीर्थ रूप है जो इस - तीर्थ की स्थापना करते हैं वे 'तीर्थंकर' कहलाते हैं।

तीर्थ का अर्थ पुल भी है। साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की धर्मसाधना संसार सागर से पार होने के लिये पुल है। अपने सामर्थ्य के अनुसार किसी भी पुल पर चढ़ कर संसार सागर को पार कर सकते हैं। जो ऐसे पुल को तैयार करते हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं।

पुरिससीहाणं (पुरुषसिंह) - १. सिंह के समान पराक्रमी और निर्भय। २. जिस प्रकार सिंह निमित्त को न पकड़ कर उपादान को पकड़ता है। इसी प्रकार जो भगवान् को परीषह उपसर्ग देता है, भगवान् उस व्यक्ति पर कुपित नहीं होते क्योंकि वह तो निमित्त मात्र है। उपादान तो आत्मा के उपार्जन किये हुए कर्म हैं। इसलिये वे अपने किये हुए कर्म को क्षय करने का पुरुषार्थ करते हैं।

पुरिसवरपुंडरीयाणं (पुरुषवर पुंडरीक) - मानव सरोवर में सर्वश्रेष्ठ कमल। आध्यात्मिक जीवन की अनंत सुगंध फैलाने वाले, कमल के समान अलिप्त।

पुरिसवरगंधहत्थीणं (पुरुषवर गंध-हस्ती) - सिंह की उपमा वीरता का सूचक है, गन्ध की नहीं और पुण्डरीक की उपमा गन्ध की सूचक है वीरता की नहीं। परन्तु गन्धहस्ती की उपमा सुगन्ध और वीरता दोनों की सूचना देती है। गन्धहस्ती के गण्डस्थल (मस्तक) से एक प्रकार का मद झरता रहता है। उसकी गंध से सामने वाले दूसरे हाथी मद रहित हो जाते हैं अर्थात् वे प्रभावहीन हो जाते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् के सामने अन्य मतावलम्बी परवादी मद रहित (निरुत्तर) हो जाते हैं तथा गंधहस्ती में ऐसी वीरता होती है कि, दूसरे हाथी उसे जीत नहीं सकते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् में ऐसी अनन्त शक्ति होती है कि कोई भी परवादी उन्हें जीत नहीं सकता है।

लोगपईवाणं (लोक प्रदीप) - साधारण पुरुषों के लिये दीपक के समान प्रकाश करने वाले।

लोगपज्जोयगराणं (लोक प्रद्योत) - गणधरादि विशिष्ट ज्ञानी पुरुषों के लिये सूर्य के समान प्रकाश करने वाले।

विअट्टछउमाणं - व्यावृत्त छद्म। छद्म के दो अर्थ हैं - आवरण और छल। **"छादयतीति छद्म"** ज्ञानावरणीयादि अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि चार घातीकर्म आत्मा की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञान दर्शन आदि मूल शक्तियों को आच्छादित (ढके हुये) किये हुए रहते हैं अतः वे छद्म कहलाते हैं। जो इस छद्म से पूर्णतया अलग हो गये वे केवलज्ञानी व्यावृत्त छद्म कहलाते हैं। दूसरे अर्थ से छल और प्रमाद से रहित हों, वे व्यावृत्त छद्म कहलाते हैं। इस पाठ को "शक्रस्तव" भी कहते हैं।

किन्हीं किन्हीं प्रतियों में "**दीवताणसरण-गइपइट्ठाणं**" के स्थान पर "**दीवोताणं सरणगइपइट्ठा**" पाठ भी मिलता है।

इच्छामि णं भंते का पाठ

इच्छामि णं भंते के पाठ से गुरुदेव से दिवस संबंधी प्रतिक्रमण करने की आज्ञा मांगी जाती है और दिवस संबंधी ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में लगे अतिचारों का चिंतन करने के लिए-भूलों को समझने के लिए काउस्सग्ग की इच्छा की जाती है।

इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे देवसियं ✪ पडिक्कमणं ठाएमि देवसिय ❀ णाण-दंसण-चरित्त-तव-अइयार चिंतणत्थं ✡ करेमि काउस्सग्गं।

कठिन शब्दार्थ - इच्छामि - इच्छा करता हूँ, **णं** - अव्यय है, वाक्य अलंकार में आता है, **भंते!** - हे पूज्य! हे भगवन्!, **तुब्भेहिं** - आपकी, **अब्भणुण्णाए समाणे** - आज्ञा मिलने पर, **देवसियं** - दिवस सम्बन्धी, **पडिक्कमणं** - प्रतिक्रमण को, **ठाएमि** - करता हूँ, **देवसिय** - दिन सम्बन्धी, **णाण** - ज्ञान, **दंसण** - दर्शन, **चरित्त** - चारित्र, **तव** - तप, **अइयार** - अतिचार, **चिंतणत्थं** - चिन्तन करने के लिए, **करेमि** - करता हूँ, **काउस्सग्गं** - कायोत्सर्ग को।

✪ जहाँ जहाँ '**देवसियं**' शब्द आवे वहां वहां '**देवसियं**' के स्थान पर रात्रिक प्रतिक्रमण में "**राइयं**", पाक्षिक में '**देवसियं पक्खियं**', चातुर्मासिक में '**चाउम्मासियं**' और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में "**संवच्छरियं**" शब्द बोलना चाहिए।

❀ जहाँ जहाँ '**देवसिय**' शब्द आवे वहां वहां "**देवसिय**" के स्थान पर रात्रिक प्रतिक्रमण में "**राइय**", पाक्षिक में "**देवसिय पक्खिय**", चातुर्मासिक में "**चाउम्मासिय**" और सांवत्सरिक में "**संवच्छरिय**" शब्द बोलना चाहिए।

✡ पाठान्तर - **चिंतवणत्थं**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - हे पूज्य! मैं आपके द्वारा आज्ञा मिलने पर दिवस संबंधी प्रतिक्रमण करता हूँ। दिवस संबंधी ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के अतिचार का चिंतन करने के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ।

विवेचन - "इच्छामि णं भंते" का पाठ प्रतिक्रमण की आज्ञा लेने का पाठ है। इसमें प्रतिक्रमण करने की और ज्ञान दर्शन चारित्र में लगे अतिचारों का चिन्तन करने के लिए कायोत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा की जाती है। प्रमुख शब्दों के विशेष अर्थ इस प्रकार है -

णाण् - **'ज्ञान'** वस्तु के विशेष स्वरूप को जानना 'ज्ञान' कहलाता है ।

दंसण् - **'दर्शन'** जिन प्ररूपित नव तत्त्वों पर श्रद्धा करना दर्शन है ।

चरित्त् - **'चारित्र'** पापों का सर्वथा त्याग करना 'चारित्र' कहलाता है।

तव् - **'तप'** - जिस क्रिया द्वारा आत्मा से संबद्ध कर्म तपाये जाते हैं अर्थात् नष्ट होते हैं। जैसे अग्नि में तपने पर सोना निर्मल बन जाता है।

अइयार (अतिचार) - व्रतों में लगने वाले दोषों को अतिचार कहते हैं। व्रत का एकांश भंग अतिचार और सर्वांश भंग अनाचार है। अर्थात् प्रत्याख्यान का स्मरण नहीं रहने पर या शंका से व्रत में जो दोष लगता है वह अतिचार है और व्रत तोड़ देना अनाचार है। मंद अतिचार का प्रायश्चित्त हार्दिक पश्चात्ताप और तीव्र अतिचारों का प्रायश्चित्त नवकारसी आदि तप है।

काउस्सग्ग (कायोत्सर्ग) - शरीर से ममत्व हटाकर एकाग्र चित्त से ध्यान करना कायोत्सर्ग है।

दर्शन सम्यक्त्व का पाठ

अरहंतो ✪ महदेवो, जावज्जीवाए ❀ सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥ १ ॥
परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि ।
वावण्ण कुदंसणवज्जणा, य सम्मत्त सद्दहणा ॥ २ ॥
इअ सम्मत्तस्स पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा

पाठान्तर - ✪ अरिहंतो ❀ जावज्जीवं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ते आलोउं- संका, कंखा, वितिगिच्छा, परपासंडपसंसा,परपासंडसंथवो, इस प्रकार श्री सम्यक्त्व रत्न पदार्थ के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊं - १ वीतराग के वचन में शंका की हो २ परदर्शन की आकांक्षा की हो ३ धर्म के फल में संदेह किया हो या त्यागवृत्ति के कारण शरीर वस्त्रादि मलिन देखकर सन्त सतियों से घृणा की हो ४ परपाषंडी की प्रशंसा की हो ५ परपाषंडी का परिचय किया हो एवं मेरे सम्यक्त्व रूप रत्न पर मिथ्यात्व रूपी रज मैल लगा हो, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

कठिन शब्दार्थ - **अरहंतो** - अर्हंत (अरहन्त) भगवान्, **मह** - मेरे, **देवो** - देव हैं, **जावज्जीवाए** - जीवन पर्यन्त, **सुसाहुणो** - सुसाधु, **गुरुणो** - गुरु हैं, **जिण पण्णत्तं** - जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्ररूपित, **तत्तं** - तत्त्व (धर्म) है, **इअ** - यह, **सम्मत्तं** - सम्यक्त्व, **मए** - मैने, **गहियं** - ग्रहण किया है, **परमत्थसंथवो वा** - परमार्थ-नव तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना, **सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि** - परमार्थ के जानने वालों की सेवा करना, **वावण्ण कुदंसणवज्जणा** - सम्यक्त्व से भ्रष्ट और अन्यमतियों की प्रशंसा नहीं करना, **सम्मत्त** - सम्यक्त्व के, **सद्दहणा** - श्रद्धान हैं, **इअ** - इस प्रकार, **सम्मत्तस्स** - सम्यक्त्व के, **पंच** - पांच, **अइयारा** - अतिचार, **पेयाला** - प्रधान, **जाणियव्वा** - जानने योग्य हैं, **न समायरियव्वा** - आचरण करने योग्य नहीं हैं, **तंजहा** - वे इस प्रकार हैं, **ते** - उनकी आलोचना करता हूँ, **संका** - वीतराग के वचन में शंका की हो, **कंखा** - पर दर्शन की आकांक्षा की हो, **वितिगिच्छा** - धर्म के फल में संदेह किया हो या साधु-साध्वी के मलिन वस्त्र देखकर घृणा की हो **परपासंड-पसंसा** - पर-पाखण्डी की प्रशंसा की हो, **परपासंड-संथवो** - पर-पाखण्डी का परिचय किया हो।

भावार्थ - अर्हंत (अरहंत) भगवान् मेरे देव हैं। जीवन पर्यंत सच्चे साधु गुरु हैं। जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्ररूपित तत्त्व (धर्म) है। इसे प्रकार मैंने सम्यक्त्व ग्रहण की है। १. परमार्थ - नव तत्त्वों का ज्ञान करना २. परमार्थ के जानने वालों की सेवा करना ३. जिसने सम्यक्त्व का वमन कर दिया है उसकी संगति नहीं करना ४. अन्यमतियों की संगति से दूर रहना - ये चार सम्यक्त्व के श्रद्धान हैं। इस प्रकार श्री समकित रत्न पदार्थ के विषय में पाँच

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रधान अतिचार जो जानने योग्य हैं किन्तु आचरण करने योग्य नहीं है उनमें से जो कोई अतिचार लगा है उनकी मैं आलोचना करता हूँ। यथा - १. वीतराग के वचन में शंका की हो २. परदर्शन की आकांक्षा की हो २. धर्म के फल में संदेह किया हो या साधु साध्वी के मलिन वस्त्र देख कर घृणा की हो ४. परपाखंडी की प्रशंसा की हो ५. परपाखंडी का परिचय किया हो, मेरे सम्यक्त्व रूप रत्न पर मिथ्यात्व रूपी रज मैल लगा हो तो मेरे वे सब पाप निष्फल हो।

विवेचन - इस पाठ में सम्यक्त्व का स्वरूप बताया है।

शंका - अर्हंत को ही देव क्यों कहा गया है?

समाधान - क्योंकि वे अज्ञान, निद्रा, मोह, मिथ्यात्व, अविरति, कुदर्शन व घाती कर्मों से रहित हो कर परम वीतरागी सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् होते हैं। जिनको देवाधिदेव भी कहते हैं। ऐसे गुण अन्य देवों में नहीं होते हैं।

सुसाहुणो (सुसाधु) - जिनेश्वर भगवान् के मार्ग पर चलने वाले, पंच महाव्रत के धारक, पांच समिति तीन गुप्ति के आराधक, छह काया के रक्षक, तप एवं संयम युक्त जीवन व्यतीत करने वाले साधुओं को सुसाधु कहते हैं।

परमत्थ (परमार्थ) - नवतत्त्व को परमार्थ कहते हैं । परमार्थ से जीव अजीव का ज्ञान होता है। धर्म का स्वरूप समझ में आता है और आत्मोन्नति करने की विधि मालूम होती है। परमार्थ के जानने वालों की सेवा से नवीन ज्ञान की प्राप्ति होती है। शंका का निवारण होता है। सत्यासत्य का निर्णय होता है। अतिचार शुद्धि होती है। नई प्रेरणा मिलती है। ज्ञान दर्शन चारित्र निर्मल व दृढ़ होता है।

शंका - जिन वचनों में शंका क्यों होती है, उसे कैसे दूर करना चाहिये?

समाधान - १. बुद्धि की न्यूनता के कारण २. सम्यक् रूप से समझाने वाले गुरुओं के अभाव में ३. जीव-अजीवादि भावों का गहन स्वरूप होने से ४. ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अथवा ५. हेतु दृष्टांत आदि समझने के साधनों के अभाव में कोई विषय यथार्थ रूप से समझने में नहीं आ पाता है तो शंका की संभावना रहती है। ऐसी स्थिति में जीव भगवान् के केवलज्ञान और वीतरागता का विचार करके, अपनी बुद्धि की मंदता को सोचकर शंका दूर करे तथा यह सोचे कि -**"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"** - जिनेश्वर भगवान् ने जो प्ररूपित किया है वही यथार्थ है, सत्य है। क्योंकि भगवान् राग, द्वेष, मोह और अज्ञान से अतीत (रहित) है। अतः भगवान् का वचन पूर्णतः सत्य ही है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कंखा - अन्य मतियों के आडम्बर, पूजा, चमत्कार आदि देखकर परमत ग्रहण करने की आकांक्षा होती है? ऐसी आकांक्षा का निवारण करने के लिए यह स्पष्ट समझना चाहिये कि आडम्बरादि प्रवृत्तियों में छह काया के जीवों का आरम्भ होता है। आरम्भ समारम्भ धर्म नहीं है, अतः इनकी चाह करना दोष है।

परपासंड पसंसा (पर-पाखण्डी प्रशंसा) - अन्य मत के सिद्धान्त, शास्त्र और साधुओं की प्रशंसा करना।

परपासंड संथवो (पर-पाखण्डी परिचय) - अन्य मत के साधुओं या विशिष्ट व्यक्तियों के साथ आलाप, संलाप, संवास, परिचर्यादि करना और उनके ग्रन्थों का अध्ययन करना।

कायोत्सर्ग का पाठ (१२५ अतिचार)

१-१४. ज्ञानातिचार - वाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरं, अच्चक्खरं, पयहीणं, विणयहीणं, जोगहीणं, घोसहीणं, सुट्ठुदिण्णं, दुट्ठुपडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाइए सज्झाइयं, सज्झाइए न सज्झाइयं।

१५-१९. दर्शनातिचार - संका, कंखा, वितिगिच्छा, परपासंडपसंसा, परपासंडसंथवो।

२०-१२०. चारित्राचार - छजीवणिकायजयणा -

पृथ्वीकाय में - पृथ्वी, भित्ति, शिला, लेलु, सचित्त रज से खरडे हुए शरीर वस्त्रादि का नवकोटि से आलेखन, विलेखन, घट्टन और भेदन नहीं करना चाहिए। इत्यादि पृथ्वीकाय की विराधना की हो तो **तस्स (आलोऊं) मिच्छामि दुक्कडं।**

अप्काय में - उदक, ओस, हिम, महिका, करक, हरितनुक, शुद्धोदक पानी से गीला एवं स्निग्ध शरीर एवं वस्त्र का नवकोटि से आमर्श, संस्पर्श, आपीडन, प्रपीडन, आस्फोटन, प्रस्फोटन आतापन, प्रतापन नहीं करना चाहिए। इत्यादि अप्काय की किसी भी प्रकार की विराधना की हो तो **तस्स (आलोऊं) मिच्छामि दुक्कडं।**

तेउकाय में - अग्नि, अंगारे, मुर्मुर, अर्चि, ज्वाला, अलात, शुद्ध अग्नि, उल्का का नवकोटि से उत्सेचन, घट्टन, भेदन, उज्ज्वालन, प्रज्ज्वालन, निर्वापन नहीं करना चाहिए। इत्यादि तेउकाय की किसी भी प्रकार की विराधना की हो तो **तस्स (आलोऊं) मिच्छामि दुक्कडं।**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाउकाय में – वामन, चामर, पंखे, पत्र, पत्र के टुकड़े शाखा, शाखा के टुकड़े, मोर पंख, मोर पिंछी, वस्त्र, वस्त्र के पल्ले, हाथ और मुख से अपना शरीर अथवा आहार आदि को नवकोटि से फुत्कार एवं व्यजन नहीं करना चाहिए। इत्यादि वाउकाय की किसी भी प्रकार की विराधना की हो तो **तस्स (आलोऊं) मिच्छामि दुक्कडं।**

वनस्पतिकाय में – बीज, बीज प्रतिष्ठित, अंकुर, अंकुर प्रतिष्ठित, जात (पत्रित), जात प्रतिष्ठित, हरित, हरित प्रतिष्ठित, छिन्न, छिन्न प्रतिष्ठित, सचित्त, सचित्त कोलप्रतिनिश्रित पर नवकोटि से जाना, ठहरना, बैठना, सोना आदि क्रिया नहीं करनी चाहिए। इत्यादि वनस्पतिकाय की किसी भी प्रकार की विराधना की हो तो **तस्स (आलोऊं) मिच्छामि दुक्कडं।**

त्रसकाय में – कीट, पतंग, कुंथु, पीपिलीका रूप बेइन्द्रिय आदि जीव, हाथ, पैर, बाहु, उरु, उदर, सिर, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, गोच्छक, स्थण्डिल, दण्डक, पीठ, फलक, शय्या-संस्तारक, इसी प्रकार के किसी अन्य उपकरण पर आ जाय तो यतना पूर्वक हटाना चाहिए। हटाने में नवकोटि से किसी भी प्रकार की अयतना नहीं करनी चाहिए। इत्यादि त्रसकाय की किसी भी प्रकार की विराधना की हो तो **तस्स (आलोऊं) मिच्छामि दुक्कडं।**

२०-२४ पहले महाव्रत की पाँच भावना

१. इरिया समिइ भावणा २. मण समिइ भावणा ३. वय समिइ भावणा ४. आहार समिइ भावणा ५. आयाण-भंडमत्त निक्खेवणा समिइ भावणा।

२५-२९ दूसरे महाव्रत की पाँच भावना

६. अणुवीइ समिइ भावणा ७. कोह विवेग खंति भावणा ८. लोभ विवेग मुत्ति भावणा ९. भय विवेग धेज्जं भावणा १०. हास विवेग मोण भावणा।

३०-३४ तृतीय महाव्रत की पाँच भावना

११. विवित्तवासवसहि समिइ भावणा १२. उग्गह समिइ भावणा १३. सेज्जा समिइ भावणा १४. साहारणपिंडपायलाभ समिइ भावणा १५. विणय समिइ भावणा।

३५-३९ चौथे महाव्रत की पाँच भावना

१६. असंसत्त वासवसहि समिइ भावणा १७. इत्थी कह विरइ समिइ भावणा १८. इत्थी रूव विरइ समिइ भावणा १९. पुव्वरय पुव्वकीलिय विरइ समिइ भावणा २०. पणीयाहार विरइ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४०-४४ पाँचवें महाव्रत की पाँच भावना

२१. सोइंदिय भावणा २२. चक्खिंदिय भावणा २३. घाणिंदिय भावणा २४. जिब्भिंदिय भावणा २५. फासिंदिय भावणा।

४५-४६ छठे व्रत की दो भावना

१. दिवा राइभोयणं २. राइ राइभोयणं।

४७-५० ईर्या समिति के चार अतिचार

आलंबणेण कालेण, मग्गेण जयणाइ य।
चउकारण-परिसुद्धं, संजए इरियं रिए॥ १॥
(१. आलंबन २. काल ३. मार्ग ४. यतना)

५१-५२ भाषा समिति के दो अतिचार

कोहे माणे य मायाए, लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए, विकहासु तहेव य॥ २॥
(चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पण्णयं।
दुण्हं तु विणयं सिक्खे, दो ण भासिज्ज सव्वसो।)
(१. असत्य और २. मिश्र भाषा का प्रयोग नहीं करना।)

५३-९९ एषणा समिति के ४७ अतिचार

आहाकम्मुद्देसिय, पूइकम्मे य मीसजाए य।
ठवणा पाहुडियाए, पाओयर कीय पामिच्चे॥ १॥
परियट्टिय अभिहडे, उब्भिण्णे मालोहडे इय।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे, अज्झोयरए य सोलसमे॥ २॥
धाई दूई निमित्ते, आजीव वणीमग्गे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे, य हवंति दस एए॥ ३॥
पुव्विं पच्छासंथव, विज्जा मंते य चुण्ण जोगे य।
उप्पायणाइ दोसा, सोलसमे मूलकम्मे य॥ ४॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संकिय मक्खिय निक्खित्त, पिहिय साहरिय दायगुम्मीसे।
अपरिणय लित्त छड्डिय, एसण दोसा दस हवंति॥ ५॥
संजोयणाऽपमाणे, इंगाले धूमऽकारणे चेव।
(१-१६ उद्गम के १६ दोष
१७-३२ उत्पादन के १६ दोष
३३-४२ एषणा के १० दोष
४३-४७ मांडला के ५ दोष)

१००-१०१ आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा समिति के दो अतिचार

चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए णिक्खिवेज्जा वा, दुहओ वि समिए सया॥
(१. आदान - बिना देखे उपकरण आदि लेना।
२. निक्षेप - बिना देखे उपकरण आदि रखना।)

१०२-१११ उच्चार पासवण खेल जल्ल सिंघाण परिट्ठावणिया समिति के दस अतिचार

अणावायमसंलोए, परस्सऽणुवघाइए।
समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयम्मि य॥ १॥
विच्छिण्णे दूरमोगाढे, णासण्णे बिलवज्जिए।
तस-पाण-बीयरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे॥ २॥
(१-१० स्थण्डिल के दस दोष)

११२-१२० तीन गुप्ति के नौ अतिचार

संरंभ-समारंभे, आरंभे य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु, णियत्तेज्ज जयं जई॥ १॥
संरंभ, समारंभे, आरंभे य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु, णियत्तेज्ज जयं जई॥ २॥
संरंभ-समारंभे, आरंभे य तहेव य।
कायं पवत्तमाणं तु, णियत्तेज्ज जयं जई॥ ३॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(१-३ मनोगुप्ति के तीन अतिचार
४-६ वचन गुप्ति के तीन अतिचार
७-९ काया गुप्ति के तीन अतिचार)

१२१-१२५. तपातिचार - संलेखना के पाँच अतिचार

१. इहलोगासंसप्पओगे, २. परलोगासंसप्पओगे, ३. जीवियासंसप्पओगे, ४. मरणासंसप्पओगे, ५. कामभोगासंसप्पओगे, तस्स (आलोउं) मिच्छामि दुक्कडं।

१२५ अतिचारों का समुच्चय पाठ

इस प्रकार ज्ञान के १४, दर्शन के ५, पाँच महाव्रत की पच्चीस भावना के २५, रात्रि भोजन के २, पहली समिति के ४, दूसरी समिति के २, तीसरी समिति के ४७, चौथी समिति के २, पांचवी समिति के १०, तीन गुप्ति के ९, संलेखणा के ५ इन १२५ अतिचारों में जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स (आलोऊं) मिच्छामि दुक्कडं।

विवेचन - उपरोक्त १२५ अतिचारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है -

१-१४. ज्ञान के १४ अतिचार (१. वाइद्धं.....सज्झाइय) का ज्ञानातिचार सूत्र (पृ० २९-३८) पर एवं

१५-१९. दर्शन के ५ अतिचार का दर्शन सम्यक्त्व के पाठ (पृ० १४७-१४८) पर स्पष्टीकरण दिया जा चुका है।

२०-२४. पहले महाव्रत की पाँच भावना

२०. इरिया समिइ भावणा - गमनागमन के अंदर संयमविधि की सावधानी रखना 'ईर्या समिति भावना' है।

२१. मण समिइ भावणा - संयम के अयोग्य मन को नहीं प्रर्वताना 'मन समिति भावना' है।

२२. वय समिइ भावणा - संयम के अयोग्य वचन को नहीं प्रर्वताना 'वचन समिति भावना' है।

२३. आहार समिइ भावणा - ग्रहणैषणा, गवेषणैषणा, परिभोगैषणा का ध्यान रखना 'आहार समिति भावना' है। पूरी एषणा समिति का इसमें अर्न्तभाव समझना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२४. आयाण भण्ड निक्खेवणा समिइ भावणा - वस्तु को लेने और रखने में संयम विधि का ध्यान रखना 'आदान भाण्ड निक्षेपणा समिति भावना' है।

२५-२९. दूसरे महाव्रत की पाँच भावना

२५. अणुवीइ समिइ भावणा - संयम मर्यादा का ध्यान रखते हुए उपयोग पूर्वक बोलना 'अणुविचि समिति भावना' है।

२६. कोहे विवेग खंति भावणा - क्रोध के प्रसंगों के उपस्थित होने पर भी क्रोध पर नियंत्रण रखना, क्षमा धारण करना 'क्रोध विवेक क्षमा भावना' है।

२७. लोभ विवेग मुत्ति भावणा - लोभ के प्रसंगों के उपस्थित होने पर भी लोभ पर नियंत्रण रखना, संतोष धारण करना 'लोभ विवेक संतोष भावना' है।

२८. भय विवेग धेज्ज भावणा - भय के प्रसंगों के उपस्थित होने पर भी भय पर नियंत्रण करना, धैर्य धारण करना 'भय विवेक धैर्य भावना' है।

२९. हास विवेग मोण भावणा - हास्य के प्रसंगों के उपस्थित होने पर भी हास्य पर नियंत्रण रखना, मौन रखना 'हास्य विवेक मौन भावना' है।

३०-३४. तीसरे महाव्रत की पाँच भावना

३०. विवित्तवास वसहि समिइ भावणा - साधु के योग्य निर्दोष स्थान की आगम विधि के अनुसार याचना करना 'विवित्तवास वसति समिति भावना' है।

३१. उग्गह समिइ भावणा - संयम प्रायोग्य तृणादि वस्तुओं की प्रतिदिन याचना करना 'अवग्रह समिति भावना' है।

३२. सेज्जा समिइ भावणा - प्राप्त निर्दोष शय्या में किसी भी प्रकार के संस्कार नहीं करना 'शय्या समिति भावना' है।

३३. साहारण पिंडपायलाभ समिइ भावणा - साधारण पिण्डपात का बराबर संविभाग करना 'साधारण पिण्डपात लाभ समिति भावना' है।

३४. विणय समिइ भावणा - **विनयाई** गुरुजनों के प्रति भक्ति अर्पणता सहित सभी प्रकार का विनय करना 'विनय समिति भावना' है।

३५-३९. चौथे महाव्रत की पाँच भावणा

३५. असंसत्त वासवसहि समिइ भावणा - ब्रह्मचर्य में बाधक ऐसे स्त्री, पशु,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पण्डक (नपुंसक) आदि से युक्त शयनासन का वर्जन करना 'असंसक्त वास वसति समिति भावना' है।

३६. इत्थी कह विरइ समिइ भावणा - ब्रह्मचर्य में बाधक इस प्रकार की स्त्री संबंधी कथावार्त्ता नहीं करना 'स्त्री कथा विरति समिति भावना' है।

३७. इत्थी रूव विरइ समिइ भावणा - स्त्रियों के अंगोपांग को नहीं देखना 'स्त्री रूप विरति समिति भावना' है।

३८. पुव्वरय पुव्वकीलिय विरइ समिइ भावणा - पूर्वरति एवं पूर्व क्रीड़ा का स्मरण नहीं करना 'पूर्वरत पूर्व कीडित विरति समिति भावना' है।

३९. पणीयाहार विरइ समिइ भावणा - मन को चंचल करने वाले गरिष्ठ एवं तामसिक (उष्णतावर्द्धक) भोजन का विवेक करना 'प्रणीताहार विरति समिति भावना' है।

४०-४४. पाँचवें महाव्रत की पाँच भावना

४०. सोइंदिय भावणा - श्रोत्रेन्द्रिय के रुचि कर शब्दों पर राग और अरुचि कर शब्दों पर द्वेष नहीं करना 'श्रोत्रेन्द्रिय भावना' है।

४१. चक्खिंदिय भावणा - चक्षुरिन्द्रिय के रुचिकर रूपों पर राग और अरुचिकर रूपों पर द्वेष नहीं करना 'चक्षुरिन्द्रिय भावना' है।

४२. घाणिंदिय भावणा - घ्राणेन्द्रिय के रुचिकर गंधों पर राग और अरुचिकर गंधों पर द्वेष नहीं करना 'घ्राणेन्द्रिय भावना' है।

४३. जिब्भिंदिय भावणा - रसनेन्द्रिय के रुचिकर रसों पर राग और अरुचिकर रसों पर द्वेष नहीं करना 'रसनेन्द्रिय भावना' है।

४४. फासिंदिय भावणा - स्पर्शनेन्द्रिय के रुचिकर स्पर्शों पर राग और अरुचिकर स्पर्शों पर द्वेष नहीं करना 'स्पर्शनेन्द्रिय भावना' है।

४५-४६. छठे व्रत की दो भावना

४५. दिवा राइ भोयणं - साधु द्वारा अपने पास आहारादि रातबासी रख कर दूसरे दिन उस आहारादि का सेवन करना। अंधकार वाले स्थान में भोजन करना। अंधकार वाले भाजन (पात्र संकडे, मुँह वाला हो) (उसमें रखा हुआ आहारादि दिखता न हो) से दिन में भी आहार का सेवन करना 'दिवस रात्रि भोजन' है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४६. राइ-राइ भोयणं - रात्रि में आये हुए उगाले को निगल जाना। अति मात्रा में दिन में भोजन होने से रात्रि में भी उसकी गंध चालू रहना। उदय अस्त की शंका होते हुए भी आहारादि का सेवन करना 'रात्रि रात्रि भोजन' है।

४७-५०. ईर्या समिति के चार अतिचार

४७. आलम्बन् - ज्ञान, दर्शन और चारित्र की रक्षा पुष्टि एवं वृद्धि के लिए चलना।

४८. काल् - रात्रि में वर्जकर दिन में चलना। उच्चार प्रस्रवण आदि के परिस्थापन के लिए जा सकते हैं। शय्यातर ने मकान छोड़ देने का कह दिया हो या शील भंग का भय आदि हो तो इन अत्यन्त आवश्यक प्रायोजनों से रात्रि में भी मर्यादित गमन किया जा सकता है।

४९. मार्ग् - (संयम) छहकाय की विराधना और आत्मा (शरीर) विराधना से बचने के लिए उत्पथ (कांटे आदि से युक्त मार्ग) को छोड़कर सुपथ में चलना।

५०. यत्न् - चार प्रकार की यतना से चलना। **१. द्रव्य यतना** - आँखों से छह काय के जीव तथा काँटे आदि अजीव पदार्थों को देख कर चलना। **२. क्षेत्र यतना** - शरीर प्रमाण अर्थात् चार हाथ प्रमाण आगे की भूमि को देख कर चलना। **३. काल यतना** - जब तक गमनागमन करना उपयोगपूर्वक चलना। **४. भाव यतना** - दस बोल वर्जकर उपयोग सहित चलना। (दस बोल - शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा।)

इस प्रकार सम्यक् प्रकार से नहीं चलने पर अतिचार लगते हैं।

५१-५२. भाषा समिति के दो अतिचार

५१. असत्य भाषा का प्रयोग नहीं करना।

५२. मिश्र भाषा का प्रयोग नहीं करना।

इनका प्रयोग करने पर अतिचार लगते हैं।

५३-९९. एषणा समिति के सैंतालीस अतिचार

उद्गम के सोलह दोष

५३. अहाकम्म (आधाकर्म) - साधु के लिए बनाया हुआ आहारादि लेना 'आधाकर्म' है।

५४. उद्देसिय (औद्देशिक) - अन्य साधु के लिए बनाया हुआ आहारादि लेना 'औद्देशिक' है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५५. **पूईकम्मे** (पूतिकर्म) - शुद्ध आहारादि में सहस्र घर के अंतर से भी आधाकर्मी आदि अशुद्ध आहार का अंश मिल गया हो उसे लेना 'पूतिकर्म' है।

५६. **मीसज्जाए** (मिश्रजात) - गृहस्थ के लिए और साधु के लिए सम्मिलित बनाया हुआ आहारादि लेना 'मिश्रजात' है।

५७. **ठवणा** (स्थापना) - साधु के लिए रखा हुआ (बालक, भिखारी आदि के मांगने पर भी जो उन्हें न दिया जाय वैसा) आहारादि लेना 'स्थापना' है।

५८. **पाहुडियाए** (प्राभृतिका) - साधुओं को भी जीमनवार का आहारादि दान में दिया जा सके इसलिए गृहस्थ ने जिस जीमनवार को समय से पहले या पीछे किया हो उस जीमनवार का आहारादि लेना 'प्राभृतिका' है।

५९. **पाओअर** (प्रादुष्करण) - अयतना से कपाट आदि खोल कर या दीपक आदि जला कर प्रकाश आदि करके दिया जाता हुआ आहारादि लेना 'प्रादुष्करण' है।

६०. **कीय** (क्रीत) - साधु के लिए खरीदा हुआ आहारादि लेना 'क्रीत' है।

६१. **पामिच्चे** (प्रामीत्य) - साधु के लिए उधार लिया हुआ आहारादि लेना 'प्रामीत्य' है।

६२. **परियट्टिए** (परिवर्तित) - साधु के लिये कोई वस्तु दूसरे को देकर बदले में उससे लिया हुआ आहारादि लेना 'परिवर्तित' है।

६३. **अभिहडे** (अभिहृत) - सामने लाया हुआ आहारादि टिफिन आदि लेना 'अभिहृत' है। आहार कहाँ से लाया जा रहा है? यदि यह दिखाई न दे तो तीन घर कमरे की दूरी से भी आहार लेना वर्ज्य है।

६४. **उब्भिन्ने** (उद्भिन्न) - लेपन ढक्कन अयतना से खोल कर दिया हुआ (या पीछे जिसका लेपन ढक्कन आदि अयतना से लगाया जाय वैसा) आहारादि लेना 'उद्भिन्न' है। पृथ्वीकाय अग्नि आदि की विराधना के कारण यह सदोष है।

६५. **मालोहडे** (मालापहृत) - ऊँचे माले आदि विषम स्थान से कठिनता से निकाला हुआ आहारादि लेना 'मालापहृत' है।

६६. **अच्छिज्जे** (आच्छेद्य) - साधु के लिए निर्बल से छीना हुआ आहारादि लेना 'आच्छेद्य' है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

६७. **अणिसिट्ठे** (अनिःसृष्ट) - जिस आहारादि के अनेक स्वामी हो, उसके अन्य स्वामियों की स्वीकृति नहीं हुई हो या उसका बंटवारा न हुआ हो, ऐसी दशा में उस आहारादि को लेना 'अनिःसृष्ट' है।

६८. **अज्झोयरए** (अध्यवपूरक) - पहले बनते हुए जिस आहारादि में साधुओं की लिए नई सामग्री मिलाई हो वैसा आहारादि लेना 'अध्यवपूरक' है।

उत्पादना के सोलह दोष

६९. **धाई** (धात्री) - धाय का काम करके अर्थात् बच्चों को खिलाने पिलाने का काम करके आहारादि लेना 'धात्री' है।

७०. **दूई** (दूती) - दूती का काम संदेश को पहुँचाने लाने का काम करके आहारादि लेना 'दूती' है।

७१. **निमित्ते** (निमित्त) - बाह्य निमित्त से भूत, भविष्य, वर्तमान काल के लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण को बतला कर या निमित्त सिखला कर आहारादि लेना 'निमित्त' है।

७२. **आजीव** (आजीव) - अपने जाति, कुल संबंध पूर्व जीवन के व्यवसाय आदि को प्रकट करके आहारादि लेना 'आजीव' है।

७३. **वणीमगे** (वनीपक) - एक भिखारी के समान, काया से दीनता प्रकट करके वचन से दीन भाषा बोल कर तथा मन में दीनता लाकर आहारादि लेना।

७४. **तिगिच्छा** (चिकित्सा) - चिकित्सा करके या बता कर आहारादि लेना 'चिकित्सा' है।

७५. **कोहे** (क्रोध) - क्रोध करके गृहस्थ को श्राप आदि का भय दिखा कर आहारादि लेना।

७६. **माणे** (मान) - मान करके गृहस्थ को अपनी लब्धि आदि दिखा कर आहारादि लेना।

७७. **माया** (माया) - माया (कपट) करके गृहस्थ को अन्य वेश बदल कर आदि दिखा कर आहारादि लेना।

७८. **लोभे** (लोभ) - लोभ करके मर्यादा से अधिक तथा श्रेष्ठ आहारादि लेना 'लोभ' है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७९. पुव्विंपच्छासंथव् (पूर्व पश्चात् संस्तव) - आहार प्राप्ति के लिए दाता की दान से पहले या पीछे (उसके सामने) भाट के समान प्रशंसा करना 'पूर्व-पश्चात् संस्तव' है।

८०. विज्जा (विद्या) - जिसकी अधिष्ठात्री देवी हो या जो साधना से सिद्ध हो उसका प्रयोग करके या उसे सीखा कर आहारादि लेना 'विद्या' है।

८१. मंते (मंत्र) - जिसका अधिष्ठाता देव हो या जो बिना साधना अक्षर विन्यास मात्र से सिद्ध हो, उसका प्रयोग करके या सिखा कर आहारादि लेना 'मंत्र' है।

८२. चुण्ण (चूर्ण) - अदृश्य होना, मोहित करना, स्तंभित करना, आदि बातें जिससे हो सके ऐसे पदार्थ का व्यंजन आदि का प्रयोग करके या सिखा कर आहारादि लेना 'चूर्ण' है।

८३. जोगे (योग) - जिसका लेप करने पर आकाश में उड़ना, जल पर चलना आदि बातें हो सकें ऐसे पदार्थ का प्रयोग करके या सिखा कर आहारादि लेना 'योग' है।

८४. मूलकम्मे (मूलकर्म) - गर्भस्तंभन, गर्भाधान, गर्भपात आदि बातें जिससे हो सकें ऐसी जड़ी बूटी का या सामान्य जड़ी बूटी दिखा कर आहारादि लेना 'मूलकर्म' है।

एषणा के दस दोष

८५. संकिय (संकित) - दोष की शंका होने पर भी आहारदि लेना 'शंकित' है।

८६. मक्खिय (म्रक्षित) - दाता, दान के पात्र या दाता के द्रव्य सचित पृथ्वी, पानी, अग्नि या वनस्पति से संघट्टे युक्त हो तो उस दाता से या उस दान के पात्र से द्रव्य लेना 'म्रक्षित' है।

८७. निक्खित्त (निक्षिप्त) - दाता, दान के पात्र या दान के द्रव्य सचित पृथ्वी, पानी, अग्नि या वनस्पति पर रखे हो उस दाता से या उस दान के पात्र से द्रव्य लेना 'निक्षिप्त' है।

८८. पिहिय (पिहित) - दाता, दान के पात्र या दान के द्रव्य के ऊपर सचित पृथ्वी, पानी, अग्नि या वनस्पति हो उस दाता से या उस दान के पात्र से वे द्रव्य लेना 'पिहित' है।

८९. साहरिय (साहृत) - पात्र में पहले से रखे हुए अकल्पनीय पदार्थ को निकाल कर उसी पात्र से देना साहृत हैं। अकल्पनीय आहार से आशय यह एषणा दोष है। अतः सचित्तादि समझना, आधाकर्मादि नहीं है।

९०. दायग (दायक) - जो दान देने के योग्य न हो, उनसे आहारादि लेना दायक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। जैसे अबोध बालक (अबोध का व्यापक अर्थ घर की कौनसी चीज देने की है या नहीं कितनी देनी हैं ऐसा न जानने वाला घर का बालक या दूसरा व्यक्ति) अंधे, लुले, लंगड़े, सात माह से अधिक की गर्भवती बहिन (खड़ी हुई, बैठ कर या बैठी हुई उठकर देने लगे) आदि से लेना 'दायक' है। जुगुप्सनीय कुल वाले व्यक्ति यदि महाजन आदि के यहाँ की कोई वस्तु देवें तो भी नहीं लेना (नौकर मुनीम आदि किसी भी रूप में)।

९१. उम्मीसे (उन्मिश्र) - सचित्त मिश्रित आहारादि लेना 'उन्मिश्र' है। (ऊपर से धनिया आदि डाले हुए आदि)

९२. अपरिणय् (अपरिणत) - पूरा अचित न बना हुआ आहारादि लेना अपरिणत है। (अधकच्चा, अपक्व, दुष्पक्व, कच्चे फल)

९३. लित्त (लिप्त) - सचित्त मिट्टी जल आदि से तत्काल लीपी, पोछी हुई, धोई हुई भूमि पर चल कर दिया हुआ आहारादि लेना 'लिप्त' है। जल मिट्टी अचित्त हो जाने पर भी कुछ काल तक भूमि गिली रहती है। उस पर चलने से चिह्न पड़ जाने से पश्चात् कर्म रूप विराधना संभव है अतः टालना चाहिये।

९४. छड्डिय (छर्दित) - घुटने से अधिक ऊपर से बूंद, कण आदि गिराते हुए दिया जाता हुआ आहारादि लेना 'छर्दित' है।

माण्डला के पाँच दोष

९५. संयोजना - किसी द्रव्य में मनोज्ञ रूप, गंध, रस, स्वाद या स्पर्श उत्पन्न करने के लिये उसमें अन्य द्रव्यों को मिला कर भोगना 'संयोजना' है।

९६. अप्रमाण - प्रमाण से अधिक भोजन करना अप्रमाण है। सामान्यतः स्वस्थ, सबल और युवावस्था वाले पुरुष, स्त्री और नपुंसक के लिए क्रमशः बत्तीस, अट्ठावीस और चौबीस कवल ग्रास। यह संपूर्ण आहार एक दिन का प्रमाण माना गया है। प्रमाण के उपरांत किया गया आहार प्रमाद और विकार का कारण होने से इसे दोष माना है।

९७. इंगाल - सुस्वाद भोजन की प्रशंसा करते हुए खाना अंगार है। यह चारित्र को जला कर कोयल स्वरूप निस्तेज बनाती है। इसलिए इस दोष को अंगार कहते हैं।

९८. धूम - नीरस आहार की निंदा करते हुए खाना धूम है। ऐसा करने से संयम का धुआँ हो जाता है इसलिए इस दोष को धूम कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

९९. **अकारण्** - आहार करने के छह कारणों के सिवाय बाल वृद्धि आदि के लिए भोजन करना अकारण है।

ये पाँच दोष साधु मण्डली में बैठकर भोजन करते हुए लगते हैं, अतः मण्डल या ग्रासैषणा या परिभोगैषणा के दोष कहलाते हैं।

आदान-भाण्ड मात्र (अर्थात् पात्र शेष सबंका ग्रहण भण्ड शब्द से) निक्षेपणा समिति के दो अतिचार

१००. बिना देखे उपकरण आदि लेना 'आदान' है। ये दो अतिचार चौथी समिति के हैं।

१०१. बिना देखे उपकरण आदि रखना 'निक्षेप' है।

उच्चार पासवण खेल जल्ल सिंघाण परिट्ठावणिया समिति के दस अतिचार

१०२. **अणावायमसंलोय्** (अनापात असंलोक) - जहाँ लोगों का आना-जाना न होता हो तथा लोगों की दृष्टि न पड़ती हो, वहाँ परिस्थापन करना अनापात असंलोक है। (आपात-आना-जाना, संलोक - दृष्टि पड़ना।)

१०३. **परस्सणुवघाइय्** (परानुपघातिक) - जहाँ परिस्थापन करने से संयम का उपघात (छह काय की विराधना) आत्मा का उपघात (शरीर की विराधना) तथा प्रवचन उपघात (शासन की निंदा) न हो, वैसी भूमि में परिस्थापन करना 'परानुपघातिक' है।

१०४. **सम्** (सम) - जहाँ ऊंची-नीची विषम भूमि न हो वहाँ परिस्थापन करना सम है।

१०५. **अज्झुसिर** (अशुषिर) - जहाँ कीट जन्य पोली भूमि न हो तथा घास पत्ते आदि से ढकी भूमि न हो, वहाँ परिस्थापन करना 'अशुषिर' है।

१०६. **अचिरकालकयंमि** (अचिरकालकृत) - जिस भूमि को अचित्त हुए इतना अधिक समय न हुआ हो कि पुनः सचित्त बन जाय ऐसी भूमि हो वहाँ परिस्थापन करना 'अचिरकालकृत' है।

१०७. **वित्थिण्ण्** (विस्तीर्ण) - जो परिस्थापन योग्य भूमि कम से कम एक हाथ लम्बी चौड़ी हो वहाँ परिस्थापन करना 'विस्तीर्ण' है।

१०८. **दूरमोगाढ** (दूरावगाढ) - जो भूमि कम से कम चार अंगुल नीचे तक अचित्त हो वहाँ परिस्थापन करना 'दूरावगाढ' है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१०९. णासण्णे (अनासन्न) - जहाँ ग्राम, नगर, आराम, उद्यान आदि निकट न हो वहाँ परिस्थापन करना 'अनासन्न' है।

११०. बिलवज्जिय (बिलवर्जित) - जहाँ चूहे आदि के बिल न हो वहाँ परिस्थापन करना 'बिल वर्जित' है।

१११. तसपाणबीयरहिय (त्रस प्राण बीज रहित) - जहाँ द्वीन्द्रियादि त्रसप्राणी तथा बीज और उपलक्षण से सभी एकेन्द्रिय स्थावर प्राणी न हो, वहाँ परिस्थापन करना त्रस प्राण बीज रहित है।

उपरोक्त दस बोलों को नहीं वर्जकर परठने से अतिचार लगते हैं।

गुप्ति के नौ अतिचार

मनोगुप्ति के तीन अतिचार -

११२. मणं संरंभ - 'मैं इसे परितापना दूँ या मारूँ' ऐसा मानसिक संक्लिष्ट (अशुभ) ध्यान करना मन का संरंभ है।

११३. मणं समारंभ - किसी प्राणी को मानसिक संक्लिष्ट (अशुभ) ध्यान द्वारा परिताप देना मन का समारंभ है।

११४. मणं आरंभ - किसी प्राणी को मानसिक संक्लिष्ट (अशुभ) ध्यान द्वारा मार देना मन का आरंभ है।

वचन गुप्ति के तीन अतिचार

११५. वय संरंभ - 'मैं इसे परितापना दूंगा या मारूंगा' वाणी से ऐसा संक्लिष्ट (अशुभ) शब्द बोलना।

११६. वय समारंभ - किसी प्राणी को वाणी से संक्लिष्ट (अशुभ) मंत्र जाप आदि के द्वारा परितापना देना वचन का समारंभ है।

११७. वय आरंभ - किसी प्राणी को वाणी से संक्लिष्ट (अशुभ) मंत्र जाप द्वारा मार देना वचन का आरंभ है।

काय गुप्ति के तीन अतिचार -

११८. कायं संरंभ - किसी प्राणी को परिताप देने या मारने के लिए हाथ या शस्त्र आदि उठाना काया का संरंभ है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

११९. काय समारंभ - किसी प्राणी को हाथ, शस्त्र आदि चला कर परितापना देना काया का समारंभ है।

१२०. काय आरंभ - किसी प्राणी को हाथ, शस्त्र आदि से मार देना काया का आरंभ है। थप्पड़ दिखाना - हाथ से संरंभ, थप्पड़ मार देना - हाथ से समारंभ।

संकप्पो संरंभो, परिताव करो भवे समारंभो।
आरंभो उद्दवओ, सव्वनयाणं विसुद्धाणं॥

१२१-१२५. संलेखना के पाँच अतिचार

१२१. इहलोगासंसप्पओगे - इस लोक में राजा चक्रवर्ती आदि के सुख की इच्छा करना 'इहलोक आशंसा प्रयोग' है।

१२२. परलोगासंसप्पओगे - परलोक में देवता इन्द्रादि के सुख की इच्छा करना 'परलोक आशंसा प्रयोग' है।

१२३. जीवियासंसप्पओगे - महिमा प्रशंसा फैलने पर बहुत काल तक जीवित रहने की आकांक्षा करना 'जीविताशंसा प्रयोग' है।

१२४. मरणासंसप्पओगे - कष्ट होने पर शीघ्र मरने की इच्छा करना 'मृत्यु आशंसा प्रयोग' है।

१२५. कामभोगासंसप्पओगे - काम-भोग की अभिलाषा करना 'काम भोग आशंसा प्रयोग' है।

पाँच महाव्रत की पच्चीस भावनाओं का विस्तार

प्रथम महाव्रत की ५ भावनाएं

१. ईर्या समिति भावना - 'प्राणातिपात विरमण' नामक प्रथम महाव्रत की रक्षा रूप दया के लिए और स्व-पर गुण वृद्धि के लिये साधु चलने और ठहरने में युग प्रमाण भूमि पर दृष्टि रखता हुआ ईर्या समिति पूर्वक चले, जिससे उसके पाँव के नीचे दब कर कीट पतंग आदि त्रस तथा सचित्त पृथ्वी और हरी लीलोती आदि स्थावर जीवों की घात न हो जाय। चलते या बैठते समय साधु सदैव फूल, फल, छाल, प्रवाल, कन्द, मूल, पानी, मिट्टी, बीज और हरितकाय को वर्जित करता बचाता हुआ सम्यक् प्रवृत्ति करे। इस प्रकार ईर्या समिति

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वक प्रवृत्ति करता हुआ साधु किसी भी प्राणी की अवज्ञा या हीलना नहीं करे, न निंदा करे और न छेदन भेदन और वध करे। किसी भी प्राणी को किञ्चित् मात्र भी भय और दुःख नहीं दे। इस प्रकार ईर्या समिति से अन्तरात्मा भावित-पवित्र होती है। उसका चारित्र और परिणति निर्मल, विशुद्ध एवं अखण्डित होती है। वह अहिंसक होता है। ऐसा अहिंसक संयत उत्तम साधु होता है।

२. मन समिति भावना - अहिंसा महाव्रत की दूसरी भावना 'मन समिति' है। साधु अपने मन को पापकारी - कलुषित बनाकर दुष्ट विचार नहीं करे, न मन मलिन बना कर अधार्मिक, दारुण एवं नृशंसातापूर्ण विचार करे तथा वध बन्धन और पारितापोत्पादक विचारों में लीन भी नहीं बने। जिनका परिणाम भय, क्लेश और मृत्यु है, ऐसे हिंसायुक्त पापी विचारों को मन में किञ्चित् मात्र भी स्थान नहीं दे। ऐसा पापी ध्यान कदापि नहीं करे। इस प्रकार मन समिति की प्रवृत्ति से अन्तरात्मा भावित होती है। ऐसी विशुद्ध मन वाली आत्मा का चारित्र और भावना निर्मल तथा अखण्डित होता है। वह साधु अहिंसक, संयमी एवं मुक्ति साधक होता है। उसकी साधुता उत्तम होती है।

३. वचन समिति भावना - अहिंसा महाव्रत की तीसरी भावना 'वचन समिति' है। कुवचनों से किंचित् मात्र भी पापकारी-आरंभकारी वचन नहीं बोलना चाहिए। वचन समिति पूर्वक वाणी के व्यापार से अन्तरात्मा निर्मल होती है। उसका चारित्र एवं भाव निर्मल, विशुद्ध एवं परिपूर्ण होता है। वचन (भाषा) समिति का पालन अहिंसक संयमी तथा मोक्ष का उत्तम साधक होता है। उसकी साधुता प्रशंसनीय होती है।

४. आहारैषणा समिति भावना - अहिंसा महाव्रत की चौथी भावना 'एषणा समिति' है। आहार की गवेषणा के लिए गृह समुदाय में गया हुआ साधु थोड़े-थोड़े आहार की गवेषणा करे। आहार के लिए गृह समुदाय में गया हुआ साधु, अज्ञात रहता हुआ अर्थात् अपना परिचय नहीं देता हुआ स्वाद में गृद्धता, लुब्धता एवं आसक्ति नहीं रखता हुआ गवेषणा करे। यदि आहार तुच्छ, स्वादहीन या अरुचिकर मिले तो उस आहार पर या उसके देने वाले पर द्वेष नहीं लाता हुआ, दीनता, विवशता या करुणा भाव न दिखाता हुआ, समभाव पूर्वक आहार की गवेषणा करे। यदि आहार नहीं मिले, कम मिले, अरुचिकर मिले तो मन में विषाद नहीं लावे और अपने मन, वचन और काया के योगों को अखिन्न-अखेदित रखता हुआ संयम में प्रयत्नशील रहे। अप्राप्त गुणों की प्राप्ति में उद्यम करने वाला एवं विनयादि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुणों से युक्त साधु भिक्षा की गवेषणा में प्रवृत्त होवे। सामुदानिक भिक्षाचरी से थोड़ा-थोड़ा आहार लेकर अपने स्थान पर आया हुआ साधु गुरुजन के समीप गमनागमन सम्बन्धी अतिचारों की निवृत्ति के लिए ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करे। इसके बाद जिस क्रम से आहार-पानी की प्राप्ति हुई हो उसकी आलोचना करे और आहार दिखावे। फिर गुरुजन के निकट या गुरु के निर्देशानुसार गीतार्थादि मुनि के पास अप्रमत्त होकर विधिपूर्वक अतिचार रहित होकर अनेषणा जनित दोषों की निवृत्ति के लिए पुनः प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे। इसके बाद शान्त चित्त से सुख पूर्वक बैठे और कुछ समय तक ध्यान करे तथा ध्यान और शुभ योग का आचरण करता हुआ, ज्ञान का चिंतन एवं स्वाध्याय करे और अपने मन को श्रुत चारित्र रूप धर्म में स्थापित करे, फिर आहार करता हुआ साधु मन में विषाद एवं व्यग्रता नहीं लाता हुआ मन को शुभयोग युक्त रखे। मन में धर्म की श्रद्धा, मोक्ष अभिलाषा एवं कर्म निर्जरा की भावना करे, फिर हर्ष पूर्वक उठ कर यथा रत्नाधिक को क्रमानुसार आहार के लिए आमंत्रित करे और उनकी इच्छानुसार उन्हें भाव पूर्वक आहार देने के पश्चात् गुरुजन की आज्ञा होने पर उचित स्थान पर बैठे।

फिर मस्तक सहित शरीर तथा करतल को भली प्रकार से पूंजकर आहार करे। आहार करता हुआ साधु आहार के स्वाद में मूर्च्छित नहीं होवे, गृद्ध, लुब्ध एवं आसक्त नहीं बने। अपना ही स्वार्थ नहीं सोचे। विरस या रस रहित आहार हो, तो उसकी निंदा नहीं करे। मन को रस में एकाग्र नहीं करे। मन में कलुषता नहीं लावे। रसलोलुप नहीं बने। भोजन करता हुआ 'सुर-सुर' या 'चव-चव' की ध्वनि नहीं होने दे। भोजन करने में न तो अतिशीघ्रता करे न अति धीरे-विलम्ब पूर्वक करे। भोजन करते समय आहार का अंश भी नीचे नहीं गिरावें। ऐसे भाजन में भोजन करे जो भीतर से भी पूरा दिखाई देता हो अथवा भोजन-स्थान अन्धकार युक्त न हो। भोजन करता हुआ साधु अपने मन, वचन और काया के योगों को वश में रखे। भोजन को स्वाद युक्त बनाने के लिए उसमें कोई अन्य वस्तु नहीं मिलावे अर्थात् 'संयोजना दोष' और 'इंगाल दोष' नहीं लगावे। अच्छे आहार की निंदा रूप 'धूम दोष' भी नहीं लगावे।

जिस प्रकार गाड़ी को सरलता पूर्वक चलाने के लिए उसकी धूरी में अंजन, तेल आदि लगाया जाता है और शरीर पर लगे हुए घाव को ठीक करने के लिए लेप-मरहम लगाया जाता है। उसी प्रकार संयम यात्रा के निर्वाह के लिए, संयम के भार को वहन करने के लिए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तथा प्राण धारण करने के लिए भोजन करे। इस प्रकार आहार समिति का सम्यक् रूप से पालन करने वाले साधु की अन्तरात्मा भावित होती है। उसका चारित्र और भावना निर्मल विशुद्ध एवं अखण्डित होती है। वह संयमवंत अहिंसक साधु मोक्ष का उत्तम साधक होता है।

५. आदान-निक्षेपणा समिति भावना - यह पाँचवीं भावना है। संयम साधना में उपयोगी उपकरणों को यतना पूर्वक ग्रहण करना एवं यतना पूर्वक रखना। साधु को पीठ (बाजोट), फलक (पाट) शय्या, संस्तारक, वस्त्र, पात्र, कम्बल, दण्ड, रजोहरण, चोलपट्टक, मुखवस्त्रिका, पादपोंछन आदि उपकरण संयम वृद्धि के लिए तथा वायु, आतप, दंशमशक और शीत से बचाव करने के लिए है। इन्हें राग द्वेष रहित होकर धारण करना चाहिए और उपयोग में लेना चाहिए। इन उपकरणों की प्रतिलेखना (निरीक्षण करना), प्रस्फोटना (झटकना), प्रमार्जना (रजोहरण से पूंजना) करनी चाहिए। दिन में और रात में सदैव अप्रमत्त रहता हुआ मुनि भण्डोपकरण ग्रहण करे, उठावे और रखे। इस प्रकार आदान निक्षेपणा समिति का यथावत् पालन करने से साधु की अन्तरात्मा अहिंसा धर्म से प्रभावित होती है। उसका चारित्र और आत्म परिणाम निर्मल विशुद्ध होता है और महाव्रत अखण्डित रहता है। वह संयमवान् अहिंसक साधु मोक्ष का उत्तम साधक होता है।

दूसरे महाव्रत की पाँच भावनाएं

१. अनुवीचि समिति भावना (बोलने की विधि) - मिथ्याभाषण से निवृत्त होने रूप दूसरे महाव्रत की रक्षा के लिए पाँच भावनाएं हैं। इनमें से पहली भावना-सम्यक् प्रकार से विचार पूर्वक बोलना। गुरु से सम्यक् प्रकार से श्रवण करके संवर के प्रयोजन को सिद्ध करने वाला, परमार्थ (मोक्ष) का साधक ऐसे सत्य को भली प्रकार से जानने के बाद बोलना चाहिए। बोलते समय न तो वेग पूर्वक (व्याकुलता युक्त) बोलना चाहिए, न त्वरितता से (शीघ्रता पूर्वक) और न चपलता से बोलना चाहिए। भले ही वे वचन सत्य हों। ऐसे सावद्य वचनों का त्याग कर हितकारी, परिमित अपने अभिप्राय को स्पष्ट करने वाले शुद्ध हेतु युक्त और स्पष्ट वचन विचार पूर्वक बोलना चाहिए। इस प्रकार इस 'अनुवीचिसमिति' रूप प्रथम भावना से साधक की अन्तरात्मा प्रभावित होती है। इससे साधक के हाथ, पाँव, आँखें व मुँह संयमित रहते हैं। इस तरह करने से वह साधक शूरवीर होता है। वह सत्य एवं सरलता से सम्पन्न होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. क्रोध त्याग भावना - साधक को क्रोध नहीं करना चाहिए। क्रोधी मनुष्य का चांडिक्य-प्रचण्ड-रौद्र रूप हो जाता है। क्रोधावेश में वह झूठ भी बोल सकता है। पिशुनता - चुगली भी कर सकता है और कटु एवं कठोर वचन भी बोल सकता है। वह मिथ्या, पिशुन और कठोर ये तीनों प्रकार के वचन एक साथ बोल सकता है। क्रोधी मनुष्य क्लेश, वैर और विकथा कर सकता है। वह सत्य का हनन कर सकता है, शील का हनन कर सकता है। क्रोधी मनुष्य दूसरों के लिए द्वेष का प्रात्र होता है। क्रोधाग्नि से जलता हुआ मनुष्य उपरोक्त दोष और ऐसे अन्य अनेक दोष पूर्ण वचन बोलता है। इसलिए दूसरे महाव्रत के पालक को क्रोध नहीं करना चाहिए। क्रोध का त्याग कर क्षमा को धारण करने से अन्तरात्मा प्रभावित होती है। ऐसे साधक के हाथ, पाँव, आँखें और वचन संयम में स्थित-पवित्र रहते हैं। ऐसा शूरवीर साधक सत्यवादी एवं सरल होता है।

३. लोभ-त्याग भावना - सत्य महाव्रत के पालक को लोभ से दूर रहना चाहिए। लोभ से प्रेरित मनुष्य का सत्य व्रत टिक नहीं सकता। वह झूठ बोलने लगता हैं। लोभ से ग्रसित मनुष्य क्षेत्र, वास्तु, कीर्ति, ऋद्धि, सुख, खानपान, पीठ फलक, शय्या संस्तारक, आसन, शयन, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंच्छन, शिष्य और शिष्या के लिए और इसी प्रकार के अन्य सैंकडों कारणों से झूठ बोल सकता है। इसलिए मिथ्या भाषण के मूल इस लोभ का सेवन कदापि नहीं करना चाहिए। इस प्रकार लोभ का त्याग करने से अन्तरात्मा पवित्र होती है। उस साधक के हाथ पाँव, नेत्र और मुख संयम से शोभित होते हैं। वह शूरवीर साधक सत्य एवं सरलता से सम्पन्न होता है।

४. भय त्याग भावना - भय का त्याग कर निर्भय बनने वाला साधक सत्य महाव्रत का पालक होता है। भयग्रस्त मनुष्य के सामने सदैव भय के निमित्त उपस्थित रहते हैं। भयाकुल मनुष्य किसी का सहायक नहीं बन सकता। भयाक्रान्त मनुष्य भूतों के द्वारा ग्रसित हो जाता है। एक डरपोक मनुष्य दूसरों को भी भयभीत कर देता है। डरपोक मनुष्य डर के मारे तप और संयम को भी छोड़ देता है। वह उठाये हुए भार को बीच में ही पटक देता है, पार नहीं पहुँचाता। भयभीत मनुष्य सत्पुरुषों द्वारा सेवित मार्ग में विचरण करने में समर्थ नहीं होता। इस प्रकार भय को पाप का कारण जान कर त्याग करके निर्भय होना चाहिए। भय के कारण व्याधि, रोग, बुढ़ापा, मृत्यु और ऐसे अन्य प्रकार के भयों से साधु को भयभीत नहीं होना चाहिए। धैर्य धर कर निर्भय होने से अन्तरात्मा भावित होती है, निर्मल रहकर बलवान् बनती

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। निर्भय साधक के हाथ, पाँव, नेत्र और मुख आदि संयमित रहते हैं। वह शूरवीर साधक सत्यधर्मी होता है एवं सरलता के गुण से सम्पन्न होता है।

५. हास्य त्याग भावना - दूसरे महाव्रत के पालक को चाहिए कि वह हास्य नहीं करे। हास्य करने वाला मनुष्य मिथ्या और असत्य भाषण कर सकता है। हास्य दूसरे व्यक्ति का अपमान करने में कारणभूत बन जाता है। पराई निंदा करने में रुचि रखने वाले भी हास्य का अवलम्बन लेते हैं। हास्य दूसरों के लिए पीड़ाकारी होता है। हास्य से चारित्र का भेदन विनाश होता है। हास्य एक दूसरे के मध्य होता है और हास्य हास्य में परस्पर की गुप्त बातें प्रकट हो सकती है। एक दूसरे के गर्हित कर्म प्रकट हो सकते हैं। हास्य करने वाला व्यक्ति कान्दर्पिक और आभियोगिक भाव को प्राप्त होकर वैसी गति का बंध कर सकता है। हंसोड मनुष्य आसुरी एवं किल्विषी भाव को प्राप्त कर वैसे देवों में उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार हास्य को अहितकारी जान कर त्याग करना चाहिए। इससे अन्तरात्मा पवित्र होती है। ऐसे साधक के हाथ, पाँव, नेत्र और मुख संयमित रहते हैं। वह हास्य त्यागी, शूरवीर, सच्चाई और सरलता से सम्पन्न होता है।

तीसरे महाव्रत की पाँच भावनाएं

१. निर्दोष उपाश्रय - १. देवकुल - व्यंतरादि के मन्दिर २. सभा - जहाँ लोग एकत्रित होकर मंत्रणा करते हैं ३. प्याऊ ४. आवसथ - संन्यासी आदि का मठ ५. वृक्ष के नीचे ६. आराम - बगीचा ७. कन्दरा - गुफा ८. आकर - खान ९. पर्वत की गुफा १०. कर्म - लोहार आदि की शाला जहाँ लोहे पर क्रिया की जाती है, कुंभकार के स्थान ११. उद्यान - उपवन १२. यानशाला - रथ गाड़ी आदि वाहन रखने के स्थान १३. कुप्यशाला - घर के बरतन आदि रखने का स्थान १४. मण्डप - उत्सव का स्थान या विश्राम स्थल १५. शून्य घर १६. श्मशान १७.लयन - पर्वत की तलहटी में बना हुआ स्थान १८. आपण - दुकान और इसी प्रकार के अन्य स्थानों में जो सचित्त जल, मिट्टी, बीज, हरी वनस्पति और बेइन्द्रियादि त्रस प्राणियों से रहित हो, गृहस्थ ने अपने लिये बनाये हों, प्रासुक (निरवद्य) हों, विविक्त हो (स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित हो) और प्रशस्त (निर्दोष एवं शुभ) हो, ऐसे उपाश्रय में साधु को ठहरना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे स्थान में नहीं रहना चाहिए, जो आधाकर्म बहुल (साधु के लिए आरंभ करके बनाया) हो, साधु के रहने के लिये जल छिटक कर धूल दबाई हो, झाड़ू लगा कर साफ किया हो, विशेष रूप से जल छिडका हो, सुशोभित किया हो, ऊपर छाया हो, चूना आदि पोता हो, लीपा हो, विशेष रूप से लीपा हो, शीत निवारण के लिए अग्नि जलाई हो या दीपक जलाया हो, बर्तन आदि हटाकर अन्यत्र रखे हो जहाँ भीतर या बाहर रहने से असंयम की वृद्धि होती हो, ऐसे स्थान साधु के लिए वर्जित हैं। ऐसे उपाश्रय सूत्र (आगम) से प्रतिकूल होने से साधु साध्वियों को नहीं उतरना चाहिए।

इस प्रकार विविक्त-वसति रूप समिति का पालन करने से अन्तरात्मा भावित होती है और दुर्गति के कारण ऐसे पाप कर्म करने, कराने से निवृत्ति होती है तथा दत्तानुज्ञात (मकान मालिक ने आज्ञा दी है) स्थान की रुचि होती है।

२. निर्दोष संस्तारक - आराम, उद्यान, कानन और वन प्रदेश में सूखा घास कठिनक (तृण विशेष), जलाशयोत्पन्न तृण, परा (तृणविशेष) मेर (मूंज), कूर्च, कुश, डाभ, पलाल, मूयक, वल्कल, पुष्प, फल, त्वचा, प्रवाल, कन्द, मूल, तृण, काष्ठ और कंकरादि बिछाने या अन्य कार्य के लिये ग्रहण करना हो और वह वस्तु उपाश्रय के भीतर भी हो, तो भी आज्ञा प्राप्त किये बिना ग्रहण करना साधु के लिए कल्पनीय नहीं है। जिस स्थान में मुनि ठहरा है उसमें रहे तृण आदि के ग्रहण करने की भी प्रतिदिन आज्ञा लेनी चाहिए। इस प्रकार 'अवग्रह समिति' का सदैव पालन करने से अन्तरात्मा पवित्र होती है और दुर्गतिदायक पापकर्मों के करने कराने से निवृत्ति होती है तथा दत्तानुज्ञात वस्तु को ग्रहण करने की रुचि होती है।

३. शय्या परिकर्म वर्जन - साधु, पीठ, फलक, शय्या और संस्तारक के लिए वृक्षों का छेदन नहीं करे और वृक्षों का छेदन-भेदन करा कर शय्या नहीं बनवावे, किन्तु जिस गृहस्थ के उपाश्रय में साधु ठहरे वहीं शय्या की गवेषणा करे। यदि वहाँ परठने की भूमि विषम (उबड़ खाबड़) हो तो उसे सम (बराबर) नहीं करे। यदि वायु का संचार न हो या अधिक हो, तो उत्सुकता (रुचि) नहीं रख कर समभाव पूर्वक रहे। यदि डांस मच्छरों का परीषह उत्पन्न हो जाय, तो क्षुभित नहीं होकर शान्त रहे। उन डांस मच्छरों का निवारण करने के लिए न तो अग्नि प्रज्वलित करे और न धूँआ ही करे। इस प्रकार निर्दोष चर्या से उस साधु के जीवन में अत्यधिक संयम, विस्तृत संवर, कषायों और इन्द्रियों पर विशेष विजय, चित्त में प्रसन्नता एवं शांति की बहुलता होती है। वीतराग भाव की वृद्धि करने वाला धीर-वीर श्रमण,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्पन्न परीषहों को अपने शरीर पर झेलता हुआ, स्वयं अकेला (रागादि रहित)होकर धर्म का आचरण करे। इस प्रकार सदैव शय्या समिति के योग से (शय्या परिकर्म वर्जित करने से) अन्तरात्मा विशुद्ध होती है और दुर्गतिदायक कृत्यों के करण करावण रूप पाप कर्मों से निवृत्त रहती है। वह प्रशस्तात्मा दत्तानुज्ञात अवग्रह ग्रहण करने की रुचि वाला होता है।

४. अनुज्ञात भक्तादि भावना - साधु का कर्त्तव्य है कि वह गुरु आदि रत्नाधिकों की आज्ञा प्राप्त करके ही अशन पानादि का उपभोग करे। साथ के सभी साधुओं के लिए जो आहारादि सम्मिलित रूप से प्राप्त हुआ है, उसे सभी के साथ समिति एवं शान्ति के साथ खाना चाहिए। खाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि जिससे अदत्तादान का पाप नहीं लगे। उस सम्मिलित आहार में से शाकादि स्वयं अधिक न खावे। अपने भाग के आहार से न तो अधिक खावे और न शीघ्रता पूर्वक खावे। असावधानी न रखते हुए सोच समझ कर उचित रीति से खावे। सम्मिलित रूप से प्राप्त आहार का संविभाग इस प्रकार करे कि जिससे तीसरे महाव्रत में किसी प्रकार का दोष नहीं लगे। यह अदत्तादान विरमण रूप महाव्रत बड़ा सूक्ष्म है। साधारण रूप से आहार और पात्र का लाभ होने पर समितिपूर्वक आचरण करने से अन्तरात्मा पवित्र होती है और दुर्गतिदायक कुकृत्यों के करने कराने रूप पाप कर्म से दूर रहती है। वह पवित्रात्मा दत्तानुज्ञात आहारादि ग्रहण करने की रुचि वाली होती है।

५. साधर्मिक विनय - साधर्मिक साधुओं का विनय करे। ज्ञानी, तपस्वी एवं ग्लान साधु का विनय एवं उपकार करने में तत्पर रहे। सूत्र की वाचना तथा परावर्तना करते समय गुरु का वंदन रूप विनय करे। आहारादि दान प्राप्त करने और प्राप्त दान को साधुओं को देने तथा सूत्रार्थ की पुनः पृच्छा करते समय गुरु महाराज की आज्ञा लेने एवं वंदना करने रूप विनय करे। उपाश्रय से बाहर जाते और प्रवेश करते समय आवश्यकी तथा नैषधिकी उच्चारण रूप विनय करे। इसी प्रकार अन्य अनेक सैंकड़ों कारणों (अवसरों) पर विनय करता रहे। मात्र अनशनादि ही तप नहीं है किन्तु विनय भी तप है। केवल संयम ही धर्म नहीं है किन्तु तप भी धर्म है। इसलिए गुरु साधु और तपस्वियों का विनय करता रहे। इस प्रकार सदैव विनय करते रहने से अन्तरात्मा पवित्र होती है और दुर्गति के कारण ऐसे पाप कृत्यों के करने, कराने रूप पाप कर्म से रहित होती है। इससे दत्त अनुज्ञात पदार्थ को ग्रहण करने की रुचि होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चौथे महाव्रत की पाँच भावनाएं

१. विविक्त शयनासन - जिस स्थान पर स्त्रियों का संसर्ग हो उस स्थान पर साधु सोवे नहीं, आसन लगाकर बैठे नहीं। जिस घर के द्वार का आंगन, अवकाश स्थान (छत आदि), गवाक्ष (गोरव आदि), शाला अभिलोकन (दूरस्थ वस्तु देखने का स्थान), पीछे का द्वार या पीछे का घर, शृंगार-गृह और स्नान घर आदि जहाँ स्त्रियां हो या दिखाई दें, उन स्थानों को वर्जित करे। जिस स्थान पर बैठकर स्त्रियां मोह, द्वेष, रति और राग बढ़ाने वाली अनेक प्रकार की बातें करती हों, वैसी कथा कहानियां कहती हों और जिन स्थानों पर वेश्याएं बैठती हों उन स्थानों को वर्जित करे। क्योंकि वे स्थान स्त्रियों के संसर्ग से संक्लिष्ट होने से दोषोत्पत्ति के कारण हैं।

ऐसे अन्य सभी स्थानों का साधु त्याग कर दे। जहाँ रहने से मन में भ्रान्ति उत्पन्न होकर ब्रह्मचर्य को क्षति युक्त करे, ब्रह्मचर्य देशतः या सर्वतः नष्ट हो जाता है, आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान उत्पन्न हों, उन सभी स्थानों का त्याग करे। ब्रह्मचर्य को नष्ट करने वाले ये स्थान कुशील रूप पाप से डरने वाले साधु के लिये रहने योग्य नहीं हैं। इसलिये साधु अन्त-प्रान्त आवास (अन्त - इन्द्रियों के प्रतिकूल पर्ण कुटी आदि, प्रान्त - शून्य गृह श्मशानादि) रूप ऐसे निर्दोष स्थान में रहे। इस प्रकार स्त्री और नपुंसक के संसर्ग रहित स्थान में रहने रूप समिति के पालन से अन्तरात्मा पवित्र होती है। जो साधु ब्रह्मचर्य के निर्दोष पालन में तत्पर होकर इन्द्रियों के विषयों से निवृत्त रहता है, वह जितेन्द्रिय एवं ब्रह्मचर्य गुप्त कहलाता है।

२. स्त्री कथा वर्जन - स्त्रियों के मध्य बैठ कर विविध प्रकार की कथा वार्ता नहीं कहना। स्त्रियों के बिब्बोक (स्त्रियों की कामुक चेष्टा) विलास (स्मित-कटाक्षादि) हास्य और श्रृंगार युक्त लौकिक कथा नहीं कहे। ऐसी कथाएं मोह उत्पन्न करती हैं। वर-वधु सम्बन्धी रसीली बातें और स्त्रियों के सौभाग्य, दुर्भाग्य के वर्णन भी नहीं करना चाहिए। कामशास्त्र वर्णित महिलाओं के चौसठ गुण, उनके वर्ण, देश, जाति, कुल, रूप, नाम, नैपथ्य (वेशभूषा) और परिजन सम्बन्धी वर्णन भी नहीं करना चाहिए। स्त्रियों के श्रृंगार रस, करुणाजन्य विलाप आदि तथा इसी प्रकार की अन्य मोहोत्पादक कथा भी नहीं करनी चाहिए। ऐसी कथाएं तप, संयम, ब्रह्मचर्य की घात और उपघात करने वाली होती है। ऐसी कथा कहना सुनना निषिद्ध है। मन में भी इस प्रकार का चिन्तन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्त्री सम्बन्धी कथा से निवृत्त रहने रूप समिति का पालन करने से अन्तरात्मा पवित्र रहती है। इस प्रकार निर्दोषतापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालक साधु इन्द्रियों के विषयों से विरत रह कर जितेन्द्रिय तथा ब्रह्मचर्य गुप्ति का धारक होता है।

३. स्त्रियों के रूप दर्शन का त्याग - ब्रह्मचारी पुरुष स्त्रियों की हास्य-मुद्रा, रागवर्द्धक वचन, विकारोत्पादक चेष्टा, कटाक्षयुक्त दृष्टि, चाल, विलास (हाव-भाव), क्रीड़ा, कामोत्पादक श्रृंगारिक चेष्टाएं, नाच, गीत, वाद्य, शरीर का गठन एवं निखार, वर्ण (रंग), हाथ, पांव, आंखें, लावण्य, रूप, यौवन, पयोधर, ओष्ठ, वस्त्र और आभूषण आदि से की हुई शरीर की शोभा और जंघा आदि गुप्त अंग तथा इसी प्रकार के अन्य दृश्य नहीं देखे। इन्हें देखने की चेष्टा तप, संयम और ब्रह्मचर्य का घात एवं उपघात करने वाली है और पाप-कर्म युक्त है। ब्रह्मचर्य के पालक को स्त्रियों के रूप आदि का मन से भी चिन्तन नहीं करना चाहिये, न आंखों से देखना चाहिए और न ही वचन से रूप आदि का वर्णन करना चाहिए। इस प्रकार स्त्रियों के रूप दर्शन त्याग रूप समिति का पालन करने से अन्तरात्मा प्रभावित होती है। वह साधु मैथुन से निवृत्त एवं इन्द्रिय लोलुपता से रहित होकर जितेन्द्रिय तथा ब्रह्मचर्य गुप्ति का धारक होता है।

४. पूर्व भोग चिन्तन त्याग - गृहस्थ अवस्था में भोगे हुए कामभोग और की हुई क्रीड़ा तथा मोहक सम्बन्ध स्त्री-पुत्र आदि के स्नेहादि का स्मरण, चिन्तन नहीं करे। इत्यादि रूप से पूर्वावस्था के कामभोगों का स्मरण नहीं करने रूप समिति का पालन करने से अन्तरात्मा भावित होती है। ऐसा साधक इन्द्रियों के विकारों से रहित, जितेन्द्रिय एवं ब्रह्मचर्य गुप्ति का धारक होता है।

साधु के लिये स्त्री सम्बन्धी बातों का वर्जन किया गया है। साध्वी के लिये ये ही सब पुरुष सम्बन्धी बातें वर्जन करना चाहिए।

५. स्निग्ध सरस भोजन त्याग - जो आहार घृतादि स्निग्ध पदार्थों से पूर्ण हो, जिसमें रस टपकता हो, ऐसे विकारवर्द्धक आहार का साधु को त्याग करना चाहिए। खीर, दही, दूध, मक्खन, तेल, गुड़, शक्कर, मिश्री, मधु आदि मिष्ठानों का नित्य आहार करने से शरीर में विकार उत्पन्न होता है। इसलिये ऐसे प्रणीत रस का त्याग करना चाहिए। जिस आहार के खाने से दर्प - विकार उत्पन्न हो और वृद्धि हो उसका नित्य सेवन नहीं करे, न दिन में ही अधिक बार भोजन करे तथा शाक, दाल आदि का भी अधिक सेवन नहीं करे। न

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाण से अधिक खावे। साधु उतना ही भोजन करे, जितने से उसकी संयम-यात्रा का निर्वाह हो, चित्त में विभ्रम नहीं हो और धर्म से भ्रष्ट भी न हो। सरस आहार के त्याग रूप इस समिति का पालन करने से साधक की अन्तरात्मा प्रभावित होती है। वह मैथुन विरत मुनि, इन्द्रियजन्य विकारों से रहित, जितेन्द्रिय होकर ब्रह्मचर्य गुप्ति का पालक होता है।

साधु मद्य मांस का तो सर्वथा त्यागी ही होता है।

पांचवें महाव्रत की पांच भावनाएं

१. श्रोत्रेन्द्रिय संयम - प्रिय एवं मनोरम शब्द सुन कर उनमें राग नहीं करना चाहिए। वे मनोरम शब्द कैसे हैं? लोगों में बजाये जाने वाले मृदंग, पणव, दर्दुर, कच्छपी, वीणा, विपंची, वल्लकी, सुघोषा, नन्दी, उत्तम स्वर वाली परिवादिनी, बंसी, तूणक, पर्वक, तंती, तल, ताल। इन वाद्यों की ध्वनि, इनके निर्घोष और गीत सुन कर इन पर राग नहीं करे तथा नट, नर्तक, रस्सी पर किये जाने वाले नृत्य, मल्ल, मुष्टिक (मुक्के से लड़ने वाले), आख्यायक (कहानी सुनाने वाले), लंख (बांस पर खेलने वाले), मंख (चित्रपट बताने वाले), तूण इल्ल, तुम्ब वीणिक और तालाचर से किये जाने वाले अनेक प्रकार के मधुर स्वर वाले गीत सुन कर आसक्त नहीं बने।

कांची, मेखला, कलापक, प्रतारक, प्रहेरक, पायजालक, घण्टिका, किंकिणी, रत्नजालक, क्षुद्रिका, नूपुर, चरणमालिका और जाल की शब्द ध्वनि सुन कर तथा लीला पूर्वक गमन करती हुई युवतियों के आभूषणों के टकराने से उत्पन्न ध्वनि, तरुणियों के हास्य वचन, मधुर एवं मञ्जुल कण्ठ स्वर, प्रशंसायुक्त मीठे वचन और ऐसे ही अन्य मोहक शब्द सुन कर साधु आसक्त नहीं बने, रंजित नहीं होवे, गृद्ध एवं मूर्च्छित नहीं बने, स्व-पर घातक नहीं होवे, लुब्ध और प्राप्ति पर तुष्ट नहीं हो, न हंसे और उनका स्मरण तथा विचार भी नहीं करे।

इस प्रकार कानों से अरुचिकर लगने वाले अशुभ शब्द सुनाई दे तो द्वेष नहीं करे। वे कटु लगने वाले शब्द कैसे हैं? - आक्रोशकारी, कठोर, निन्दायुक्त, अपमानजनक, तर्जना, निर्भर्त्सना, दीप्त (कोप युक्त), त्रासोत्पादक, अव्यक्त रुदन, रटन (जोर से रोने रूप), आक्रन्दकारी, निर्घोष, रसित (सूअर की बोली के समान), कलुण (करुणाजनक), विलाप के शब्द और इसी प्रकार के अन्य अमनोज्ञ अशुभ शब्द सुनाई देने पर साधु को रुष्ट नहीं होना चाहिए। ऐसे अप्रिय शब्द एवं शब्द करने वालों पर घृणा तथा उनका छेदन, भेदन और वध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं करना चाहिए। यह श्रोत्रेन्द्रिय सम्बन्धी भावना है। इस भावना का यथातथ्य पालन करने से अन्तरात्मा भावित होती है। शब्द मनोज्ञ हो या अमनोज्ञ, शुभ हो या अशुभ सुनाई दे उनके प्रति राग-द्वेष नहीं करने वाला संवृत्त साधु मन वचन और काया से गुप्त होकर इन्द्रियों का निग्रह करता हुआ दृढ़तापूर्वक धर्म का आचरण करे।

२. **चक्षुरिन्द्रिय संयम** - सचित्त-स्त्री, पुरुष, बालक और पशु-पक्षी आदि, अचित्त-भवन, वस्त्राभूषण एवं विविध चित्रादि, मिश्र-वस्त्राभूषण युक्त स्त्री पुरुषादि के मनोरम तथा आह्लादकारी रूप आँखों से देख कर उन पर अनुराग नहीं लावे। काष्ट, वस्त्र और लेप से बनाये हुये चित्र, पाषाण और हाथी दाँत की बनाई हुई पाँच वर्ण और अनेक आकार युक्त मूर्तियां देख कर मोहित नहीं बने। इसी प्रकार गुंथी हुई मालाएं, वेष्टित किये हुए गेंद आदि, चपडी लाख आदि भरकर एक-दूसरे से जोड़कर समूह रूप से बनाये हुए गजरे आदि और विविध प्रकार की मालाएं देख कर आसक्त नहीं बने। मन एवं नेत्र को अत्यन्त प्रिय एवं सुखकर लगने वाले वनखंड, पर्वत, ग्राम, आकर, नगर, छोटे जलाशय, पुष्करणी, बावड़ी, दीर्घिका, गुंजालिका, सरोवर की पंक्ति, सागर, धातुओं की खानों की पंक्तियां, खाई, नदी, सरोवर, तालाब और नहर आदि उत्पल-कमल, पद्म-कमल आदि विकसित एवं सुशोभित पुष्प जिन पर अनेक प्रकार के पक्षियों के जोड़े क्रीड़ा करते हैं, सजे हुए मण्डप, विविध प्रकार के भवन, तोरण, चैत्य, देवकुल, सभा, प्याऊ, मठ, सुन्दर शयन, आसन, पालकी, रथ, शकट, यान, युग्य, स्यन्दन, स्त्री पुरुषों का समूह जो अलंकृत एवं विभूषित हों, सौम्य एवं दर्शनीय हों और पूर्वकृत तप के प्रभाव से सौभाग्यशाली तथा आकर्षित हों जनमान्य हों, इन सबको देख कर साधु उनमें आसक्त नहीं बने। इसी प्रकार नट, नर्तक, जल्ल-मल्ल मौष्टिक, विडम्बक, कथक, प्लवक, लासक, आख्यायक, लंख, मंख, तूणइल्ल, तुम्बवीणक और तालाचार आदि अनेक प्रकार के मनोहर खेल करने वाले और इसी प्रकार के अन्य मनोहरी रूप देखकर साधु को आसक्त नहीं होना चाहिए न उनमें लीन होना चाहिये। यावत् उन रूपों का स्मरण एवं चिन्तन भी नहीं करना चाहिए।

मन को बुरे लगने वाले अशुभ दृश्यों को देखकर मन में द्वेष नहीं लावे। वे अप्रिय रूप कैसे हैं? गण्डमाला का रोगी, कोढ़ी, कटे हुए हाथ वाला या जिसका एक हाथ या एक पांव छोटा हो, जलोदरादि उदर रोग वाला, दाद से विकृत शरीर वाला, पांव में श्लीपद रोग हो, कुबड़ा, बौना, लंगड़ा, जन्मान्ध, काणा, सर्पि रोगवाला, शूल रोगी, इन व्याधियों से पीड़ित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विकृत शरीरी, मृतक शरीर जो सड़ गया हो जिसमें कीड़े कुलबुला रहे हैं और घृणित वस्तुओं के ढेर तथा ऐसे अन्य प्रकार के अमनोज्ञ पदार्थों को देख कर, साधु उनसे द्वेष नहीं करे यावत् घृणा नहीं लावे। इस प्रकार चक्षुइन्द्रिय सम्बन्धी भावना से अपनी अन्तरात्मा को भावित करता हुआ - पवित्र रखता हुआ धर्म का आचरण करता रहे।

३. घ्राणेन्द्रिय संयम - तीसरी भावना घ्राणेन्द्रिय संवर है। मनोहर उत्तम सुगन्धों में आसक्त नहीं होना चाहिए। वे सुगन्ध कौनसे हैं? जल और स्थल में उत्पन्न सरस पुष्प और फल तथा भोजन, पानी, कमल का पराग, तगर, तमाल, पत्र, छाल, दमनक, मरुआ, इलायची, गोशीर्ष नामक सरस चन्दन, कपूर, लोंग, अगर, कुंकुम (केसर), कक्कोल, वीरण (खस), श्वेत चन्दन (मलय चन्दन) उत्तम गंधवाले पदार्थों के मिश्रण से बने हुए, धूप की सुगन्ध, ऋतु के अनुसार उत्पन्न पुष्प जिनकी गन्ध दूर तक फैलती हैं, इसी प्रकार के अन्य मनोज्ञ व श्रेष्ठ गन्ध वाले पदार्थों की गन्ध पर साधु को आसक्त नहीं होना चाहिए यावत् उन गन्धों का स्मरण एवं चिन्तन भी नहीं करना चाहिए।

घ्राणेन्द्रिय से अप्रिय लगने वाली दुर्गन्ध के प्रति द्वेष नहीं करना चाहिए। वे दुर्गन्धित पदार्थ कौन से और कैसे हैं? मरे हुए सर्प का कलेवर, मरा हुआ घोड़ा, हाथी, बैल, भेडिया, कुत्ता, श्रृंगाल, मनुष्य, बिल्ली, सिंह, चीता इत्यादि के शव सड गये हो, उनमें कीड़े पड़ गये हों, जिनकी दुर्गन्ध अत्यन्त असह्य एवं दूर तक फैली हो और अन्य भी दुर्गन्धमय पदार्थों की गन्ध प्राप्त होने पर, साधु उस पर द्वेष नहीं करे यावत् अपनी पांचों इन्द्रियों को वश में रखता हुआ धर्म का आचरण करे।

४. रसनेन्द्रिय संयम - साधु रसनेन्द्रिय द्वारा मन भावते एवं उत्तम रसों का आस्वादन करके आसक्त नहीं बने। वे रस कौनसे हैं? घृत में तलकर बनाये गये घेवर, खाजा आदि और विविध प्रकार के भोजन पान, गुड और शक्कर से बनाये हुए तिलपट्टी, लड्डु, मालपूआ आदि भोज्य पदार्थों में, अनेक प्रकार के लवणयुक्त (नमकीन, मसालेदार) वस्तुओं में और भी अठारह प्रकार के शाक और विविध प्रकार के भोजन में तथा वे द्रव्य जिनका वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श उत्तम है और उत्तम वस्तुओं के योग से संस्कारित किये गये हैं इस प्रकार के सभी उत्तम एवं मनोज्ञ रसों में साधु आसक्त नहीं बने यावत् उनका स्मरण चिन्तन भी नहीं करे।

रसनेन्द्रिय के द्वारा अमनोज्ञ-अरुचिकर बुरे रसों का आस्वाद लेकर उनमें द्वेष नहीं करें। वे अनिच्छनीय रस कैसे हैं? - अरस, विरस, शीत (ठण्डा), रूक्ष और निस्सार आहार-पानी,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विकृत रस वाला, सड़ा हुआ, बिगड़ा हुआ, घृणित, अत्यन्त विकृत बना हुआ, जिससे अत्यन्त दुर्गन्ध आ रही है ऐसा तीखा, कडुआ, कषैला, खट्टा और अत्यन्त नीरस आहार पानी और इसी प्रकार के अन्य घृणित रसों पर साधु द्वेष नहीं करे, रुष्ट नहीं होवे और रसना पर संयम रख कर धर्म का पालन करे।

५. **स्पर्शनेन्द्रिय संयम** – साधु स्पर्शनेन्द्रिय से मनोज्ञ और सुखदायक स्पर्शों का स्पर्श कर उनमें आसक्त नहीं बने। वे मनोज्ञ स्पर्शवाले द्रव्य कौनसे हैं? जिनमें से जल कण बरस रहे हैं, ऐसे मण्डप (फव्वारायुक्त मण्डप), हारमालाएं, श्वेतचन्दन, निर्मल शीतल जल, विविध प्रकार के फूलों की शय्या, खस-मोतियों की माला, कमल की नाल इनका स्पर्श करना, रात्रि में निर्मल चांदनी में बैठ कर, सो कर या विचरण कर सुखानुभव करना, ग्रीष्मकाल में मयूर पंख का और ताडपत्र का पंखा झेल कर शीतल वायु का सेवन करना और कोमल स्पर्शवाले वस्त्र, बिछौने और आसन का उपयोग करना, शीतकाल में उष्णता उत्पन्न करने वाले वस्त्र, शाल, दुशाले आदि ओढना तथा अग्नि के ताप या सूर्य के ताप का सेवन करना तथा ऋतुओं के अनुसार स्निग्ध, मृदु, शीतल, उष्ण, लघु आदि सुखदायक पदार्थों का और इसी प्रकार के अन्य सुखद स्पर्शों का अनुभव करके आसक्त नहीं होना चाहिए। अनुरक्त, लुब्ध, गृद्ध एवं मूर्च्छित भी नहीं होना चाहिए और उन स्पर्शों को प्राप्त करने की चिन्ता तथा प्राप्ति पर प्रसन्न, तुष्ट एवं हर्षित नहीं होना चाहिए। इतना ही नहीं, इन्हें प्राप्त करने का विचार अथवा पूर्व प्राप्त का स्मरण भी नहीं करना चाहिए।

मनोज्ञ स्पर्श की रुचि, आसक्ति एवं लुब्धता का निषेध करने के बाद अमनोज्ञ स्पर्श के प्रति द्वेष का निषेध किया जा रहा है। साधु स्पर्शनेन्द्रिय से अमनोरम स्पर्श करके उन पर क्रोध या द्वेष नहीं करे। वे अमनोज्ञ स्पर्श कौनसे हैं? विविध प्रकार से कोई वध करे, रस्सी आदि से बांधे, थप्पड़ आदि मार कर ताडना करे, अंकन – उष्ण लोह शलाका से दाग कर अंग पर चिह्न बनावे, शक्ति से अधिक भार लादे, अंगों को तोड़े-मरोड़े, नखों में सुई चुभावे, शरीर को छीले, उबलता हुआ लाख का रस, क्षारयुक्त तेल, रांगा, शीशा और तप्त लोह रस से अंग सिंचन करे। हड्डी बंधन (खोड़े में पांव फंसा कर बन्दी बनावे) रस्सी या बेडी से बांधे, हाथों में हथकड़ी डाले, कुंभी में पकाया जाय, अग्नि में जलावे, वृक्ष आदि पर बांध कर लटकावे, शूल भोंके या शूली पर चढ़ावे, हाथी के पैरों में डाल कर कुचले, हाथ, पांव, कान, ओष्ठ, नासिका और मस्तक का छेदन करे। जीभ उखाड ले, नेत्र, हृदय और दांतों को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उखाड दे, चाबुक, बेंत या लता से प्रहार करे, पांव, एडी, घुटना और जानु आदि पर पत्थर से प्रहार करे, कोल्हु आदि में डाल कर पीलें, करेंच फल के बूर या अन्य साधन से तीव्र रूप से खुजली उत्पन्न करे, आग में तपावे या जलावे, बिच्छु के डंक लगवावे, वायु, धूप, डांस-मच्छर आदि से होने वाले कष्ट, उबड़-खाबड़ शय्या एवं आसन तथा अत्यन्त कठोर, भारी, शीत, उष्ण, रूक्ष और इस प्रकार के अन्य अनिच्छनीय एवं दुःखदायक स्पर्श होने पर साधु को उन पर द्वेष नहीं करना चाहिए। हीलना, निन्दा, गर्हा और खिंसना नहीं करनी चाहिए। क्रोधित होकर उनका छेदन-भेदन और वध नहीं करना चाहिए। उन पर घृणा भी नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय सम्बन्धी भावना से भावित आत्मा वाला साधु निर्मल होता है। उसका चारित्र विशुद्ध रहता है। मनोज्ञ या अमनोज्ञ, सुगन्धित या दुर्गन्धयुक्त पदार्थों में आत्मा को राग-द्वेष रहित रखता हुआ साधु मन वचन और काया से गुप्त एवं संवृत्त रहे और जितेन्द्रिय हो कर धर्म का आचरण करे।

मूल गुण आदि का पाठ

मूल गुण ५ महाव्रत, उत्तरगुण १० प्रत्याख्यान इन में अतिक्रम, व्यतिक्रम अतिचार अनाचार लगा हो तो तस्स (आलोऊं) मिच्छामि दुक्कडं।

अठारह पाप स्थान का पाठ

अठारह पापस्थान आलोऊँ - १. प्राणातिपात, २. मृषावाद, ३. अदत्तादान, ४. मैथुन, ५. परिग्रह, ६. क्रोध, ७. मान, ८. माया, ९. लोभ, १०. राग, ११. द्वेष, १२. कलह, १३. अभ्याख्यान, १४. पैशुन्य, १५. परपरिवाद, १६. रति-अरति, १७. माया-मृषावाद, १८. मिथ्यादर्शन शल्य। इन अठारह पापस्थानों में से किसी पाप का सेवन किया हो, सेवन कराया हो और सेवन करते हुए को भला जाना हो तो अनन्त सिद्ध केवली भगवान् की साक्षी से दिवस सम्बन्धी तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

कठिन शब्दार्थ - प्राणातिपात - जीवहिंसा-प्राणियों का वध, **मृषावाद** - झूठ, **अदत्तादान** - बिना दिये ग्रहण करना चोरी, **मैथुन** - अब्रह्मचर्य, कुशील, **परिग्रह** - मूर्च्छा, ममत्व, **क्रोध** - रोष, गुस्सा, **मान** - अहंकार, घमण्ड, **माया** - छल, कपट, **लोभ** -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लालच, तृष्णा, **राग** - माया और लोभ जन्य आत्मा का वैभाविक परिणाम, **द्वेष** - क्रोध और मान जन्य आत्मा का वैभाविक परिणाम, **कलह** - क्लेश, झगड़ा, **अभ्याख्यान** - झूठा आल देना, कलंक लगाना, **पैशुन्य** - दूसरे की चुगली करना, **पर-परिवाद** - दूसरे की निन्दा करना, **रति** - बुरे कार्यों में चित्त का लगना, **अरति** - धर्म ध्यान संयम आदि अच्छे कार्यों में चित्त का न लगना, **माया-मृषावाद** - कपट सहित झूठ बोलना, **मिथ्यादर्शनशल्य** - कुदेव, कुगुरु, कुधर्म में श्रद्धा होना अथवा अतत्त्व में तत्त्व और तत्त्व में अतत्त्व की श्रद्धा होना।

विवेचन - अठारह पापों में अठारहवाँ - मिथ्यादर्शनशल्य पाप सबसे बड़ा (भयंकर) है। ये पाप स्थान सेवन करने योग्य नहीं हैं, इनका आचरण करने से महा अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। आत्मा दुर्गति में पड़ती है। पापों का स्वरूप समझने से पाप कार्यों से बचा जा सकता है और धर्म व पुण्य के कार्य में प्रवृत्ति की जा सकती है।

शंका - परिग्रह और लोभ में क्या अन्तर है?

समाधान - प्राप्त वस्तु को ग्रहण करना और उसके प्रति ममत्व रखना परिग्रह है एवं अप्राप्त वस्तु की चाह करना लोभ है।

शंका - रति और अरति पाप का क्या स्वरूप है?

समाधान - मनोज्ञ विषयों पर राग और संयम विरुद्ध कार्यों में आनन्द मानने को 'रति' तथा अमनोज्ञ विषयों पर द्वेष और संयम संबन्धी कार्यों में उदासीनता को 'अरति' कहते हैं।

कायोत्सर्ग विशुद्धि का पाठ

काउस्सग्ग में आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान ध्याया हो, मन, वचन और काया चलित हुए हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

१२५ अतिचारों का प्रकटीकरण

कायोत्सर्ग में बोले गये पाठ **मिच्छामि दुक्कडं** सहित प्रकट बोलना।

पाँच महाव्रत

१. पढमे भंते! महव्वए सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं। द्रव्य से - छह काय जीवों की हिंसा करनी नहीं। क्षेत्र से - सम्पूर्ण लोक प्रमाण। काल से - यावज्जीवन तक, भाव से - तीन करण तीन योग से गुण से -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संवरगुण। ऐसे पहले महाव्रत की पाँच भावना - १. ईर्या भावना २. मन भावना ३. वचन भावना ४. एषणा भावना ५. आदान भाण्ड मात्र निक्षेपणा भावना। ऐसे पहले महाव्रत के विषय जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

२. दुच्चे भंते! महव्वए सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं। द्रव्य से - क्रोध से, लोभ से, भय से, हास्य से, झूठ बोलना नहीं, क्षेत्र से - सम्पूर्ण लोक प्रमाण, काल से - यावज्जीवन तक, भाव से - तीन करण तीन योग से, गुण से-संवर गुण। ऐसे दूसरे महाव्रत की पाँच भावना - १. बिना विचारे भाषा बोलना नहीं। २. क्रोध आने पर क्षमा रखना ३. लोभ आने पर संतोष करना ४. भय आने पर धैर्य रखना ५. हास्य आने पर मौन रखना। ऐसे दूसरे महाव्रत के विषय जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

३. तच्चे भंते! महव्वए सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं। द्रव्य से - देव अदत्त, गुरु अदत्त, राजा अदत्त, गाथापति अदत्त, साधर्मी अदत्त लेना नहीं, क्षेत्र से - सम्पूर्ण लोक प्रमाण, काल से - यावज्जीवन तक, भाव से - तीन करण तीन योग से, गुण से-संवर गुण। ऐसे तीसरे महाव्रत की पाँच भावना - १. अठारह प्रकार के निर्दोष स्थान याच कर लेना, बिना याचे नहीं लेना। २. तृण, काष्ठ, कंकर आदि प्रतिदिन याच कर लेना। ३. उबडखाबड स्थान को व्यवस्थित नहीं करना। ४. साधारण पिण्ड भोगना नहीं। ५. वृद्ध ग्लान, रोगी, नवदीक्षित, आचार्य, उपाध्याय आदि का विनय वैयावच्च करना, विनय भी तप है। तप भी धर्म है ऐसे तीसरे महाव्रत के विषय जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

विवेचन - १. देव् अदत्त् - तीर्थंकर देव की आज्ञा से विरुद्ध कोई भी प्रवृत्ति करना देव अदत्त है अथवा दक्षिण लोक के अधिपति शक्रेन्द्र है। परिस्थापन आदि सभी क्रियाएं उनकी आज्ञा लेकर की जाती है आज्ञा लिए बिना करने से भी देव अदत्त लगता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२. गुरु अदत्त - गुरु महाराज से पूछे बिना कोई भी काम करना, वस्त्र पात्रादि लाना, उन्हें बिना दिखाए काम में लेना आदि प्रवृत्तियाँ गुरु अदत्त कहलाती है। जिन रत्नाधिकों को आगे करके विचरते हैं। उनकी बिना आज्ञा से प्रवृत्ति करना भी गुरु अदत्त में समाविष्ट है।

३. राजा अदत्त - छह खण्ड के अधिपति राजा कहलाते हैं, उनकी बिना आज्ञा से विचरना राजा अदत्त कहलाता है।

४. गाथापति अदत्त - माण्डलिक राजा को गाथापति कहते हैं। उनकी बिना आज्ञा से उनके राज्य में विचरना गाथापति अदत्त कहलाता है। शय्यातर को भी गाथापति कहा जाता है। उनकी बिना आज्ञा से उनके मकान में रहना, पाट, पाटले, संस्तारक आदि ग्रहण करना भी गाथापति अदत्त में समाविष्ट होता है।

५. साधर्मिक अदत्त - साधर्मिक के वस्त्र, पात्र, उपधि उपकरण आदि बिना आज्ञा के ग्रहण करना, साधारण पिण्ड को बिना आज्ञा से सेवन करना इत्यादि साधर्मिक अदत्त कहलाता है।

४. चउत्थे भंते! महव्वए सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं। द्रव्य से - काम राग, स्नेह राग, दृष्टिराग रखना नहीं, देव मनुष्य तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन सेवन करना नहीं, क्षेत्र से-सम्पूर्ण लोक प्रमाण, काल से - यावज्जीवन तक, भाव से-तीन करण तीन योग से, गुण से-संवर गुण। ऐसे चौथे महाव्रत की पाँच भावना - १. स्त्री, पशु पण्डक (नपुंसक) सहित स्थानों में रहना नहीं २. स्त्री सम्बन्धी कथा वार्ता करनी नहीं। ३. स्त्री के अंगोपांगों को निरखना नहीं ४. पूर्व के कामभोगों का स्मरण करना नहीं। ५. प्रतिदिन सरस आहार करना नहीं। ऐसे चौथे महाव्रत के विषय जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

विवेचन - १. काम राग - शब्दादि इन्द्रिय विषयों का अनुराग आसक्ति राग द्वेष काम राग कहलाता है।

२. स्नेह राग - पुत्र पौत्रादि के प्रति स्नेह ममत्वादि भाव, उनके सुख समृद्धि की चाह स्नेह राग समझा जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. दृष्टि राग - विकार दृष्टि से स्त्री आदि को देखना दृष्टि राग है। अपने विचारों का आग्रह अपने मत का आग्रह येन-केन प्रकारेण व्यक्ति को पूर्व दृष्टि छुड़ाकर अपनी दृष्टि का आग्रह करना इन सब में काषायिक तीव्रता होने से इनका भी दृष्टि राग में समावेश किया जाता है। किसी के सामने जिनाज्ञानुसार यर्थात् दृष्टि रखना बिना माया से यर्थात् तत्त्व समझाना, आग्रहीपन का अभाव होने से इन्हें दृष्टि राग में नहीं लिया गया है।

५. पंचमे भंते! महव्वए सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं। द्रव्य से - सचित्त, अचित्त, मिश्र परिग्रह रखना नहीं, क्षेत्र से - सम्पूर्ण लोक प्रमाण, काल से- यावज्जीवन तक, भाव से - तीन करण तीन योग से, गुण से - संवर गुण। ऐसे पांचवें महाव्रत की पाँच भावना - १. शब्द, २. रूप, ३. गंध, ४. रस, ५. स्पर्श, इनमें अच्छे पर राग बुरे पर द्वेष करना नहीं, ऐसे पाँचवें महाव्रत के विषय जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

६. छट्ठे भन्ते! वए राइभोयणाओ वेरमणं - अशन, पान, खादिम, स्वादिम, सिक्थ मात्र, लेपमात्र, बिन्दुमात्र बासी रखा हो, रखाया हो, रखते हुए की अनुमोदना की हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

पाँच समिति

१. ईर्या समिति के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊं - द्रव्य से - छह काय के जीवों को एवं कांटे आदि को देख कर चलना। क्षेत्र से - युग मात्र भूमि को देख कर चलना। काल से - दिन में जब तक चले तब तक देख कर चलना। रात्रि में चलना नहीं किन्तु शारीरिक आदि कार्यों के लिए जाना पड़े तो रजोहरण से पूंजकर चलना। भाव से - दश बोल वर्ज कर चलना। (दश बोल - १. वाचना २. पृच्छना ३. परियट्टणा, ४. अनुप्रेक्षा ५. धर्मकथा यह पाँच प्रकार का स्वाध्याय और ६-१०. पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् रूपादि को देखते हुए चलना नहीं।)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसी पहली समिति के विषय जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

२. भाषा समिति के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊं- द्रव्य से - क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता, विकथा इन आठ बोलों का वर्जन करके भाषा बोलनी। क्षेत्र से - मार्ग में चलते हुए बोलना नहीं। काल से - एक प्रहर रात जाने के बाद सूर्योदय तक जोर-जोर से बोलना नहीं। भाव से - रागद्वेष रहित बोलना। ऐसी दूसरी समिति के विषय जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

३. एषणा समिति के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊं- द्रव्य से उद्गम के १६, उत्पादना के १६, एषणा के १० इन ४२ दोषों को वर्जकर आहार पानी आदि लेना। क्षेत्र से - आहारादि को दो कोस उपरान्त ले जाकर भोगना नहीं। काल से-पहले प्रहर के लाये हुए आहार को चौथे प्रहर में वापरना नहीं। भाव से-मांडला के पाँच दोषों को वर्जकर आहारादि वापरना। ऐसी तीसरी समिति के विषय जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

४. आदान-भाण्ड-मात्र-निक्षेपणा समिति के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊं - द्रव्य से - पोथी पाना वस्त्र पात्रादि भण्डोपकरण यतना से लेना, यतना से रखना। क्षेत्र से-इधर उधर बिखरे हुए नहीं रखना। काल से-कालोकाल प्रतिलेखन करना। भाव से - ममता मूर्च्छा रहित वापरना। ऐसी चौथी समिति के विषय जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

५. उच्चार प्रस्त्रवण खेल जल्ल सिंघाण परिट्ठावणिया समिति के विषय जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊं - द्रव्य से - स्थण्डिल दस बोल वर्जकर परठना। क्षेत्र से - ग्रामादि के निषिद्ध स्थानों में परठना नहीं। काल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से - संध्या के समय स्थण्डिल भूमि का प्रतिलेखन करना। भाव से - परठने के लिए जाते समय तीन बार 'आवस्सही' कहना परठने के पहले शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा लेना परठने की भूमि का बराबर प्रतिलेखन-प्रमार्जन करना, परठने के बाद तीन बार 'वोसिरामि' कहना पुनः आते समय तीन बार निसीहि कहना। उपाश्रय में आकर ईर्यावही का काउस्सग करना। ऐसी पांचवीं समिति के विषय जो कोई अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

तीन गुप्ति

१. मनोगुप्ति के विषय जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊं - जो मन सावद्य, सक्रिय, सकर्कश, कटुक, निष्ठुर, परुष, आस्रवकारी, छेदकर, भेदकर, परितापनकर, उद्दवणकर, भूतोपघातिक इस प्रकार मन से संरंभ, समारंभ, आरंभ करना नहीं। ऐसी मनोगुप्ति के विषय जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

विवेचन - १. सावद्य - पाप युक्त, २. सक्रिय - कायिकी आदि क्रिया युक्त, ३. सकर्कश - परुषतायुक्त, ४. कटुक - कडवा, ५. निष्ठुर - कठोर, ६. परुष - स्नेह रहित, ७. आस्रवकारी - अशुभ कर्म को ग्रहण करने वाला, ८. छेदकर - अंगादि काटने के भाव करने वाला, ९. भेदकर - अंगादि को बींधने के भाव, १०. परितापनकर - प्राणियों को संतापित करने के भाव, ११. उद्दवणकर - मारणांतिक वेदनाकारी या धन-हरणादि उपद्रवकारी, १२. भूतोपघातिक - जीवों की घात की भावना वाला।

२. वचन गुप्ति के विषय जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊं - जो वचन सावद्य, सक्रिय, सकर्कश, कटुक, निष्ठुर, पुरुष, आस्रवकारी, छेदकर, भेदकर, परितापनकर, उद्दवणकर, भूतोपघातिक इस प्रकार वचन से संरंभ, समारंभ आरंभ करना नहीं। ऐसी वचन गुप्ति के विषय जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. कायगुप्ति के विषय जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊं - बिना उपयोग से चलना, ठहरना, बैठना-सोना, लांघना, बारम्बार लांघना सभी इन्द्रियों का व्यापार करना, इस प्रकार काया से संरंभ समारंभ आरंभ करना नहीं, ऐसी काया गुप्ति के विषय जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

संलेखना के पाँच अतिचारों का पाठ

अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा झूसणा आराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोउं - इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे मा मज्झ हुज्ज मरणंते वि सड्ढा परूवणम्मि अण्णहा भावो जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

कठिन शब्दार्थ - अपच्छिम - अंतिम, **मारणांतिय** - मरण समय संबंधी, **संलेहणा**- संलेखना, **झूसणा** - सेवन करना, **आराहणा** - आराधना, **इहलोगासंसप्पओगे** - इस लोक में राजा चक्रवर्ती आदि के सुख की इच्छा की हो, **परलोगासंसप्पओगे** - परलोक में देवता इन्द्र आदि के सुख की इच्छा की हो, **जीवियासंसप्पओगे** - महिमा प्रशंसा फैलने पर बहुत काल तक जीवित रहने की इच्छा की हो, **मरणासंसप्पओगे** - कष्ट होने पर पर शीघ्र मरने की इच्छा की हो, **कामभोगासंसप्पओगे** - कामभोग की अभिलाषा की हो।

भावार्थ - अंतिम मरण समय सम्बन्धी संलेखना [कषाय और शरीर को कृश करने के लिये किया जाने वाला तप विशेष] के विषय में कोई दोष लगा हो तो आलोचना करता हूँ - १. मैंने राजा चक्रवर्ती आदि के इस लोक सम्बन्धी सुख की आकांक्षा की हो, २. देव इन्द्र आदि के परलोक सम्बन्धी सुख की आकांक्षा की हो, ३. प्रशंसा होने पर बहुत काल तक जीवित रहने की इच्छा की हो, ४. दुःख से व्याकुल हो कर शीघ्र मरने की अभिलाषा की हो तथा ५. कामभोग की अभिलाषा की हो और मृत्यु समय पर्यन्त मेरी श्रद्धा प्ररूपणा में फर्क न हो इस प्रकार दिवस सम्बन्धी कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स आलोऊं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तस्स सव्वस्स का पाठ

तस्स सव्वस्स देवसियस्स✪ अइयारस्स दुब्भासिय दुच्चिंतिय दुचिट्ठियस्स आलोयंतो पडिक्कमामि।

कठिन शब्दार्थ - **तस्स** - उस, **सव्वस्स** - सर्व, **देवसियस्स** - दिवस संबंधी, **अइयारस्स** - अतिचार की, **दुब्भासिय** - दुर्वचन, **दुचिंतिय** - दुष्ट विचार, **दुचिट्ठियस्स** - दुष्ट व्यवहार की, **आलोयंतो** - आलोचना करता हुआ।

भावार्थ - मन से बुरे विचार उत्पन्न करके, वचन से दुर्वचन बोल कर तथा काया द्वारा दुष्ट व्यवहार (प्रवृत्ति) करके दिन भर में मैंने जो अतिचार किये हैं उनकी मैं आलोचना करता हुआ पापों से निवृत्त होता हूँ।

पाँच पदों की वंदना

पहले पद श्री अर्हन्त भगवान् जघन्य बीस तीर्थंकर उत्कृष्ट एक सौ साठ तथा एक सौ सत्तर देवाधिदेवजी, उनमें वर्तमान काल में बीस विहरमानजी महाविदेह क्षेत्र में विचरते हैं। एक हजार आठ लक्षण के धारणहार चौंतीस अतिशय पैंतीस वाणी गुण कर के विराजमान, चौसठ इन्द्रों के वंदनीय पूजनीय, अठारह दोष रहित, बारह गुण सहित, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त बलवीर्य, दिव्यध्वनि, भामण्डल, स्फटिक सिंहासन, अशोकवृक्ष, कुसुमवृष्टि, देवदुन्दुभि, छत्र धरावे, चंवर बिजावे, पुरुषकार पराक्रम के धरणहार, ढाईद्वीप पन्द्रह क्षेत्र में विचरते हैं। सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के जाननहार।

ऐसे श्री अर्हन्त भगवन्त दीन दयाल महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो हे अर्हन्त भगवन्त! मेरा अपराध बारम्बार क्षमा करिये। हाथ जोड़ मान मोड़, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार वंदना नमस्कार करता हूँ।

✪ "**देवसियस्स**" के स्थान पर रात्रिक प्रतिक्रमण में "**राइयस्स**" पाक्षिक प्रतिमण में "**देवसियस्स पक्खियस्स**" चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में "**चाउम्मासियस्स**" सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में "**संवच्छरियस्स**" पाठ बोलना चाहिये ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।

आप मांगलिक हो, उत्तम हो, हे स्वामिन्! हे नाथ! आपका इस भव, परभव, भवभव में सदा काल शरणा हो।

विवेचन - अर्हन्त भगवान् के १२ गुण - इन बारह गुणों में से **अनन्त चतुष्टय** चार घाति कर्मों के क्षय से प्राप्त होते हैं और शेष आठ देवकृत होते हैं जिन्हें अष्ट महाप्रातिहार्य कहते हैं।

अशोक वृक्षः सुरपुष्पवृष्टि, र्दिव्य ध्वनिश्चारमासनं च।
भामण्डलंदुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

१. **अनन्तज्ञान** - केवलज्ञान - ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से।

२. **अनन्तदर्शन** - केवलदर्शन - दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से

३. **अनन्त चारित्र** - क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात चारित्र। यह मोहनीय कर्म के क्षय होने से प्राप्त होता है।

४. **अनंतबलवीर्य** - अनंत आत्म सामर्थ्य - यह अन्तराय कर्म के क्षय से प्राप्त होता है।

५. **दिव्यध्वनि** - तीर्थंकर भगवान् की वाणी एक योजन तक सुनाई देती है और सभी प्राणियों के लिए उनकी भाषा में परिणमती है।

६. **भामण्डल** - सूर्य से भी अधिक-प्रकाश के समान चारों और प्रकाश का घेराव।

७. **स्फटिक सिंहासन** - जिस पर तीर्थंकर (समवसरण में) विराजते हैं।

८. **अशोक वृक्ष** - जो भगवान् से १२ गुणा ऊँचा छायादार होता है।

९. **देवदुन्दुभि** - जिसे देवता आकाश में बजाते है।

१०. **कुसुमवृष्टि** - देवकृत अचित्त पुष्पों की वर्षा होती है।

११. **छत्र** - भगवान् के ऊपर एक के ऊपर एक ऐसे तीन छत्र होते हैं जो भगवान् का तीन लोक का नाथ होना सूचित करते हैं।

१२. **दो चामर** - जिसे देव दोनों और से बींजते हैं।

अठारह दोष - **पंचेव अन्तराया, मिच्छत्तमण्णाणमविरइ कामो।**
हास छग राग दोसा, णिद्दा अट्ठारस इमे दोसा॥

१. दानान्तराय २. लाभान्तराय ३. भोगान्तराय ४. उपभोगान्तराय ५. वीर्यान्तराय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

६. मिथ्यात्व ७. अज्ञान ८. अविरति ९. काम १०. हास्य ११. रति १२. अरति १३. भय १४. शोक १५. जुगुप्सा १६. राग १७. द्वेष १८. निद्रा। अर्हन्त भगवान् इन १८ दोषों से रहित होते हैं।

चौतीस अतिशय - तीर्थंकरों के अतिशय (अतिशेष) चौतीस हैं, वे इस प्रकार हैं -

१. उनके शरीर के केश, दाढ़ी, मूँछ, रोम और नख अवस्थित रहते हैं न बढ़ते हैं न घटते हैं।

२. उनका शरीर रोग रहित और निरुपलेप (रज और स्वेद रहित) होता है।

३. उनका मांस और शोणित दूध की तरह पाण्डुर (सफेद) होता है।

४. उनके उच्छ्वास निःश्वास कमल और नीलोत्पल की तरह सुगंधित होते हैं।

५. उनका आहार और निहार दोनों प्रच्छन्न होते हैं, मांस चक्षु द्वारा दृश्य नहीं होते। छद्मस्थों के दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

६. उनके आगे-आगे आकाश में धर्म चक्र चलता है।

७. उनके ऊपर आकाशगत छत्र होता है।

८. उनके प्रकाशमय श्वेतवर चामर डुलते हैं।

९. उनके आकाश जैसा स्वच्छ स्फटिकमय पादपीठ सहित सिंहासन होता है।

१०. उनके आगे-आगे आकाश में हजारों लघुपताकाओं से शोभित इन्द्रध्वज चलता है।

११. जहाँ जहाँ अर्हन्त भगवन्त ठहरते हैं, बैठते हैं वहाँ वहाँ तत्क्षण पत्रों से भरा हुआ और पल्लव से युक्त छत्र, ध्वजा, घंटा और पताका सहित अशोक वृक्ष प्रगट हो जाता है।

१२. मस्तक के कुछ पीछे तेजमंडल (भामण्डल) होता है। वह अंधकार में भी दसों दिशाओं को प्रकाशित करता है।

१३. उनके विचरने का भूमिभाग सम और रमणीय हो जाता है।

१४. कण्टक अधोमुख हो जाते हैं।

१५. ऋतुएं अनुकूल और सुखदायी हो जाती हैं।

१६. शीतल, सुखद और सुगंधित वायु योजन प्रमाण भूमि का चारों ओर से प्रमार्जन करती है।

१७. छोटी फुंआर वाली वर्षा द्वारा रज (आकाशवर्ती) और रेणु (भूवर्ती) का शमन हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१८. जल में और स्थल में उत्पन्न हुए हों ऐसे पाँच वर्ण के अचित्त फूलों की घुटने प्रमाण वर्षा होती है। फूलों के डंठल सदा नीचे की ओर रहते हैं।

१९. अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध का अपकर्ष (अभाव) होता है।

२०. मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का प्रादुर्भाव होता है।

२१. प्रवचन काल में उनका स्वर हृदयस्पर्शी और योजनगामी होता है।

२२. भगवान् अर्धमागधी भाषा में धर्म का व्याख्यान करते हैं।

२३. उनके मुख से निकली हुई अर्धमागधी भाषा सुनने वाले आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग (वन्यपशु) पशु (ग्राम्य पशु) पक्षी, सरीसर्प आदि की अपनी-अपनी हित, शिव और सुखद भाषा में परिणत हो जाती है।

२४. पूर्वबद्ध वैर वाले देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड, गन्धर्व और महोरग अर्हंत के पास प्रशान्त चित्त और प्रशान्त मन वाले होकर धर्म सुनते हैं।

२५. अन्यतीर्थिक प्रावचनिक भी पास में आने पर भगवान् को वंदन करते हैं।

२६. तीर्थंकर देव के सम्मुख अन्यतीर्थिक प्रावचनिक निरुत्तर हो जाते हैं।

२७. तीर्थंकर भगवान् जहाँ-जहाँ विहार करते हैं वहाँ-वहाँ पच्चीस योजन में ईति (धान्य आदि का उपद्रव हेतु) नहीं होती।

२८. मारी (हैजा, प्लेग) नहीं होती।

२९. स्वचक्र (अपनी सेना का उपद्रव) नहीं होता।

३०. परचक्र (दूसरे राज्य की सेना से होने वाला उपद्रव) नहीं होता।

३१. अतिवृष्टि नहीं होती।

३२. अनावृष्टि (वर्षा का अभाव) नहीं होती।

३३. दुर्भिक्ष (दुष्काल) नहीं होता।

३४. पूर्व उत्पन्न उत्पात और व्याधियाँ शीघ्र ही उपशान्त हो जाती है। (समवायाङ्ग सूत्र ३४ वाँ समवाय)

टीका में लिखा है कि २,३,४,५ ये चार अतिशय जन्मजात होते हैं। इक्कीसवें अतिशय से चौंतीसवें अतिशय तक का तथा बारहवाँ (भामंडल) ये पन्द्रह अतिशय घातीकर्मों के क्षय से उत्पन्न होते हैं। शेष अतिशय (पहला और ६ से ११ तथा १३ से २०)देवकृत होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पैंतीस सत्यवचनातिशय - तीर्थंकर देव की वाणी सत्य वचन के अतिशयों से संपन्न होती है। सत्य वचन के पैंतीस अतिशय हैं। सूत्रों में संख्या मात्र का उल्लेख मिलता है। टीका में उन अतिशयों के नाम तथा उनकी व्याख्या है। यहाँ टीका के अनुसार ये अतिशय लिखे जाते हैं -

शब्द सम्बन्धी अतिशय - **१. संस्कारवत्व** - संस्कृत आदि गुणों से युक्त होना अर्थात् वाणी का भाव और व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष होना।

२. उदात्तत्व - उदात्त स्वर अर्थात् स्वर का ऊँचा होना।

३. उपचारोपेतत्व - ग्राम्य दोषों से रहित होना।

४. गंभीर शब्दता - मेघ की तरह आवाज में गंभीरता होना।

५. अनुनादित्व - आवाज का प्रतिध्वनि सहित होना।

६. दक्षिणत्व - भाषा में सरलता होना।

७. उपनीतरागत्व - माल कोशिक आदि ग्राम राग से युक्त होना अथवा स्वर में ऐसी विशेषता होना कि श्रोताओं में व्याख्येय विषय के प्रति बहुमान के भाव उत्पन्न हो।

अर्थ सम्बन्धी अतिशय - **८. महार्थत्व** - अभिधेय अर्थ में प्रधानता एवं परिपुष्टता का होना। थोड़े शब्दों में अधिक अर्थ कहना।

९. अव्याहतपौर्वापर्यत्व - वचनों में पूर्वापर विरोध न होना।

१०. शिष्टत्व - अभिमत सिद्धान्त का कथन करना अथवा वक्ता की शिष्टता सूचित हो ऐसा अर्थ कहना।

११. असन्दिग्धत्व - अभिमत वस्तु का स्पष्टता पूर्वक कथन करना जिससे कि श्रोता के दिल में संदेह न रहे।

१२. अपहृतान्योत्तरत्व - वचन का दूषण रहित होना और इसलिए शंका समाधान का मौका न आने देना।

१३. हृदयग्राहित्व - वाच्य अर्थ को इस ढंग से कहना कि श्रोता का मन आकृष्ट हो एवं वह कठिन विषय भी सहज ही समझ जाय।

१४. देशकाल व्यतीतत्व - देश काल के अनुरूप अर्थ कहना।

१५. तत्त्वानुरूपत्व - विवक्षित वस्तु का जो स्वरूप हो उसी के अनुसार उसका व्याख्यान करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१६. अप्रकीर्णप्रसृतत्व - प्रकृत वस्तु का उचित विस्तार के साथ व्याख्यान करना अथवा असम्बन्ध अर्थ का कथन न करना एवं सम्बद्ध अर्थ का भी अत्यधिक विस्तार न करना।

१७. अन्योन्यप्रगृहीतत्व - पद और वाक्यों का सापेक्ष होना।

१८. अभिजातत्व - भूमिकानुसार विषय और वक्ता का होना।

१९.अति स्निग्ध मधुरत्व - भूखे व्यक्ति को जैसे घी गुड़ आदि परम सुखकारी होते हैं। उसी प्रकार स्नेह एवं माधुर्य परिपूर्ण वाणी का श्रोता के लिए सुखकारी होना।

२०. अपरमर्मवेधित्व - दूसरे के मर्म (रहस्य) का प्रकाश न होना।

२१. अर्थधर्माभ्यासानपेतत्व - मोक्ष रूप अर्थ एवं श्रुतचारित्र रूप धर्म से सम्बद्ध होना।

२२. उदारत्व - प्रतिपाद्य अर्थ का महान् होना अथवा शब्द और अर्थ की विशिष्ट रचना होना।

२३. परनिंदात्मोत्कर्ष विप्रयुक्तत्व - दूसरे की निंदा एवं आत्म प्रशंसा से रहित होना।

२४. उपगतश्लाघत्व - वचन में उपर्युक्त (परनिंदात्मोत्कर्षविप्रयुक्तत्व) गुण होने से वक्ता की श्लाघा-प्रशंसा होना।

२५. अनपनीतत्व - कारक, काल, वचन, लिंग आदि के विपर्यास रूप दोषों का न होना।

२६. उत्पादिताविच्छिन्नकुतूहलत्व - श्रोताओं में वक्ता विषयक निरन्तर कुतूहल बने रहना।

२७. अद्भुतत्व - वचनों के अश्रुतपूर्व होने के कारण श्रोता के दिल में हर्ष रूप विस्मय का बने रहना।

२८. अनतिविलम्बितत्व - विलम्ब रहित होना।

२९. विभ्रमविक्षेपकिलिकिंचतादि विप्रयुक्तत्व - वक्ता में मन में भ्रान्ति होना विभ्रम है। प्रतिपाद्य विषय में मन न लगना विक्षेप है। शेष भय लोभ आदि भावों के सम्मिश्रण को किलिकिंचित् कहते हैं। इनसे तथा मन के दोषों से रहित होना।

३०. विचित्रत्व - वर्णनीय वस्तुएं विविध प्रकार की होने के कारण वाणी में विचित्रता होना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३१. **आहितविशेषत्व** - दूसरे मनुष्यों की अपेक्षा वचनों में विशेषता होने के कारण श्रोताओं को विशिष्ट बुद्धि प्राप्त होना।

३२. **साकारत्व** - वर्ण, पद और वाक्यों का अलग-अलग होना।

३३. **सत्त्वपरिगृहीतत्व** - भाषा का ओजस्वी प्रभावशाली होना।

३४. **अपरिखेदित्व** - उपदेश देते हुए थकावट अनुभव न करना।

३५. **अव्युच्छेदित्व** - जो तत्त्व समझना चाहते हैं उनकी सम्यक् प्रकार से सिद्धि न हो तब तक बिना व्यवधान के उसका व्याख्यान करते रहना।

जघन्य बीस तीर्थंकर उत्कृष्ट १६० तथा १७० की गणना - एक महाविदेह में ३२ विजय हैं। उनमें से प्रत्येक ८ विजयों के पीछे एक-एक तीर्थंकर होते ही हैं, अतः एक महाविदेह में जघन्य चार तीर्थंकर होते हैं। पांच महाविदेह की अपेक्षा २० तीर्थंकर होते हैं। जब प्रत्येक विजय में एक-एक तीर्थंकर हो जाय तो कुल १६० तीर्थंकर (५ महाविदेह की अपेक्षा) हो जाते हैं। ५ भरत, ५ ऐरावत में भी यदि उस समय तीर्थंकर हो जाय तो कुल १७० तीर्थंकर हो जाते हैं।

२. दूसरे पद श्री सिद्ध भगवान् महाराज पन्द्रह भेदे अनन्त सिद्ध हुए हैं। [illegible] खपाकर मोक्ष पहुँचे हैं।

[illegible]तीर्थ सिद्ध २. अतीर्थ सिद्ध ३. तीर्थंकर सिद्ध ४. अतीर्थंकर सिद्ध ५. [illegible]बुद्ध सिद्ध ६. प्रत्येक बुद्ध सिद्ध ७. बुद्धबोधित सिद्ध ८. स्त्रीलिङ्ग सिद्ध ९. पुरुषलिङ्ग सिद्ध १०. नपुंसकलिङ्ग सिद्ध ११. स्वलिङ्ग सिद्ध १२. अन्यलिङ्ग सिद्ध १३. गृहस्थलिङ्ग सिद्ध १४. एक सिद्ध १५. अनेक सिद्ध। जहाँ जन्म नहीं, जरा नहीं, मरण नहीं, भय नहीं, रोग नहीं, शोक नहीं, दुःख नहीं, दारिद्र्य नहीं, कर्म नहीं, काया नहीं, मोह नहीं, माया नहीं, चाकर नहीं, ठाकर नहीं, भूख नहीं, तृषा नहीं, ज्योत में ज्योत विराजमान सकल कार्य सिद्ध करके चौदह प्रकारे पन्द्रह भेदे अनन्त सिद्ध भगवंत हुए हैं। १. अनन्त ज्ञान २. अनन्त दर्शन ३. अनन्त सुख ४. वीतरागता ५. अक्षय स्थिति ६. अमूर्तिक ७. अगुरुलघु ८. अनन्त आत्म सामर्थ्य, ये आठ गुण करके सहित हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे श्री सिद्ध भगवन्तजी महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो हे सिद्ध भगवन्! मेरा अपराध क्षमा करिये। हाथ जोड़ मान मोड़ शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार वन्दना नमस्कार करता हूँ।

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि णमंसामि सक्कारेमि, सम्माणेमि, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।

आप मांगलिक हो, उत्तम हो, हे स्वामिन्! हे नाथ आपका इस भव, परभव, भवभव में सदाकाल शरण हो।

विवेचन - सिद्धों के आठ गुण - १. अनन्त ज्ञान - ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से। **२. अनन्त दर्शन** - दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से। **३. अनन्त सुख** - वेदनीय कर्म के क्षय से। **४. वीतरागता** - मोहनीय कर्म के क्षय से। **५. अक्षय स्थिति** - आयुष्य कर्म के क्षय से। **६. अमूर्तिक** - नाम कर्म के क्षय से। **७. अगुरुलघु** - गोत्र कर्म के क्षय से। **८. अनन्त आत्म सामर्थ्य** - अन्तराय कर्म के क्षय से।

सिद्धों के १४ प्रकार - १. स्त्रीलिङ्ग सिद्ध २. पुरुषलिङ्ग सिद्ध ३. नपुंसकलिङ्ग सिद्ध ४. स्वलिङ्ग सिद्ध ५. अन्य लिङ्ग सिद्ध ६. गृहस्थलिङ्ग सिद्ध ७. जघन्य अवगाहना ८. मध्यम अवगाहना ९. उत्कृष्ट अवगाहना वाले सिद्ध १०. ऊर्ध्वलोक ११. अधोलोक १२. तिर्यक्लोक में होने वाले सिद्ध १३. समुद्र एवं १४. सभी पानी के स्त्रोतों (नदी तालाब आदि) से होने वाले सिद्ध। (उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३६ गाथा ४९-५०)

सिद्धों के पन्द्रह भेद - इनका विवेचन इस प्रकार हैं -

सिद्ध होने के पश्चात् सभी आत्माएं समान होती है। उनमें कोई भेद नहीं होता। किन्तु सिद्धों की सांसारिक अवस्था (पूर्वावस्था) की दृष्टि से उनमें पन्द्रह भेद माने गये हैं -

१. तीर्थ सिद्ध - साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना के पश्चात् जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की। जैसे गौतम स्वामी आदि।

२. अतीर्थ सिद्ध - चार तीर्थ की स्थापना के पहले जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की। जैसे मरुदेवीमाता। तीर्थ विच्छेद के समय सिद्ध होने वाले भी अतीर्थसिद्ध होते हैं।

३. तीर्थंकर सिद्ध - जिन्होंने तीर्थंकर की पदवी प्राप्त करके मुक्ति प्राप्त की। जैसे भगवान् ऋषभदेव आदि २४ तीर्थंकर।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४. **अतीर्थंकर सिद्ध** - जिन्होंने तीर्थंकर की पदवी प्राप्त न करके मोक्ष प्राप्त किया। जैसे गौतम अनगार आदि।

५. **स्वयंबुद्ध सिद्ध** - बिना उपदेश के पूर्व जन्म के संस्कार जागृत होने से जिन्हें ज्ञान हुआ और सिद्ध हुए। जैसे कपिल केवली आदि।

६. **प्रत्येक बुद्ध सिद्ध** - किसी पदार्थ के निमित्त से बोध प्राप्त हुआ और केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त किया। जैसे करकण्डु राजा।

७. **बुद्ध बोधित सिद्ध** - गुरु के उपदेश से ज्ञानी होकर जिन्होंने मुक्ति प्राप्त की। जैसे जम्बूस्वामी।

८. **स्त्रीलिङ्ग सिद्ध** - जैसे चन्दनबाला।

९. **पुरुषलिङ्ग सिद्ध** - जैसे अर्जुनमाली।

१०. **नपुंसकलिङ्ग सिद्ध** - भगवती सूत्र शतक २६ उद्देशक २ के आधार से पुरुष नपुंसक (जन्म से) केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध हो सकता है। जैसे गांगेय अनगार आदि।

११. **स्वलिङ्ग सिद्ध** - रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि वेषों में जिन्होंने मुक्ति पाई। जैसे जैन साधु।

१२. **अन्यलिङ्ग सिद्ध** - जैन वेष से अन्य संन्यासी आदि के वेषों में भाव संयम द्वारा केवल ज्ञान उपार्जित कर वेष परिवर्तन करने जितना समय न होने पर जिन्होंने मुक्ति पाई। जैसे वल्कलचीरी।

१३. **गृहस्थलिङ्ग सिद्ध** - गृहस्थ के वेश में जिन्होंने भाव संयम प्राप्त कर केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त की। जैसे मरुदेवी माता आदि।

१४. **एक सिद्ध** - एक समय में एक ही जीव मोक्ष में जावे। जैसे जम्बूस्वामी आदि।

१५. **अनेक सिद्ध** - एक समय में अनेक जीव मोक्ष में जावे। एक समय में उत्कृष्ट १०८ तक मोक्ष में जा सकते हैं। जैसे ऋषभदेव स्वामी आदि। (प्रज्ञापना सूत्र पद १)

३. तीसरे पद श्री आचार्यजी महाराज पांच महाव्रत पाले, पांच आचार पाले, पांच इन्द्रिय जीते, चार कषाय टाले, नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य पाले, पांच समिति, तीन गुप्ति शुद्ध आराधे। ये छत्तीस गुण करके विराजमान। आठ सम्पदा - १. आचार सम्पदा २. श्रुत सम्पदा ३. शरीर सम्पदा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४. वचन सम्पदा ५. वाचना सम्पदा ६. मति सम्पदा ७. प्रयोगमति सम्पदा ८. संग्रह परिज्ञा सम्पदा सहित हैं।

ऐसे आचार्यजी महाराज न्यायपक्षी, भद्रिक परिणामी, परम पूज्य कल्पनीय-अचित्त वस्तु के ग्रहणहार, सचित्त के त्यागी, वैरागी, महागुणी, गुणों के अनुरागी सौभागी हैं।

ऐसे आचार्यजी महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय-आशातना की हो, तो बार-बार हे आचार्यजी महाराज मेरा अपराध क्षमा करिये। हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार वन्दना नमस्कार करता हूँ।

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।

आप मांगलिक हो, उत्तम हो हे स्वामिन्! हे नाथ! आपका इस भव, परभव, भवभव में सदाकाल शरण हो।

विवेचन - आचार्य महाराज के ३६ गुणों का उल्लेख ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार से आया हैं। उनमें से एक प्रकार का उल्लेख ऊपर किया गया है। दशाश्रुतस्कंध में आचार्य महाराज की आठ सम्पदाओं का उल्लेख है। प्रत्येक सम्पदा के ४-४ भेद होने से ३२ भेद एवं शिष्यों के प्रति चार कर्त्तव्य इस प्रकार भी आचार्य के ३६ गुण कोई-कोई गिनते हैं।

४. चौथे पद श्री उपाध्यायजी महाराज ग्यारह अंग, बारह उपांग, चरणसत्तरी, करणसत्तरी इन पच्चीस गुण करके सहित। ग्यारह अंग का पाठ अर्थ सहित सम्पूर्ण जाने, १४ पूर्व के पाठक और निम्नोक्त बत्तीस सूत्रों के जानकार हैं -

ग्यारह अंग - आचाराङ्ग, सूयगडाङ्ग, ठाणाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवती (विवाहपण्णत्ति), ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदसा, अंतगडदसा, अणुत्तरोववाइय, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र।

बारह उपाङ्ग - उववाई, रायप्पसेणी, जीवाजीवाभिगम, पण्णवणा, जम्बूदीवपण्णत्ति, चंदपण्णत्ति, सूरपण्णत्ति, निरयावलिया, कप्पवडंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया, वण्हिदसा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चार मूल सूत्र - उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र। चार छेद सूत्र - दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार सूत्र और निशीथ सूत्र और बत्तीसवाँ आवश्यक सूत्र तथा अनेक ग्रंथों के जानकार सात नय, चार निक्षेप, निश्चय, व्यवहार चार प्रमाण आदि स्वमत तथा अन्यमत के जानकार मनुष्य या देवता कोई भी विवाद में जिनको छलने (जीतने) में समर्थ नहीं जिन नहीं पण जिन सरीखे हैं केवली नहीं पण केवली सरीखे हैं।

ऐसे उपाध्यायजी महाराज, मिथ्यात्वरूप अन्धकार के मेटनहार, समकित रूप उद्योत के करनहार, धर्म से डिगते प्राणी को स्थिर करे, सारए, वारए, धारए, इत्यादि अनेक गुण करके सहित हैं।

ऐसे श्री उपाध्यायजी महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो हे उपाध्यायजी महाराज! मेरा अपराध क्षमा करिये। हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार वन्दना नमस्कार करता हूँ।

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।

आप मांगलिक हो, उत्तम हो, हे स्वामिन्! हे नाथ! आपका इस भव, परभव, भवभव में सदाकाल शरण हो।

विवेचन - उपाध्याय महाराज के २५ गुणों का उल्लेख आगमों में नहीं है। कोई कोई ११ अंग एवं १४ पूर्व कुल २५, इन्हें उपाध्याय के २५ गुण कहते हैं। एक और प्रकार का उल्लेख ऊपर (पाठ में) किया गया है। यथा - ग्यारह अंग, बारह उपांग, चरणसत्तरी, करणसत्तरी, ये पच्चीस।

चरणसत्तरी के ७० भेद (मूलगुण)

वय समण-धम्म संजम वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ।
णाणाइतीय तव कोह, णिग्गहाइ चरणमेयं॥

५ महाव्रत, १० यतिधर्म, १७ प्रकार का संजम, १० प्रकार की वैयावृत्य, ९ वाड ब्रह्मचर्य की, ३ ज्ञानादि (तीन) रत्न, १२ प्रकार का तप, ४ कषाय का निग्रह इस प्रकार ये कुल ७० भेद हुए। (प्रवचन सारोद्धार द्वार ६६-६७)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करणसत्तरी के ७० भेद (उत्तरगुण)

पिण्ड विसोहि समिई, भावणा पडिमा इंदिय णिग्गहो य।
पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहं चेव करणं तु॥

४ प्रकार की पिण्डविशुद्धि (आहार, शय्या, वस्त्र, पात्र), ५ समिति, १२ भावना, १२ साधु प्रतिमा, ५ इन्द्रिय निग्रह (विजय), २५ प्रकार का प्रतिलेखन, ३ गुप्ति, ४ अभिग्रह (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) ये सब मिलाकर कुल ७० भेद हुए।

सारए – विस्मृत पाठ का स्मरण करना।

वारए – पाठ की अशुद्धि का निवारण करना।

धारए – नया पाठ धराने वाले (सिखाने वाले) या स्वयं रहस्यों को धारण करने वाले।

सात नय, चार निक्षेप तथा **चार प्रमाण** का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है –

सात नय – आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र में कहा है – **प्रमाणनयैरधिगमः।**

प्रमाण और नय से वस्तु का वास्तविक ज्ञान होता है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म(पर्याय) रहे हुए हैं। उन सबको जो एक साथ जाने उसको 'प्रमाण' कहते हैं। उस अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक अंश (पर्याय) को मुख्य रूप से जाने और दूसरे अंशों में (पर्यायों में) उदासीनता रखे उसको 'नय' कहते हैं। इस नय के दो भेद हैं – व्यास नय (विस्तृत नय) और समास नय (संक्षिप्त नय)।

नय के यदि विस्तार से भेद किये जाय तो अनन्त भेद हो सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म रहे हुए हैं और एक-एक धर्म को जानने वाला एक-एक नय होता है। जैसा कि कहा है – **"जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति नयवाया"**

अर्थात् – जितने बोलने के तरीके हैं उतने ही नय होते हैं इसलिए व्यास नय (विस्तृत नय) के अनेक भेद हैं।

समास नय (संक्षिप्त नय) के दो भेद हैं – द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

द्रव्य को मुख्य रूप से विषय करने वाला नय 'द्रव्यार्थिक नय' कहलाता है। पर्याय को मुख्य रूप से विषय करने वाला नय 'पर्यायार्थिक नय' कहलाता है।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं – नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय।

अनेक मार्गों से (तरीकों से) वस्तु का बोध कराने वाला नय 'नैगम नय' कहलाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेष धर्मों की तरफ उदासीनता रख कर सिर्फ सत्ता रूप सामान्य को ही ग्रहण करने वाला नय 'संग्रह नय' कहलाता है। संग्रह नय के द्वारा जाने हुए सामान्य रूप पदार्थों में विधिपूर्वक भेद करने वाला नय 'व्यवहार नय' कहलाता है। इसमें सामान्य गौण और विशेष मुख्य हो जाता है। क्योंकि केवल सामान्य से लोक व्यवहार चल नहीं सकता। अतः व्यवहार चलाने के लिए विशेषों की आवश्यकता होती है।

पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं - ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नय।

पदार्थ की वर्तमान क्षण में रहने वाली पर्याय को ही प्रधान रूप से विषय करने वाला अभिप्राय ऋजुसूत्र नय कहलाता है। जैसे इस समय सुख रूप पर्याय है।

काल, कारक, लिङ्ग और वचन के भेद से पदार्थ में भेद मानने वाला नय शब्द नय कहलाता है। जैसे सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु रहेगा। यह काल का भेद है। इसी तरह कारक, लिङ्ग और वचन का भेद भी समझ लेना चाहिए।

पर्यायवाचक शब्दों में निरुक्ति (व्युत्पत्ति) के भेद से अर्थ का भेद मानने वाला समभिरूढ नय कहलाता है। जैसे - ऐश्वर्य भोगने वाला इन्द्र, सामर्थ्यवाला शक्र और शत्रुओं के नगर का विनाश करने वाला पुरन्दर कहलाता है।

शब्द की प्रवृत्ति की निमित्त रूप क्रिया से युक्त शब्द का वाच्य मानने वाला नय एवंभूत नय कहलाता है। जैसे - जिस समय इन्दन (ऐश्वर्य भोग) रूप क्रिया के होने पर ही इन्द्र कहा जा सकता है। शकन (सामर्थ्य) रूप क्रिया होने पर ही शक्र कहा जा सकता है और पुरदारण (शत्रु नगर का विनाश) रूप क्रिया के होने पर ही पुरन्दर कहा जा सकता है।

नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र प्रधान रूप से (पदार्थ) का प्ररूपण करते हैं। इसलिए इन्हें अर्थ नय कहा जाता है। शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये तीन नय किस शब्द का वाच्य क्या है, यह निरूपण करते हैं अर्थात् शब्द को प्रधानता देते हैं इसलिए इन तीन को शब्द नय कहते हैं।

नयों का यह संक्षिप्त स्वरूप बतलाया गया है। विशेष जानने की इच्छावालों को प्रमाणनयतत्त्वालोक, जैन सिद्धान्त बोल संग्रह का दूसरा भाग एवं नय प्रमाण का थोकड़ा देखना चाहिए।

निक्षेप चार - पदार्थों के जितने निक्षेप हो सके उतने निक्षेप कर देने चाहिए। यदि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विशेष निक्षेप करने की शक्ति न हो तो चार निक्षेप तो अवश्य ही करना चाहिए। १. नाम निक्षेप २. स्थापना निक्षेप ३. द्रव्य निक्षेप ४. भाव निक्षेप।

१. नाम निक्षेप - लोक व्यवहार चलाने के लिए किसी दूसरे गुणादि निमित्त की अपेक्षा न रख कर किसी पदार्थ की संज्ञा रखना नाम निक्षेप है। जैसे किसी बालक का नाम महावीर रखना। यहाँ बालक में वीरता आदि गुणों का ख्याल किये बिना ही महावीर शब्द का संकेत किया है। कई नाम गुण के अनुसार भी होते हैं। किन्तु नाम निक्षेप गुण की अपेक्षा नहीं रखता।

२. स्थापना निक्षेप - प्रतिपाद्य वस्तु के सदृश अथवा विसदृश आकार वाली वस्तु में प्रतिपाद्य वस्तु की स्थापना करना स्थापना निक्षेप कहलाता है। जैसे जम्बूद्वीप के चित्र को जम्बूद्वीप कहना या शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़ा, वजीर आदि कहना।

३. द्रव्य निक्षेप - किसी भी पदार्थ की भूत और भविष्यत् कालीन पर्याय के नाम का वर्तमान काल में व्यवहार करना द्रव्य निक्षेप है। जैसे राजा के मृतक शरीर में 'यह राजा था' इस प्रकार भूतकालीन पर्याय का व्यवहार करना अथवा भविष्य में राजा होने वाले युवराज को राजा कहना।

कोई शास्त्रादि का ज्ञाता जब उस शास्त्र के उपयोग से शून्य होता है। तब उसका ज्ञान द्रव्य ज्ञान कहलाता है।

'अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात्'

अर्थात् उपयोग न होना द्रव्य है। जैसे सामायिक का ज्ञाता जिस समय सामायिक में उपयोग से शून्य है, उस समय उसका सामायिक ज्ञान द्रव्य सामायिक ज्ञान कहलायेगा।

४. भाव निक्षेप - पर्याय के अनुसार वस्तु में शब्द का प्रयोग करना भाव निक्षेप है। जैसे राज्य करते हुए मनुष्य को राजा कहना। सामायिक उपयोग वाले को सामायिक का ज्ञाता कहना। इन चार निक्षेपों में से नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप और द्रव्य निक्षेप ये तीनों निक्षेप वंदनीय नहीं है। किन्तु एक भाव निक्षेप ही वंदनीय है।

प्रमाण चार - १. प्रत्यक्ष २. अनुमान ३. उपमान ४. आगम।

१. प्रत्यक्ष - इसमें व्याकरण की दृष्टि से दो शब्द आते हैं - प्रति+अक्ष। प्रति का अर्थ है तरफ या सम्बन्ध और अक्ष का अर्थ है आत्मा। जिसका सम्मिलित अर्थ यह हुआ कि - जो आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध रखता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। न्याय ग्रन्थों में इसके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दो भेद कर दिये हैं - सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक के दो भेद हैं - विकल और सकल। अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान को विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं और केवलज्ञान को सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं। अक्ष का अर्थ इन्द्रिय भी होता है। यह इन्द्रियजन्यज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है। इसके दो भेद हैं - इन्द्रियजन्य और अनिन्द्रियजन्य। मन से होने वाला ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है और श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहलाता है। निष्कर्ष यह हुआ कि - निश्चय में तो अवधिज्ञान, मन:पर्यवज्ञान और केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है। व्यवहार में मन से तथा इन्द्रियों की सहायता से होने वाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहलाता है।

२. **अनुमान** - हेतु को देख कर व्याप्ति का स्मरण करने के पश्चात् जिससे पदार्थ का ज्ञान होता है, उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। जैसे दूर से किसी जगह पर उठते हुए धूएं को देख कर यह ज्ञान करना कि यहाँ पर अग्नि होनी चाहिए क्योंकि जहाँ-जहाँ धूआं होता है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य होती है। जैसा कि - रसोई घर में देखा था कि वहाँ धूआँ था तो अग्नि भी थी। जलाशय में धुआं नहीं होने से अग्नि भी नहीं होती है।

३. **उपमान** - जिसके द्वारा सदृशता से (समानता से) उपमेय (उपमा देने योग्य) पदार्थों का ज्ञान होता है उसे उपमान प्रमाण कहते हैं। जैसे गवय (रोझ - एक जंगली जानवर नील गाय) गाय के समान होता है।

४. **आगम** - आगम शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है -

"गुरुपारम्पर्येण गच्छति इति आगमः।"

अर्थ - जो ज्ञान गुरु परम्परा से प्राप्त होता रहता है उसे आगम कहते हैं। आगम शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है - **"आ-समन्ताद् गम्यन्ते - ज्ञायन्ते जीवादयाः पदार्था अनेनेति आगमः। सर्वे गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः।"**

गति (चलना) अर्थ में जितनी धातुएं आती हैं, उन सबका ज्ञान अर्थ भी हो जाता है।

इसलिए आगम शब्द का यह अर्थ हुआ कि जिससे जीवादि पदार्थ का ज्ञान प्राप्त हो उसे आगम कहते हैं। न्याय ग्रन्थ में कहा है कि -

जीवादि पदार्थों का जैसा स्वरूप है वैसा जाने और जैसा जानता है वैसा ही कथन (प्ररूपणा) करता हैं उसे आप्त कहते हैं। केवलज्ञानी को परमोत्कृष्ट आप्त कहते हैं। उनके वचनों से प्रकट करने वाले वचन को आगम कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५. पांचवे पद 'णमो लोए सव्वसाहूणं' ढाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र रूप लोक में सर्व साधुजी महाराज जघन्य दो हजार करोड उत्कृष्ट नव हजार करोड जयवन्ता विचरे। पाणाइवायाओ वेरमणं, मुसावायाओ वेरमणं, अदिण्णादाणाओ वेरमणं, मेहुणाओ वेरमणं, परिग्गहाओ वेरमणं, सोइंदिय निग्गहे, चक्खिंदिय निग्गहे, घाणिंदिय निग्गहे, जिब्भिंदिय निग्गहे, फासिंदिय निग्गहे, कोहविवेगे, माणविवेगे, मायाविवेगे, लोहविवेगे, भावसच्चे, करणसच्चे, जोगसच्चे, खमा, विरागया, मणसमाहरणया, वयसमाहरणया, काय समाहरणया, णाणसंपण्णया, दंसणसंपण्णया, चरित्तसंपण्णया, वेयण-अहियासणया, मारणंतियअहियासणया, ऐसे सत्ताईस गुण करके सहित हैं। पाँच आचार पाले, छहकाय की रक्षा करे, सात भय छोड़े, आठ मद छोड़े, नववाड सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य पाले, दस प्रकारे यति धर्म धारे, बारह भेदे तपस्या करे, सतरह भेदे संयम पाले, अठारह पापों को त्यागे, बाईस परीषह जीते, तीस महामोहनीय कर्म निवारे, तेतीस आशातना टाले, बयालीस दोष टालकर आहार पानी आदि लेवे, ४७ दोष टालकर भोगे, बावन अनाचार टाले, बुलाया आवे नहीं, नेतिया जीमे नहीं, सचित्त के त्यागी, अचित्त के भोगी, लोच करे, नंगे पैर चले इत्यादि कायाक्लेश करे और मोह ममता रहित हैं।

ऐसे मुनिराज महाराज आपकी दिवस सम्बन्धी अविनय आशातना की हो तो हे मुनिराज महाराज! मेरा अपराध क्षमा करिये। हाथ जोड़, मान मोड़, शीश नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से १००८ बार वंदना नमस्कार करता हूँ।

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेमि वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।

आप मांगलिक हो, उत्तम हो, हे स्वामिन्! हे नाथ! आपका इस भव, परभव, भवभव में सदाकाल शरण हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दोहा - अनन्त चौबीसी जिन नमूं, सिद्ध अनन्ता करोड़ ।
केवलज्ञानी गणधरा वन्दूं बे कर जोड़ ॥ १ ॥
दोय करोड़ केवलधरा, विहरमान जिन बीस ।
सहस्त्र युगल कोड़ी नमूं, साधु नमूं निश दीस ॥ २ ॥
धन साधु धन साध्वी, धन धन है जिन धर्म ।
ये समर्या पातक झरे, टूटे आठों कर्म ॥ ३ ॥
अरहंत सिद्ध समरूँ सदा, आचारज उवज्झाय ।
साधु सकल के चरण को, वन्दूं शीश नमाय ॥ ४ ॥
अंगूठे अमृत बसे, लब्धि तणा भण्डार ।
श्री गुरु गौतम समरिये, वांछित फल दातार ॥ ५ ॥

चौरासी लाख जीवयोनि का पाठ

सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेउकाय, सात लाख वायुकाय, दस लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण वनस्पतिकाय, दो लाख बेइन्द्रिय, दो लाख तेइन्द्रिय, दो लाख चउरिन्द्रिय, चार लाख नारकी, चार लाख देवता, चार लाख तिर्यंच पंचेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य। ऐसे चार गति में चौरासी लाख जीव योनि के सूक्ष्म बादर पर्याप्त अपर्याप्त जीव में से किसी जीव को हलते-चलते, उठते-बैठते, सोते-जागते हनन किया हो, कराया हो, हनता प्रति अनुमोदन किया हो छेदा हो भेदा हो, किलामणा उपजाई हो तो मन वचन काया करके अठारह लाख चौबीस हजार एक सौ बीस (१८२४१२०) प्रकारे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

विवेचन - १८२४१२० प्रकार की गणना जीव के ५६३ भेदों को '**अभिहया वत्तिया**' आदि दस विराधना से गुणा करने पर ५६३० भेद होते हैं। फिर इनको राग और द्वेष के साथ दुगुणा करने से ११२६० भेद बनते हैं। फिर इनको तीन करण तीन योग से गुणा करने पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१०१३४० भेद बनते हैं। फिर इनको तीन काल से गुणा करने पर ३०४०२० भेद हो जाते हैं। फिर इनको पंच परमेष्ठी और आत्मा इन छह से गुणा करने पर १८२४१२० प्रकार बनते हैं। कहीं पर पंच परमेष्ठी और आत्मा इन छह के स्थान पर दिन में, रात्रि में, अकेले में अथवा समूह में सोते और जागते इन छह से गुणा किया है। ५६३×१०×२×३×३×३×६ = १८२४१२०

देवसियादि प्रायश्चित्त का पाठ

देवसिय - पायच्छित्त - विसोहणत्थं करेमि काउस्सग्गं।

कठिन शब्दार्थ - **देवसिय** - दिवस सम्बन्धी, **पायच्छित्त** - प्रायश्चित्त की, **विसोहणत्थं**- विशुद्धि के लिये, **करेमि** - करता हूँ, **काउस्सग्गं** - कायोत्सर्ग।

भावार्थ - मैं दिवस संबंधी प्रायश्चित्त की शुद्धि के लिये कायोत्सर्ग करता हूं।

समुच्चय पच्चक्खाण का पाठ

गंठिसहियं, मुट्ठिसहियं, णमुक्कारसहियं, पोरिसियं, साड्ढपोरिसियं, तिविहं पि, चउविहं पि आहारं, असणं, पाणं, खाइमं, साइमं (अपनी अपनी धारणा प्रमाणे पच्चक्खाण), अण्णत्थणाभोगेणं, सहसागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

कठिन शब्दार्थ - **गंठिसहियं** - गांठ सहित यानी जब तक गांठ बंधी रखू तब तक, **मुट्ठिसहियं** - मुट्ठी सहित यानी जब तक मैं मुट्ठी बंद रखू तब तक, **णमुक्कारसहियं** - नमस्कार सूत्र बोल कर सूर्योदय से लेकर एक मुहूर्त्त (४८ मिनिट) तक का त्याग, **पोरिसियं**- एक प्रहर (दिन का चौथा भाग) का त्याग, **साड्ढपोरिसियं** - डेढ पोरसिका, **वोसिरामि** - त्याग करता हूँ।

भावार्थ - जब तक गांठ बंधी रखूं तब तक या मुट्ठी बंद रखूं तब तक या सूर्योदय से ४८ मिनिट तक या एक पहर तक या डेढ़ पहर तक अशन, पान, खादिम, स्वादिम, इन तीनों या चारों प्रकार के आहारों का आगार रख कर त्याग करता हूँ। आगार हैं - प्रत्याख्यान का उपयोग न रहने से या अकस्मात् कुछ खाने पीने में आ जाय अथवा गुरुजनों की आज्ञा से कुछ खाना पीना पड़ें तो मेरे आगार है तथा स्वस्थ अवस्था में मेरे यह त्याग है अस्वस्थ होने पर आवश्यक औषधि अनुपान आदि का मेरे आगार है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण का समुच्चय का पाठ

पहला सामायिक, दूसरा चौवीसत्थव, तीसरा वंदना, चौथा प्रतिक्रमण, पाँचवां कायोत्सर्ग छट्ठा प्रत्याख्यान, ये छहों आवश्यक पूर्ण हुए। उनमें अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार जानते अनजानते कोई दोष लगा हो तो तथा पाठ का उच्चारण करते समय काना, मात्रा, अनुस्वार, पद, अक्षर, ह्रस्व, दीर्घ, न्यूनाधिक विपरीत कहा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण, अव्रत का प्रतिक्रमण, प्रमाद का प्रतिक्रमण, कषाय का प्रतिक्रमण, अशुभ योग का प्रतिक्रमण इन पाँच प्रतिक्रमण में से कोई प्रतिक्रमण न किया हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

शम, संवेग निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था, ये व्यवहार समकित के पाँच लक्षण हैं इनको मैं धारण करता हूँ।

भूतकाल का प्रतिक्रमण, वर्तमान काल का संवर, भविष्यकाल का प्रत्याख्यान इनमें जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

देव अरहंत, गुरुनिर्ग्रन्थ, केवलिभाषित दयामय धर्म ये तीन तत्त्व सार, संसार असार, भगवंत महाराज आपका मार्ग सत्य है, सत्य है। थव थुई मंगलम्।

श्रमण प्रतिक्रमण की विधि

क्षेत्र शुद्धि - सर्व प्रथम गुरुजनों को वन्दना करके दो चतुर्विंशतिस्तव करना। पहले में **'दो इच्छाकारेणं'** एवं दूसरे में **'चार लोगस्स'** का कायोत्सर्ग करना।

क्षेत्र शुद्धि - के पाठों के नाम व क्रम इस प्रकार है - नमस्कार सूत्र, इच्छाकारेणं, तस्स उत्तरी, ध्यान दो इच्छाकारेणं, कायोत्सर्ग विशुद्धि का पाठ, लोगस्स और दो नमोत्थुणं।

दूसरे में - इच्छाकारेणं, तस्स उत्तरी, ध्यान - चार लोगस्स, कायोत्सर्ग विशुद्धि का पाठ, लोगस्स और दो नमोत्थुणं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसके बाद आवश्यक प्रारम्भ होता है - **प्रतिक्रमण प्रारंभ** - इच्छामि णं भंते, नमस्कार सूत्र।

पहले आवश्यक की आज्ञा - करेमि भंते, इच्छामि ठामि, तस्सउत्तरी, १२५ अतिचार का काउस्सग्ग (ध्यान) कायोत्सर्ग विशुद्धि का पाठ बोलना।

कायोत्सर्ग के पाठ - ज्ञानातिचार (आगमे तिविहे), दर्शनातिचार (अरहंतो महदेवो, छह काय की यतना, पच्चीस भावना व रात्रि भोजन, पाँच समिति तीन गुप्ति, संलेखना, समुच्चय पाठ, अठारह पापस्थान।

दूसरे आवश्यक की आज्ञा - प्रकट लोगस्स बोलना।

तीसरे आवश्यक की आज्ञा - दो खमासमणो देना।

(खमासमणो की विधि आवश्यक सूत्र पृ० ४८-५० पर दी है।)

चौथे आवश्यक की आज्ञा - कायोत्सर्ग में बोला गया पाठ **'मिच्छामि दुक्कडं'** सहित खुला बोलना अर्थात् **आगमे तिविहे, अरहंतो महदेवो, छह काय की यतना, ५ महाव्रत, रात्रि भोजन विरमण, पांच समिति तीन गुप्ति, संलेखना १२५ अतिचारों का समुच्चय पाठ, मूलगुण आदि पाठ। अठारह पापस्थान तथा तस्स सव्वस्स का पाठ।** इसके बाद श्रमण-सूत्र की आज्ञा लेना। इस समय गुरुजनों को वंदना करना। फिर दाहिना (जीमणा) घुटना खड़ा रखते हुए ये पाठ बोलना - **नमस्कार सूत्र, करेमि भंते, चत्तारि मंगलं, इच्छामि पडिक्कमिउं, आलोचना सूत्र, ज्ञानातिचार सूत्र, दर्शन सम्यक्त्व का पाठ, श्रमण सूत्र के पाँचों पाठ, क्षमापना सूत्र** फिर **द्वादशावर्त्त गुरु वंदन सूत्र** बोलना। **पांच पदों की वंदना, अनन्त चौबीसी** आदि दोहे, **आयरिय उवज्झाए आदि तीन गाथाएं, चौरासी लाख जीवयोनि, अठारह पाप स्थान।**

पाँचवें आवश्यक की आज्ञा - प्रायश्चित्त का पाठ, नमस्कार सूत्र, इच्छामि ठामि, तस्स उत्तरी, यथायोग्य ✪ लोगस्स का कायोत्सर्ग, कायोत्सर्ग विशुद्धि का पाठ, प्रकट लोगस्स, दो खमासमणो।

छठे आवश्यक की आज्ञा - गुरुदेव को वंदना कर बड़ों से प्रत्याख्यान करना, प्रतिक्रमण का समुच्चय पाठ बोल कर दो णमोत्थुणं देना फिर गुरुजनों को वंदन करना।

✪ देवसिय और राइय प्रतिक्रमण में चार लोगस्स, पक्खिय १२, चाउम्मासिय २०. सांवच्छरिय ४०. लोगस्स का कायोत्सर्ग करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संस्तार-पौरुषी सूत्र

अणुजाणह परमगुरु! गुरु गुण-रयणेहिं मंडिय सरीरा।
बहु पडिपुन्ना पोरिसि, राइय संथारए ठामि॥१॥

(संथारा के लिए आज्ञा) हे श्रेष्ठ गुण रत्नों से अलंकृत परम गुरु! आप मुझे संथारा करने की आज्ञा दीजिए। एक प्रहर परिपूर्ण बीत चुका है, इसलिए मैं रात्रि-संथारा करना चाहता हूँ।

अणुजाणह संथारं, बाहुवहाणेण वामपासेणं।
कुक्कुडि-पायपसारण, अतरंत पमज्जए भूमिं॥२॥
संकोइय संडासा, उवट्टंते काय-पडिलेहा।
दव्वाई-उवओगं, ऊसासनिरुंभणालोए॥३॥

(संथारा करने की विधि) मुझको संथारा की आज्ञा दीजिये। (संथारा की आज्ञा देते हुए गुरु उसकी विधि का उपदेश देते हैं) मुनि बाईं भुजा को तकिया बनाकर बाईं करवट से सोवे और मुर्गी की तरह ऊंचे पाँव करके सोने में यदि असमर्थ हो तो भूमि का प्रमार्जन कर उस पर पांव रखे।

दोनों घुटनों को सिकोड कर सोवे। करवट बदलते समय शरीर की प्रतिलेखना करे। जागने के लिए द्रव्यादि के द्वारा आत्मा का चिंतन करे - 'मैं कौन हूँ और कैसा हूँ?' इस प्रश्न का चिंतन करना द्रव्य चिन्तन है। तत्त्वतः मेरा क्षेत्र कौनसा है? यह विचार करना क्षेत्र चिंतन है। मैं प्रमाद रूप रात्रि में सोया पड़ा हूँ अथवा अप्रमत्त भाव रूप दिन में जागृत हूँ। यह चिंतन काल चिंतन है। मुझे इस समय लघु शंका आदि द्रव्य बाधा और रागद्वेष आदि भाव बाधा कितनी है? यह विचार करना भाव चिंतन है। इतने पर भी यदि अच्छी तरह निद्रा दूर न हो तो श्वास को रोक कर उसे दूर करे और द्वार का अवलोकन करे अर्थात् दरवाजे की ओर देखे।

चत्तारि मंगलं - अरहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं।
साहु मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं॥४॥

चार मंगल है, अर्हन्त भगवान् मंगल है, सिद्ध भगवान् मंगल है, पाँच महाव्रतधारी साधु मंगल है, केवलज्ञानी का कहा हुआ अहिंसा आदि धर्म मंगल है।

चत्तारि लोगुत्तमा - अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा।
साहु लोगुत्तमा, केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो॥५॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चार संसार में उत्तम हैं, अर्हन्त भगवान् उत्तम है, सिद्ध भगवान् उत्तम है, साधु-मुनिराज उत्तम है, केवली का कहा हुआ धर्म उत्तम है।

चत्तारि सरणं पवज्जामि - अरहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि।
साहु सरणं पवज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि॥६॥

चारों की शरण अंगीकार करता हूँ - अर्हन्तों की शरण अंगीकार करता हूँ, सिद्धों की शरण अंगीकार करता हूँ। साधुओं की शरण अंगीकार करता हूँ, केवली द्वारा प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार करता हूँ।

जइ मे हुज्ज पमाओ, इमस्स देहस्सिमाइ रयणीए।
आहारमुवहिदेहं, सव्वं तिविहेण वोसिरियं॥७॥

(नियम सूत्र) यदि इस रात्रि में मेरे इस शरीर का प्रमाद हो अर्थात् मेरी मृत्यु हो तो आहार, उपधि - उपकरण और देह का मन, वचन और काया से त्याग करता हूँ।

पाणाइवायमलियं, चोरिक्कं मेहुणं दविणमुच्छं।
कोहं माणं मायं, लोह पिज्जं तहा दोसं॥८॥
कलहं अब्भक्खाणं, पेसुन्नं रइ-अरइ समाउत्ता।
पर परिवायं माया मोसं, मिच्छत्तसल्लं च॥९॥
वोसिरसु इमाइं, मुक्खमग्ग संसग्गविग्घभूआइं।
दुग्गइ-निबंधणाइं, अट्ठारस पावठाणाइं॥१०॥

(पाप स्थान का त्याग) हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान - मिथ्यादोषारोपण, पैशन्य - चुगली, रति-अरति, परपरिवाद, मायामृषावाद, मिथ्यादर्शनशल्य।

ये अठारह पाप स्थान मोक्ष के मार्ग में विघ्न रूप हैं बाधक हैं। इतना ही नहीं दुर्गति के कारण भी हैं। अत एव सभी पापस्थानों का मन, वचन और शरीर से त्याग करता हूँ।

एगोहं नत्थि मे कोई, नाहमन्नस्स कस्सइ।
एवं अदीणमणसो, अप्पाणमणुसासइ॥११॥
एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसण-संजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥१२॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संजोग मूला जीवेण, पत्ता दुक्ख-परंपरा।
तम्हा संजोग-संबंध, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं॥१३॥

(एकत्व और अनित्य भावना) मुनि प्रसन्न चित्त से अपने आपको समझता है कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी दूसरे का नहीं हूँ।

- सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन उपलक्षण से सम्यक् चारित्र से परिपूर्ण मेरी आत्मा ही शाश्वत है, सत्य सनातन है, आत्मा के सिवाय अन्य सब पदार्थ संयोगमात्र से मिले हैं।

जीवात्मा ने आज दिन तक दुःख परम्परा प्राप्त की है वह सब पर पदार्थों के संयोग से ही प्राप्त हुई है। अतएव मैं संयोग-सम्बन्ध का सर्वथा परित्याग करता हूँ।

खमिअ खमाविअ मइ खमह, सव्व जीव-निकाय।
सिद्धह साख आलोयणह, मुज्झह वइर न भाव॥१४॥
सव्वे जीवा कम्मस्स, चउदह-राज भमंत।
ते मे सव्व खमाविआ, मुज्झ वि तेह खमंत॥१५॥

(क्षमापना) हे जीव गण! तुम सब खमतखामणा करके मुझ पर क्षमा भाव करो। सिद्धों की साक्षी रख कर आलोचना करता हूँ कि मेरा किसी से भी वैरभाव नहीं है।

सभी जीव कर्मवश चौदह राजु प्रमाण लोक में परिभ्रमण करते हैं, उन सबको मैंने खमाया है, अत एव वे सब मुझे भी क्षमा करें।

जं जं मणेण बद्धं, जं जं वाएण भासियं पावं।
जं जं कारण कयं, तस्स मिच्छामि दुक्कडं॥१६॥

(मिच्छामि दुक्कडं) मैंने जो जो पाप मन से संकल्प द्वारा बांधे हो, वाणी से पाप मूलक वचन बोले हों और शरीर से पापाचरण किया हो, वह सब पाप मेरे लिए मिथ्या हो।

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं॥
एसो पंच-णम्मुकारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं॥

श्री अर्हंतों को नमस्कार हो, श्री सिद्धों को नमस्कार हो, श्री आचार्यों को नमस्कार हो, श्री उपाध्यायों को नमस्कार हो, लोक में सब साधुओं को नमस्कार हो।

यह पाँच पदों को किया हुआ नमस्कार, सब पापों का सर्वथा नाश करने वाला है और संसार के सभी मंगलों में प्रथम अर्थात् भाव रूप मुख्य मंगल है।

॥ इति संस्तार पौरुषी सूत्र समाप्त॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रत्नाधिकों को खमाने का पाठ

इच्छामि खमासमणो! अब्भुट्ठिओमि अब्भिंतर देवसिय खामेऊं जं किंचि अपत्तियं परपत्तियं भत्ते पाणे विणए वेयावच्चे आलावे संलावे उच्चासणे समासणे अंतरभासाए उवरिभासाए जं किंचि मज्झ विणय-परिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह अहं ण जाणामि तस्स मिच्छामि दुक्कडं (ग्राहंमवि तुब्भे खमामि)।

कठिन शब्दार्थ - **अब्भुट्ठिओमि** - मैं तैयार (तत्पर, सावधान) हुआ हूँ, **अब्भिंतर-देवसिय** - दिवस के अन्दर होने वाले अतिचारों की, **अपत्तियं** - अप्रीति, **परपत्तियं** - विशेष अप्रीति, **विणए** - विनय सत्कार में, **वेयावच्चे** - वैयावृत्य - सेवा करने में, **उच्चासणे**- ऊँचा आसन, **समासणे** - समान आसन, **अंतरभासाए** - बीच बीच में बोलने से, **उवरिभासाए**- अधिक बोलने से, **विणय** - विनय में, **परिहीणं** - हीनता हुई, **सुहुमं** - सूक्ष्म रूप में, **बायरं** - बादर रूप में, **जाणामि** - जानता हूँ।

भावार्थ - हे क्षमाश्रमण गुरुदेव! मैं क्षमापना चाहता हूँ। आज दिन भर में होने वाले अतिचारों को खमाने के लिए मैं तैयार हूँ। आज जो कुछ भी सामान्य या विशेष रूप से अप्रीति हुई हो या दूसरों के निमित्त से अप्रीति हुई हो। वह अप्रीति किस-किस विषय में हो सकती है जैसे - आहार पानी में, गुरु आदि के आने पर उठने आदि रूप विनय सत्कार में, औषध, पथ्य आदि देने पर सहायता सेवा करने में, एक बार बोलने से या बार-बार विशेष बोलने से, गुरु आदि से ऊंचा आसन करने से, गुरु आदि के समान बराबर आसन करने से, रत्नाधिकों के बोलने के समय बीच-बीच में बोलने से तथा रत्नाधिकों के बात करने के बाद उनसे अधिक बोलने से। इस प्रकार सामान्य रूप से थोड़े (छोटे) रूप में या बड़े रूप में मेरे द्वारा शिक्षादि के पालन नहीं करने रूप से जो कुछ भी विनय हीनता हुई हो, वह आप जानते हो, मंदमति होने से मैं नहीं जानता हूँ। मैं अपने उन दोषों को स्वीकार करने व खमाने रूप से मेरे वे सब पाप निष्फल हो।

शिष्य के इस प्रकार खमाने पर गुरुदेव भी कहते हैं, मैं भी आपको (शिष्यों) को खमाता हूँ।

॥ प्रथम परिशिष्ट समाप्त ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट द्वितीय

श्रावक आवश्यक सूत्र

श्रावक आवश्यक (प्रतिक्रमण) में वर्तमान में निम्न पाठ बोलने की विधि है -

१. नमस्कार सूत्र २. तिक्खुत्तो ३. इच्छाकारेणं ४. तस्स उत्तरी ५. लोगस्स ६. कायोत्सर्ग विशुद्धि का पाठ ७. करेमि भंते ८. नमोत्थुणं ९. इच्छामि णं भंते १०. इच्छामि ठामि ११. आगमे तिविहे १२. दर्शन सम्यक्त्व १३. बारह स्थूल १४. छोटी संलेखना १५. अठारह पापस्थान १६. इच्छामि खमासमणो १७. बारह व्रतों के अतिचार सहित सम्पूर्ण पाठ १८. बड़ी संलेखना १९. पच्चीस मिथ्यात्व २०. चौदह सम्मूर्च्छिम स्थान का पाठ २१. चत्तारिमंगलं २२. शय्या सूत्र २३. गोचर चर्या सूत्र २४. काल प्रतिलेखना सूत्र २५. तेतीस बोल २६. निर्ग्रन्थ प्रवचन २७. पाँच पदों की वंदना २८. अनंत चौबिसी आदि दोहे २९. आयरिय उवज्झाय ३०. चौरासी लाख जीव योनि ३१. क्षमापना का पाठ ३२. प्रायश्चित्त का पाठ ३३. पच्चक्खाण का पाठ ३४. प्रतिक्रमण का समुच्चय पाठ।

जो पाठ पूर्व में आवश्यक सूत्र अथवा परिशिष्ट एक में आ चुके हैं उनके अलावा शेष पाठ क्रमशः इस प्रकार है -

इच्छामि णं भंते का पाठ

इच्छामि णं भंते के पाठ से गुरुदेव से दिवस संबंधी प्रतिक्रमण करने की आज्ञा मांगी जाती है और दिवस संबंधी ज्ञान, दर्शन, चारित्राचरित्र और तप में लगे अतिचारों का चिंतन करने के लिए-भूलों को समझने के लिए काउस्सग्ग की इच्छा की जाती है।

इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे देवसियं ❁ पडिक्कमणं

❁ जहाँ जहाँ **'देवसियं'** शब्द आवे वहां वहां **देवसियं** के स्थान पर रात्रिक प्रतिक्रमण में **"राइयं"**, पाक्षिक में **'देवसियं पक्खियं'**, चातुर्मासिक में **'चाउम्मासियं'** और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में **"संवच्छरियं"** शब्द बोलना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ठाएमि देवसिय ❀ णाण-दंसण-चरित्ताचरित्त-तव-अइयार चिंतणत्थं ✡ करेमि काउस्सग्गं।

कठिन शब्दार्थ - इच्छामि - इच्छा करता हूँ, **णं** - अव्यय है, वाक्य अलंकार में आता है, **भंते!** - हे पूज्य! हे भगवन्!, **तुब्भेहिं** - आपकी, **अब्भणुण्णाए समाणे** - आज्ञा मिलने पर, **देवसियं** - दिवस सम्बन्धी, **पडिक्कमणं** - प्रतिक्रमण को, **ठाएमि** - करता हूँ, **देवसिय** - दिन सम्बन्धी, **णाण** - ज्ञान, **दंसण** - दर्शन, **चरित्ताचरित्त** - चारित्राचारित्र - देशचारित्र, **तव** - तप, **अइयार** - अतिचार, **चिंतणत्थं** - चिन्तन करने के लिए, **करेमि** - करता हूँ, **काउस्सग्गं** - कायोत्सर्ग को।

भावार्थ - हे पूज्य! मैं आपके द्वारा आज्ञा मिलने पर दिवस संबंधी प्रतिक्रमण करता हूँ। दिवस संबंधी ज्ञान, दर्शन, चारित्र (देश) और तप के अतिचार का चिंतन करने के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ।

विवेचन - "इच्छामि णं भंते" का पाठ प्रतिक्रमण की आज्ञा लेने का पाठ है। इसमें प्रतिक्रमण करने की और ज्ञान दर्शन चारित्र में लगे अतिचारों का चिन्तन करने के लिए कायोत्सर्ग करने की प्रतिज्ञा की जाती है।

चरित्ताचरित्त - "**चारित्राचरित्र**" देशव्रत अर्थात् श्रावक के व्रतों को चरित्ताचरित्त कहा है क्योंकि पापों का सर्वथा त्याग करना चारित्र कहलाता है। श्रावक के मिथ्यात्व का तो सर्वथा त्याग होता है और बाकी पापों का त्याग देश अर्थात् अंश रूप से होता है इसलिये इसे चारित्राचारित्र - संयमासंयम कहते हैं।

प्रतिज्ञा सूत्र (करेमि भंते का पाठ)

करेमि भंते! सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियमं+ पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। (हरिभद्रीयावश्यक पृष्ठ ४५४)

✡ पाठान्तर - **चिंतवणत्थं**

❀ जहाँ जहाँ '**देवसिय**' शब्द आवे वहां वहां "**देवसिय**" के स्थान पर रात्रिक प्रतिक्रमण में "**राइय**", पाक्षिक में "**देवसिय पक्खिय**", चातुर्मासिक में "**चाउम्मासिय**" और सांवत्सरिक में "**संवच्छरिय**" शब्द बोलना चाहिए ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कठिन शब्दार्थ - भंते ! - हे भगवन् !, **सामाइयं** - समभाव रूप सामायिक को, **करेमि** - मैं ग्रहण करता हूँ, **सावज्जं** - सावद्य (पाप सहित), **जोगं** - योगों का व्यापार (कार्य) का, **पच्चक्खामि** - प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ, **जाव** - जब तक, **नियमं** - इस नियम का, **पज्जुवासामि** - मैं सेवन करता रहूँ तब तक, **दुविहं** - दो करण से, **तिविहेणं** - तीन योग से अर्थात्, **मणसा** - मन से, **वयसा** - वचन से, **कायसा** - काया (शरीर) से, **न करेमि** - सावद्य योग का सेवन नहीं करूँगा, **न कारवेमि** - दूसरे से नहीं कराऊँगा, **तस्स** - उससे (पहले के पाप से), **पडिक्कमामि** - मैं निवृत्त होता हूँ, **निंदामि** - उस पाप की आत्म साक्षी से निंदा करता हूँ, **गरिहामि** - गुरु साक्षी से गर्हा (निन्दा) करता हूँ, **अप्पाणं**- अपनी आत्मा को उस पाप व्यापार से, **वोसिरामि** - हटाता हूँ, पृथक् करता हूँ।

भावार्थ - मैं सामायिक (समभाव की प्राप्ति) व्रत ग्रहण करता हूँ (राग द्वेष का अभाव और ज्ञान दर्शन चारित्र का लाभ ही सामायिक है) मैं पापजनक व्यापारों का त्याग करता हूँ । जब तक मैं इस नियम का पालन करता रहूँ, तब तक मन वचन और काया-इन तीनों योगों द्वारा पाप कार्य स्वयं नहीं करूँगा और न दूसरे से कराऊँगा। हे स्वामिन्! पूर्वकृत पाप से मैं निवृत्त होता हूँ। हृदय से मैं उसे बुरा समझता हूँ और गुरु के सामने उसकी निन्दा करता हूँ । इस प्रकार मैं अपनी आत्मा को पाप-क्रिया से निवृत्त करता हूँ।

विवेचन - जिसके द्वारा समभाव की प्राप्ति हो, उसे सामायिक कहते हैं। सामायिक में सावद्य योगों का त्याग किया जाता है। अठारह पाप की प्रवृत्ति को सावद्य योग कहते हैं। ४८ मिनिट का एक मुहूर्त होता है । करना, करवाना और अनुमोदन करना, ये तीन करण हैं। करण के साधन को योग कहते हैं । मन, वचन और काया ये तीन योग हैं।

इच्छामि ठामि का पाठ

यह पाठ संक्षिप्त प्रतिक्रमण है। इसमें सम्पूर्ण प्रतिक्रमण का सार आ जाता है। इस पाठ से - दिवस संबंधी दोषों की आलोचना की जाती है और आचार-विचार संबंधी भूलों का प्रतिक्रमण किया जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इच्छामि ठामि ❀ काउस्सग्गं ❖ जो मे देवसिओ✪ अइयारो कओ, काइओ, वाइओ,माणसिओ, उस्सुत्तो, उम्मग्गो, अकप्पो, अकरणिज्जो, दुज्झाओ, दुव्विचिंतिओ, अणायारो, अणिच्छियव्वो, असावगपाउग्गो, णाणे तह दंसणे, चरित्ताचरित्ते, सुए, सामाइए, तिण्हं गुत्तीणं, चउण्हं कसायाणं, पंचण्हम-णुव्वयाणं, तिण्हं गुणव्वयाणं, चउण्हं सिक्खावयाणं, बारसविहस्स सावगधम्मस्स जं खंडियं, जं विराहियं, तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

कठिन शब्दार्थ - जो मे - जो मैंने, **देवसिओ** - दिवस सम्बन्धी, **अइयारो** - अतिचार, **कओ** - किया हो, **काइओ** - काया सम्बन्धी, **वाइओ** - वचन सम्बन्धी, **माणसिओ** - मन सम्बन्धी, **उस्सुत्तो** - उत्सूत्र-सूत्र विपरीत कथन किया हो, **उम्मग्गो** - उन्मार्ग (जैन-मार्ग से विरुद्ध मार्ग) ग्रहण किया हो, **अकप्पो** - अकल्पनीय कार्य किया हो, **अकरणिज्जो** - अकरणीय-नहीं करने योग्य कार्य किया हो, **दुज्झाओ** - दुष्ट ध्यान ध्याया हो, **दुव्विचिंतिओ** - दुष्ट अशुभ चिन्तन किया हो, **अणायारो** - आचरण नहीं करने योग्य कार्य का आचरण किया हो, **अणिच्छियव्वो** - अनिच्छनीय की इच्छा की हो, **असावग-पाउग्गो** - श्रावक धर्म के विरुद्ध कार्य किया हो, **णाणे तह दंसणे** - ज्ञान तथा दर्शन में, **चरित्ताचरित्ते** - श्रावक के देशव्रत में, **सुए** - श्रुत में, **सामाइए** - सामायिक में, **तिण्हं** - तीन, **गुत्तीणं** - गुप्तियों की, **चउण्हं** - चार, **कसायाणं** - कषायों की, **पंचण्हं** - पांच, **अणुव्वयाणं** - अणुव्रतों की, **गुणव्वयाणं** - गुणव्रतों की, **सिक्खावयाणं** - शिक्षा व्रतों की, **बारस्स-विहस्स** - बारह प्रकार के, **सावग-धम्मस्स**-- श्रावक धर्म की, **जं** - जो, **खंडियं** - खण्डना की हो, **विराहियं** - विराधना की हो, **तस्स** - उसका, **मिच्छा** - मिथ्या, **मि** - मेरे लिए, **दुक्कडं** - पाप।

❀ हरिभद्रीयावश्यक पृष्ठ ७७८ में "**ठाइउं**" पाठ है ।

❖ "**इच्छामि ठामि काउस्सग्गं**" के स्थान पर चौथे आवश्यक में "**इच्छामि पडिक्कमिउं**" शब्द बोलना चाहिए।

✪ जहां जहां भी देवसिओ शब्द आवे उसके स्थान पर रात्रिक प्रतिक्रमण में "**राइओ**", पाक्षिक प्रतिक्रमण में "**देवसिओ पक्खिओ**", चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में "**चाउम्मासिओ**" और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में "**संवच्छरिओ**" पाठ बोलना चाहिये ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - मैं कायोत्सर्ग करने की इच्छा करता हूँ। मैंने दिवस संबंधी जो अतिचार किया हो। काया संबंधी - अविनय आदि हुआ हो। वचन संबंधी-अशुभ वचन, असत्य, अपशब्द आदि बोला हो। मन संबंधी - अशुभ मन प्रर्वर्ताया हो, सूत्र से विरुद्ध प्ररूपणा की हो, जैन मार्ग का त्याग कर-गलत मार्ग-अन्य मार्ग ग्रहण किया हो, अकल्पनीय कार्य किया हो, नहीं करने योग्य कार्य किया हो, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान ध्याया हो, अशुभ दुष्ट चिंतन किया हो, आचरण नहीं करने योग्य कार्य का आचरण किया हो, अनिच्छनीय - इच्छा नहीं करने योग्य कार्य की इच्छा की हो, श्रावक धर्म के विरुद्ध कार्य किया हो, ज्ञान, दर्शन और चरित्ताचरित्त के विषय में, श्रुत और समभाव रूप सामायिक के विषय में, तीन गुप्ति के विषय में अतिचार का सेवन किया हो, चार कषाय का उदय हुआ हो। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत रूप बारह प्रकार के श्रावक धर्म की खंडना की हो, विराधना की हो, तो उसका पाप मेरे लिए मिथ्या हो।

विवेचन - प्रतिक्रमण का सार पाठ **"इच्छामि ठामि"** का पाठ है। इसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र की शुद्धि के लिए तीन गुप्ति, चार कषाय त्याग, पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षा व्रत रूप श्रावक धर्म में लगे हुए अतिचारों का मिच्छामि दुक्कडं दिया गया है एवं आवश्यक पाठों का सार होने से इसे प्रतिक्रमण का सार पाठ कहा है।

अतिचार के मुख्य तीन प्रकार हैं - १. कायिक २. वाचिक ३. मानसिक। पाठ में दिये गये अतिचारों में से **उस्सुत्तो** और **उम्मग्गो** वचन सम्बन्धी, **अकप्पो** और **अकरणिज्जो** काया सम्बन्धी और आगे के अतिचार प्राय: **मन सम्बन्धी** हैं।

श्रावक के बारह व्रत हैं - पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत। जिनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है -

अणुव्रत - महाव्रतों की अपेक्षा छोटे व्रतों को अणुव्रत कहते हैं। महाव्रतों में हिंसादि पापों का सम्पूर्ण त्याग होता है और अणुव्रतों में मर्यादित त्याग होता है ।

अणुव्रत पांच हैं - १. स्थूल (मोटी) हिंसा का त्याग २. स्थूल झूठ का त्याग ३. स्थूल चोरी का त्याग ४. स्वस्त्री सन्तोष और पर स्त्री सेवन का त्याग ५. इच्छा परिमाण अर्थात् परिग्रह का परिमाण करना।

गुणव्रत - जो अणुव्रतों को गुण अर्थात लाभ पहुँचाते हैं, उन्हें गुण व्रत कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गुणव्रत तीन हैं - १. दिशा परिमाण व्रत २. उपभोग परिभोग परिमाण व्रत ३. अनर्थ दण्ड विरमण व्रत।

शिक्षाव्रत - कर्म क्षय की शिक्षा देने वाले व्रतों को या मोक्ष प्राप्ति के लिए अभ्यास कराने वाली क्रियाओं की शिक्षा देने वाले व्रतों को शिक्षा व्रत कहते हैं ।

शिक्षाव्रत चार है - १. सामायिक व्रत २. देशावकाशिक व्रत ३. पौषध व्रत ४. अतिथि संविभाग व्रत ।

अकप्पो, अकरणिज्जो (अंकल्पनीय व अकरणीय) - श्रावकाचार के विरुद्ध आचरण करना "अकल्पनीय" है तथा अयोग्य सावद्य आचरण करना "अकरणीय" है। इस प्रकार अकल्पनीय में अकरणीय का समावेश हो सकता है। पर अकल्पनीय का समावेश अकरणीय में नहीं होता।

खंडियं विराहियं (खंडित विराधित) - व्रत का एकांश भंग खंडित और सर्वांश (अधिक मात्रा में) भंग विराधित कहलाता है।

"**मिच्छामि दुक्कडं**" का अर्थ है - द्रव्य भाव से नम्र बन कर, चारित्र की मर्यादा में स्थिर रह कर किये हुए पापों को उपशम भाव से दूर करता हूँ एवं मेरा पाप निष्फल हो।

बारह व्रतों के अतिचार

पहला व्रत - स्थूल प्राणातिपात विरमण में जो कोई अतिचार लगा हो, तो आलोऊं - १. रोष वश कठोर (गाढ़ा) बन्धन से बांधा हो, २. क्रूरता पूर्वक मारपीट की हो (गाढ़ा घाव घाला हो), ३. शरीर के किसी अवयव का छेद किया हो, ४. अधिक भार भरा हो, ५. आहार-पानी बन्द किया हो, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी ✇ अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

दूजा व्रत - स्थूल मृषावाद विरमण में जो कोई अतिचार लगा हो, तो

✇ प्रतिदिन शाम के प्रतिक्रमण में "**दिवस सम्बन्धी**" सुबह के प्रतिक्रमण में "**रात्रि सम्बन्धी**" पाक्षिक प्रतिक्रमण में "**दिवस पक्ष सम्बन्धी**", चौमासी प्रतिक्रमण में "**चातुर्मास सम्बन्धी**" और संवत्सरी प्रतिक्रमण में "**संवत्सर सम्बन्धी**" बोलना चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आलोऊं - १. सहसाकार से किसी के प्रति झूठा दोष (कूड़ा आल) दिया हो, २. एकान्त में गुप्त बातचीत करते हुए व्यक्तियों पर झूठा आरोप लगाया हो, ३. स्त्री (पुरुष) का मर्म प्रकाशित किया हो, ४. मृषा (झूठा) उपदेश दिया हो, ५. झूठा (कूड़ा) लेख लिखा हो, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

तीजा व्रत - स्थूल अदत्तादान विरमण में जो कोई अतिचार लगा हो, तो आलोऊं - १ चोर की चुराई वस्तु ली हो, २. चोर को सहायता दी हो, ३. राज्य विरुद्ध काम किया हो, ४ झूठा (कूड़ा) तोल झूठा (कूड़ा) माप किया हो, ५. वस्तु में मिलावट (भेल-संभेल) की हो, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

चौथा व्रत - स्वदार-संतोष ❖ परदारविवर्जन रूप★ मैथुन विरमण में जो कोई अतिचार लगा हो, तो आलोऊं-१. इत्तरियपरिग्गहिया (इत्वरिकपरिगृहीता) से गमन किया हो, २. अपरिग्गहिया (अपरिगृहीता) से गमन किया हो, ३. अनंगक्रीड़ा की हो, ४. पराये का विवाह-नाता कराया हो, ५. काम-भोग की तीव्र अभिलाषा की हो, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

पांचवां व्रत - स्थूलपरिग्रह विरमण में जो कोई अतिचार लगा हो, तो आलोऊं - १. क्षेत्र-वास्तु (खेत्त-वत्थु) का परिमाण अतिक्रमण (उल्लंघन) किया हो, २. हिरण्य-सुवर्ण का परिमाण अतिक्रमण किया हो, ३. धन-धान्य का परिमाण अतिक्रमण किया हो, ४. द्विपद-चतुष्पद (दोपद-चौपद)

❖ "स्वदार संतोष-परदारविवर्जन रूप" ऐसा पुरुष को बोलना चाहिए और स्त्री को "स्वपति संतोष परपुरुष विवर्जन रूप" ऐसा बोलना चाहिए। इसी प्रकार 'इत्तरियपरिग्गहिया' तथा 'अपरिग्गहिया' के स्थान पर स्त्रियों को 'इत्तरियपरिग्गहिय' तथा 'अपरिग्गहिय' शब्द बोलना चाहिए।

★ जिसके कुशील का यावज्जीवन का त्याग है उन्हें 'स्वदार संतोष परदार विवर्जन रूप' शब्द नहीं बोलने चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का परिमाण अतिक्रमण किया हो, ५ कुप्य का परिमाण अतिक्रमण किया हो, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

छठा व्रत - दिशापरिमाण में जो कोई अतिचार लगा हो, तो आलोऊं - १. ऊंची दिशा का परिमाण अतिक्रमण किया हो, २. नीची दिशा का परिमाण अतिक्रमण किया हो, ३. तिरछी दिशा का परिमाण अतिक्रमण किया हो, ४. क्षेत्र बढ़ाया हो, ५. क्षेत्र परिमाण के भूल जाने से पथ का सन्देह पड़ने पर आगे चला हो, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

सातवां व्रत - उपभोग-परिभोग परिमाण में जो कोई अतिचार लगा हो, तो आलोऊं - १. पच्चक्खाण उपरांत सचित्त का आहार किया हो, २. सचित्त प्रतिबद्ध का आहार किया हो, ३. अपक्व का आहार किया हो, ४. दुष्पक्व का आहार किया हो, ५. तुच्छौषधि◎ का आहार किया हो, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

पन्द्रह कर्मादान - जो श्रावक (श्राविका) को जानने योग्य हैं, किन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं, वे इस प्रकार हैं - १. इंगालकम्मे, २. वणकम्मे, ३. साडीकम्मे ४. भाडीकम्मे, ५. फोडीकम्मे, ६. दंतवाणिज्जे, ७. लक्खवाणिज्जे, ८. केसवाणिज्जे, ९. रसवाणिज्जे, १०. विसवाणिज्जे, ११. जंतपीलणकम्मे, १२ णिल्लंछणकम्मे, १३. दवग्गिदावणया, १४. सर-दह-तलाय-सोसणया, १५. असई-जण-पोसणया, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

◎ जिसमें खाने योग्य अंश तो थोड़ा हो और अधिक फेंकना पड़े उसे "तुच्छौषधि" कहते हैं जैसे - मूंग की कच्ची फली, सीताफल, गन्ना (गंडेरी) आदि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आठवाँ व्रत - अनर्थदण्ड विरमण में जो कोई अतिचार लगा हो, तो आलोऊं - १. काम-विकार जगाने वाली कथा की हो, २. भंड-कुचेष्टा की हो, ३. मुखरी वचन बोला हो, ४. अधिकरण* जोड़ रखा हो, ५. उपभोग-परिभोग अधिक बढ़ाया हो, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

नववाँ व्रत - सामायिक में जो कोई अतिचार लगा हो, तो आलोऊं - १. मन, २. वचन और ३. काया के अशुभ योग प्रवर्ताये हों, ४. सामायिक की स्मृति न रखी हो, ५. समय पूर्ण हुए बिना सामायिक पारी हो, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

दसवाँ व्रत - देशावकाशिक में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊं- १. नियमित सीमा के बाहर की वस्तु मंगवाई हो, २ भिजवाई हो, ३. शब्द बोल कर चेताया हो, ४. रूप दिखा कर के अपने भाव प्रकट किये हो, ५. कंकर आदि फैंक कर दूसरों को बुलाया हो, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी अतिचार दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

ग्यारहवाँ व्रत - प्रतिपूर्ण-पौषध में जो कोई अतिचार लगा हो, तो आलोऊं - १. पौषध में शय्या-संस्तारक की प्रतिलेखना न की हो या अच्छी तरह से न की हो, २. शय्या- संस्तारक का प्रमार्जन न किया हो या अच्छी तरह से न किया हो, ३. उच्चार-प्रश्रवण की भूमि को न देखी हो या अच्छी तरह से न देखी हो, ४ उच्चार-प्रश्रवण की भूमि को पूँजी न हो या अच्छी तरह से न पूंजी हो, ५. पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन न किया हो, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)

---

* अधिकरण-आरम्भ के साधन-ऊखल, मुसल, हथियार, औजार आदि ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बारहवाँ व्रत - अतिथिसंविभाग में जो कोई अतिचार लगा हो तो आलोऊं - १. अचित्त वस्तु सचित्त पर रखी हो, २. अचित्त वस्तु सचित्त से ढकी हो, ३. साधुओं को भिक्षा देने के समय को टाल दिया हो, ४. अपनी वस्तु दूसरों की कही हो, या आप सूझता होते हुए भी दूसरों से दान दिलाया हो, ५. मत्सर (ईर्ष्या) भाव से दान दिया हो, इस प्रकार दिवस सम्बन्धी अतिचार-दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

अतिचारों का समुच्चय पाठ

इस प्रकार १४ ज्ञान के, ५ समकित के, ७५ बारह व्रतों के और ५ संलेखना के - इन ९९ अतिचारों में से दिवस सम्बन्धी जो कोई अतिचार दोष लगा हो तो तस्स आलोउं (तस्स मिच्छामि दुक्कडं)।

बारह व्रतों के अतिचार सहित पाठ

१ अहिंसा अणुव्रत

पहला अणुव्रत-थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं-त्रस जीव बेइंदिय तेइंदिय चउरिंदिय पंचिंदिय, जान के पहिचान के संकल्प कर के उसमें सगे-संबन्धी, स्वशरीर के लिए पीड़ाकारी और सापराधी को छोड़ निरपराधी को हनने की बुद्धि (आकुट्टि की बुद्धि) से हनने का पच्चक्खाण, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा, ऐसे पहिले व्रत स्थूल-प्राणातिपात विरमण के पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा, न समायरियव्वा तंजहा ते आलोऊं - बंधे, वहे, छविच्छेए, अइभारे, भत्तपाणवोच्छेए, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

कठिन शब्दार्थ - **अणुव्रत** - महाव्रत की अपेक्षा छोटा व्रत, **थूलाओ** - स्थूल, **पाणाइवायाओ** - प्राणातिपात से, **वेरमणं** - निवृत्त होना, **बेइंदिय** - बेइन्द्रिय, **तेइंदिय** -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तेइन्द्रिय, **चउरिंदिय** - चउरिन्द्रिय, **पंचिंदिय** - पंचेन्द्रिय, **पच्चक्खाण** - त्याग, **दुविहं** - दो करण से, **तिविहेणं** - तीन योग से, **न करेमि** - नहीं करता हूँ, **न कारवेमि** - नहीं करवाता हूँ, **मणसा** - मन से, **वयसा** - वचन से, **कायसा** - काया से, **पेयाला** - प्रधान, **बंधे** - रोष वश गाढ़ा बन्धन बांधा हो, **वहे** - गाढा घाव घाला हो, **छविच्छेए** - अवयव (चाम आदि) का छेद किया हो, **अइभारे** - अधिक भार भरा हो, **भत्तपाण-वोच्छेए** - भात पानी का विच्छेद किया हो।

भावार्थ - मैं स्वसंबंधी - शरीर में पीडाकारी तथा अपराधी जीवों को छोड़ कर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय त्रस जीवों की हिंसा संकल्प करके मन, वचन और काया से न करूँगा और न करवाऊँगा। मैंने किसी जीव को रोष वश गाढ़ बंधन से बांधा हो, चाबुक लाठी आदि से मारा हो, पीटा हो, किसी जीव के चर्म का छेदन किया हो, अधिक भार भरा हो, भात पानी का विच्छेद किया हो अथवा खाने पीने में रुकावट डाली हो तो मेरे वे सब पाप निष्फल हों।

विवेचन - स्व शरीर में पीड़ाकारी, अपराधी तथा सापेक्ष निरपराधी के सिवाय शेष बेइन्द्रिय आदि त्रस जीवों की संकल्प पूर्वक हिंसा का दो करण तीन योग से त्याग करना, स्थूल प्राणातिपात त्याग रूप प्रथम अहिंसा अणुव्रत है।

प्राणातिपात - प्रमादपूर्वक सूक्ष्म और बादर, त्रस और स्थावर रूप समस्त जीवों के दश प्राणों (पांच इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयु) में से किसी भी प्राण का अतिपात (नाश) करना प्राणातिपात है। स्थावर जीवों की हिंसा करना, सूक्ष्म प्राणातिपात है।

प्रश्न - जान के पहचान के हिंसा करना किसे कहते हैं ?

उत्तर - "जहां पर या जिस पर मैं प्रहार कर रहा हूँ वहाँ या वह त्रस जीव है।" यह जानते हुए हिंसा करना, जान के पहचान के हिंसा करना कहलाता है।

प्रश्न - संकल्प करके हिंसा करना किसे कहते हैं ?

उत्तर - जैसे "मैं इस मनुष्य को मारूँ, इन सिंह, हिरण आदि का शिकार करूँ, सर्प, चूहे, मच्छर आदि का नाश करूं, अंडे, मछली आदि खाऊँ" ऐसा विचार करके उनकी हिंसा करना संकल्पी हिंसा है ।

शंका - श्रावक संकल्पी हिंसा का ही त्याग क्यों करता है ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान - हिंसा के दो भेद हैं - १. संकल्पजा २. आरंभजा। जानबूझ कर मारने के विचार से मारना संकल्पजा हिंसा है। श्रावक इसका त्याग करता है। किन्तु आरंभजा का त्याग नहीं कर सकता है। क्योंकि अन्य आरम्भ करते हुए श्रावक की मारने की बुद्धि न रहते हुए भी उससे त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है। जैसे - पृथ्वीकाय खोदते हुए भूमिगत त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है। वाहन पर चलते हुए वाहन से कीड़ी आदि जीव मर जाते हैं। ऐसी आरम्भी त्रस हिंसा का श्रावक त्याग करने में समर्थ नहीं होता परन्तु संकल्पी हिंसा का तो त्याग कर सकता है।

प्रश्न - सापराधी किसे कहते हैं?

उत्तर - आक्रमणकारी शत्रु, सिंह, सर्प आदि को धनापहारी चोर, डाकू आदि को, शील लूटने वाले जार आदि को या उचित और आवश्यक राष्ट्रनीति, राजनीति, समाजनीति आदि का भंग करने वाले को सापराधी कहते हैं।

प्रश्न - श्रावक, सापराधी की हिंसा क्यों नहीं छोड़ देता?

उत्तर - संसार में रहने के कारण उस पर आश्रितों की रक्षा, पालन-पोषण आदि का भार रहता है अतः वह सापराधी हिंसा नहीं छोड़ पाता है।

प्रश्न - निरपराध किसे कहते हैं?

उत्तर - जिसने किसी का अपराध नहीं किया हो उसे निरपराध कहते हैं जैसे आक्रमण नहीं करने वाले शान्ति प्रेमी मनुष्य, धनशील आदि को नहीं लूटने वाले साहूकार सुशील आदि, अपने मार्ग से जाते हुए सिंह सर्प आदि और किसी को कष्ट न पहुँचाने वाले गाय, हरिण, तीतर, मछली, अण्डे आदि निरपराध हैं।

प्रश्न - आकुट्टि से मारना किसे कहते हैं ?

उत्तर - कषायवश निर्दयतापूर्वक प्राणों से रहित करने, मारने की बुद्धि से मारना, आकुट्टि की बुद्धि से मारना कहलाता है।

प्रश्न - जीव अपने कर्मानुसार मरते हैं और दुःख पाते हैं फिर मारने वाले को पाप क्यों लगता है?

उत्तर - मारने की दुष्ट भावना और मारने की दुष्ट प्रवृत्ति से ही मारने वाले को पाप लगता है।

प्रथम अणुव्रत के पाँच अतिचारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है -

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१. बन्धे - ऐसे मजबूत बंधन से बांधना कि जिससे गति संचार, शरीर संचार और रक्त संचार में बाधा पड़े, गाढ़ा बंधन कहलाता है।

२. वहे - घूंसा, लात, चाबुक, आर आदि से मर्म स्थान आदि पर ऐसा प्रहार करना-ताडन करना-मारना कि चमड़ी उधड़ जाय, रक्त बहने लगे या निशान पड़ जाय, 'वहे' अतिचार है।

३. छविच्छेए - रोगादि कारणों के न होते हुए अंग भंग करने चमड़ी का छेदन करने, डाम आदि देने, अवयव आदि काटने पर "छविच्छेद" अतिचार लगता है।

४. अइभारे - जो पशु जितने समय तक जितना भार ढो सकता हो; उससे भी अधिक समय तक उस पर भार (बोझ) लादना अथवा पशु की क्षमता से अधिक भार लादना या जो मनुष्य जितने समय तक जितना कार्य कर सकता हो, उससे भी अधिक समय तक अथवा उसकी क्षमता से अधिक उससे कार्य कराना, अतिभार अतिचार है।

५. भत्तपाण वोच्छेए - भोजन पानी के समय भोजन-पानी नहीं करने देने - अन्तराय देने से "भत्तपाण वोच्छेए" अतिचार लगता है।

२ सत्य अणुव्रत

दूसरा अणुव्रत-थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं - कण्णालीए, गोवालीए, भोमालीए, णासावहारो (थापणमोसो) कूडसक्खिज्जे (झूठी साक्षी) इत्यादि बड़ा (मोटा) झूठ बोलने का पच्चक्खाण जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा एवं दूसरा व्रत स्थूल मृषावाद विरमण के पंच अइंयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोउं - सहसब्भक्खाणे, रहस्सब्भक्खाणे, सदारमंतभेए✡, मोसोवएसे, कूडलेहकरणे जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

कठिन शब्दार्थ - **मुसावायाओ** - मृषावाद से, **कण्णालीए** - कन्यालीक - कन्या सम्बन्धी झूठ, **गोवालीए** - गाय सम्बन्धी झूठ, **भोमालीए** - भूमि सम्बन्धी झूठ, **णासावहारो** - धरोहर दबाने के लिए झूठ, **थापणमोसो** - धरोहर संबंधी झूठ, **कूड-**

✡ स्त्रियों को 'सभत्तारमंतभेए' बोलना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सक्खिजे - कूड़ी साख-झूठी साक्षी, **सहसब्भक्खाणे** - सहसाकार से किसी के प्रति कूडा आल (झूठा दोष) दिया हो, **रहस्सब्भक्खाणे** - एकान्त में गुप्त बातचीत करते हुए व्यक्तियों पर झूठा आरोप लगाया हो, **सदार-मंत-भेए** - स्त्री-पुरुष का मर्म प्रकाशित किया हो, **मोसोवएसे** - मृषा (झूठा) उपदेश दिया हो, **कूड-लेह-करणे** - कूड़ा (झूठा) लेख लिखा हो।

भावार्थ - मैं यावज्जीवन मन, वचन, काया से स्थूल झूठ स्वयं नहीं बोलूंगा और न दूसरों से बोलवाऊँगा। कन्या वर के संबंध में, गाय भैंस आदि पशुओं के विषय में तथा भूमि के विषय में कभी असत्य नहीं बोलूँगा। किसी की रखी हुई धरोहर को नहीं दबाऊँगा और न धरोहर को कम ज्यादा बताऊँगा तथा किसी की झूठी गवाही भी नहीं दूँगा। यदि मैंने किसी पर झूठा आरोप लगाया हो, रहस्य बात प्रकट की हो, स्त्री पुरुष का मर्म प्रकाशित किया हो, झूठा उपदेश दिया हो और झूठा लेख लिखा हो तो मेरे वे सब पाप निष्फल हो।

विवेचन - सत्य अणुव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार है -

१. **सहसब्भक्खाणे** - क्रोधादि कषायों के आवेश में आकर बिना विचारे किसी पर हिंसा, झूठ, चोरी आदि का आरोप लगाना। सन्देह होने पर प्रमाण मिले बिना अपने पर आये आरोप को टालने के लिए आरोप लगाना।

२. **रहस्सब्भक्खाडे** - किसी को एकान्त में बैठे या चर्या करते हुए रहस्य मंत्रणा करते हुए देख कर राजद्रोह आदि का दोषारोपण करना अथवा किसी की गुप्त बात को विकृत रूप में प्रकट करना रहस्याभ्याख्यान है।

३. **सदारमन्तभेए** - स्वस्त्री, मित्र, जाति, राष्ट्र किसी की भी कोई गोपनीय बात अन्य के सामने प्रगट करना। सच्ची बात प्रगट करने से स्त्री आदि के साथ विश्वासघात होता है। वह लज्जित होकर मर सकती है। राष्ट्र पर अन्य राष्ट्र आक्रमण कर सकता है अतः विश्वासघात और हिंसा की अपेक्षा से सत्य बात प्रकट करना अतिचार है ।

४. **मोसोवएसे** (झूठा उपदेश) - बिना पूछे या पूछने पर ऐसा असत्य परामर्श देना, जिससे उसका अहित हो और उसके धन तथा धर्म की हानि हो।

५. **कूडलेहकरणे** (झूठा - कूड़ा लेख) - दूसरों के साथ विश्वासघात हो ऐसा खोटा लेख लिखना, बनावटी हस्ताक्षर, सिक्के या विधान बनाना आदि कूट लेख लिखना कहलाता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३ अचौर्य अणुव्रत

तीसरा अणुव्रत - थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं - खात खन कर, गांठ खोलकर, ताले पर कूंची लगा कर, मार्ग में चलते हुए को लूट कर, पड़ी हुई किसी के अधिकार की बड़ी वस्तु चोरी की भावना से लेना इत्यादि बड़ा अदत्तादान का पच्चक्खाण, सगे सम्बन्धी, व्यापार सम्बन्धी तथा पड़ी निर्भ्रमी वस्तु के उपरान्त अदत्तादान का पच्चक्खाण जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा एवं तीसरा व्रत स्थूल अदत्तादान विरमण के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोऊँ - तेनाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्धरज्जाइक्कमे, कूडतुल्ल-कूडमाणे, तप्पडिरूवगववहारे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कड़ं।

कठिन शब्दार्थ - अदिण्णादाणाओ - अदत्तादान (चोरी) से, **निर्भ्रमी** - शंका रहित, **तेनाहडे** - चोर की चुराई वस्तु ली हो, **तक्करप्पओगे** - चोर को सहायता दी हो, **विरुद्धरज्जाइक्कमे** - राज्य विरुद्ध काम किया हो, **कूडतुल्लकूडमाणे** - कूड़ा (खोटा) तोल कूड़ा माप किया हो, **तप्पडिरूवगववहारे** - वस्तु में भेल संभेल की हो।

भावार्थ - मैं किसी के मकान में खात लगा कर अर्थात् भींत फोड़ कर, गांठ खोल कर, ताले पर कूंची लगा कर अथवा ताला तोड़ कर किसी की वस्तु नहीं लूँगा। मार्ग में चलते हुए किसी को नहीं लुटूंगा। मार्ग में पड़ी हुई किसी मोटी वस्तु का स्वामी जानते हुए उसे नहीं लूंगा इत्यादि रूप से सगे संबंधी, व्यापार संबंधी तथा पड़ी हुई शका रहित वस्तु के उपरांत स्थूल चोरी मन, वचन, काया से नहीं करूँगा और न कराऊँगा। यदि मैंने चोरी की वस्तु ली हो, चोर को सहायता दी हो, राज्य विरुद्ध कार्य किया हो, झूठा तोल या माप किया हो, वस्तु में भेल-संभेल (मिटावट) की हो उत्तम वस्तु दिखा कर खराब वस्तु दी हो तो मैं इन बुरे कामों की आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे वे सब पाप निष्फल हों।

विवेचन - किसी भी वस्तु को उसके स्वामी की आज्ञा के बिना लेना अदत्तादान-चोरी है। तीसरे व्रत में मुख्य पांच प्रकार की बड़ी चोरी का त्याग होता है । पांच प्रकार की चोरी इस प्रकार हैं- १. सेंध लगाना २. गांठ खोलना अर्थात् जेब काटना, पॉकिट उड़ा लेना आ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. ताले तोड़ना-खोलना अर्थात् सुरक्षित धन को हर लेना ४. राहगीरों को लूटना या शस्त्रादि से, बल प्रयोग से धन छीन लेना और ५. किसी की गिरी हुई, भूल से छूटी हुई वस्तु को उठा लेना-रख लेना।

जिस अदत्त वस्तु को लेने से समाज में निन्दा हो, लोक में चोरी का भ्रम पैदा हो, वह लोक निन्द्य चोरी है । लोक निन्द्य अदत्त के त्याग में दो आगार हैं -

१. सगे संबन्धी - कुटुम्बियों की वस्तुएं वस्त्र आभूषण आदि उन्हें पूछने का अवकाश न होने पर सुरक्षित रूप में रख लेना या काम में लेने योग्य वस्तु को काम में ले लेना ।

२. व्यापार संबन्धी - व्यापार से संबधित पदार्थ कलम, पेन्सिल, कागज आदि तुच्छ वस्तुएँ बिना पूछे ले लेना।

तीसरे व्रत के पाँच अतिचारों का स्वरूप इस प्रकार है -

१. तेनाहडे (स्तेनाहृत) - चोर के द्वारा लायी गयी वस्तुओं को रख लेना, उसके द्वारा चुराये गये पदार्थों को खरीद लेना, उनका संरक्षण करना आदि तेनाहडे (स्तेनाहृत) है ।

२. तक्करप्पओगे (तस्कर प्रयोग) - चोर को सहायता (रसद) देना, किसी के धन आदि का भेद बताना, चोरी का संकेत करना, उसकी चुराई हुई वस्तुओं को लेने का आश्वासन देना आदि तस्कर प्रयोग है ।

३. विरुद्धरज्जाइक्कमे (राज्य विरुद्ध काम) - प्रजा की सुव्यवस्था को राज्य (शासन) कहते हैं उसके विरुद्ध कार्य करना जैसे - निषिद्ध वस्तुएँ बेचना-खरीदना, निषिद्ध राज्यों में बेचना, खरीदना, कर (टैक्स) नहीं देना, विरोधी राज्य की सीमा का अतिक्रमण करना आदि।

४. कूडतुल्लकूडमाणे (कूट तोल-कूट माप) - देने और लेने के अलग-अलग तोल माप रखना या देते समय कम तोल कर देना, कम माप कर देना, कम गिन कर देना और लेते समय अधिक तोल कर, अधिक माप कर, अधिक गिन कर लेने से कूट-तोल कूट-माप अतिचार लगता है ।

५. तप्पडिरूवगववहारे (तत्प्रतिरूपक व्यवहार) - अधिक मूल्य की वस्तु में कम मूल्य की वस्तु मिलाकर बेचना, उत्तम वस्तु दिखाकर निकृष्ट वस्तु देना, अल्प मूल्य वाली या बनावटी वस्तु को बहुमूल्य जैसी और वास्तविक जैसी बना कर बेचना, या ऊपर लेबल अच्छा लगा कर भीतर खराब-खोटी वस्तु रख कर बेचना "तप्पडिरूवगववहारे" अतिचार है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४ ब्रह्मचर्य व्रत

चौथा अणुव्रत-थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं - सदारसंतोसिए (स्त्रियों के लिए "सभत्तार संतोसिए") ❀ अवसेसं मेहुणविहिं पच्चक्खामि जावज्जीवाए, देव-देवी सम्बन्धी दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा तथा मनुष्य तिर्यंच सम्बन्धी एगविहं एगविहेणं न करेमि कायसा एवं चौथा व्रत स्थूल मैथुन विरमण के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोऊं - इत्तरियपरिग्गहियागमणे ✡ अपरिग्गहियागमणे, ✡ अनंगक्रीडा, परविवाहकरणे, कामभोगतिव्वाभिलासे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

कठिन शब्दार्थ - **मेहुणाओ** - मैथुन से, **सदार सन्तोसिए** - अपनी पत्नी में संतुष्ट होकर, **अवसेसं** - अन्य से, **मेहुणविहिं** - मैथुन-सेवन का, **एगविहं एगविहेणं** - एक करण एक योग से, **इत्तरियपरिग्गहियागमणे** - इत्वर परिगृहीता से गमन किया हो, **अपरिग्गहिया गमणे** - अपरिगृहीता से गमन किया हो, **अनंगकीडा** - अनंग क्रीड़ा की हो, **पर-विवाह-करणे** - पराये का विवाह नाता कराया हो, **कामभोगतिव्वाभिलासे** - काम भोग की तीव्र अभिलाषा की हो।

भावार्थ - मैं यावज्जीवन अपनी विवाहित स्त्री में ही संतोष रख कर शेष सब प्रकार के मैथुन सेवन का त्याग करता हूँ अर्थात् देव देवी संबंधी मैथुन का सेवन मन, वचन, काया से न करूँगा और न कराऊँगा तथा मनुष्य और तिर्यंच संबंधी मैथुन सेवन काया से न करूँगा। यदि मैंने इत्वरिक-परिगृहीता अथवा अपरिगृहीता से गमन करने के लिए आलाप संलापादि किया हो, प्रकृति के विरुद्ध अंगों से काम क्रीड़ा करने की चेष्टा की हो, दूसरे के विवाह कराने का उद्यम किया हो, कामभोग की तीव्र अभिलाषा की हो तो मैं इन दुष्कृत्यों की आलोचना करता हूँ कि मेरे सब पाप निष्फल हों।

❀ जिसके कुशील का यावज्जीवन का त्याग है उन्हें "**सदारसंतोसिए अवसेसं**" के स्थान पर "**सव्वं**" शब्द बोलना चाहिए ।

✡ स्त्रियों को "**इत्तरियपरिग्गहियागमणे**" "**अपरिग्गहियागमणे**" के स्थान पर "**इत्तरियपरिग्गहियगमणे**" "**अपरिग्गहिय गमणे**" शब्द बोलने चाहिए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन - चौथे व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार है -

१. इत्वरपरिगृहीतागमन् - अपनी विवाहिता अल्प वंय वाली-छोटी उम्र की स्त्री से गमन करना इत्वरपरिगृहीतागमन कहलाता है ।

२. अपरिगृहीतागमन् - स्वयं के साथ सगाई की हुई है परन्तु पंचों की तथा माता पिता की एवं संरक्षकों की साक्षी से विवाह नहीं हुआ हो उसके साथ मैथुन सेवन करने से अपरिगृहीतागमन अतिचार लगता है ।

३. अनंगक्रीड़ा - काम सेवन के जो प्राकृतिक अंग हैं उनके सिवाय अन्य अंगों से जो कि काम सेवन के लिए अंग नहीं हैं, क्रीड़ा करना अनंगक्रीडा है। हस्त मैथुन का समावेश भी इसी अतिचार में होता है । स्व स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों के साथ मैथुन क्रिया वर्ज कर अनुराग से उनका आलिंगन आदि करने वाले के भी व्रत मलिन होता है। इसलिए वह भी अतिचार माना गया है ।

४. परविवाहकरणे - अपना और अपनी संतान के सिवाय अन्य का विवाह कराना परविवाहकरण अतिचार है। स्वदारा संतोषी श्रावक को दूसरों का विवाह आदि कर उन्हें मैथुन में लगाना निष्प्रयोजन है अतः दूसरे का विवाह करने के लिए उद्यत होने में यह अतिचार है।

५. कामभोग तीव्राभिलाष - पांच इन्द्रियों के विषय शब्द रूप, गंध रस और स्पर्श में आसक्ति होना कामभोगतीव्राभिलाष नामक अतिचार है । यह अतिचार भी अपनी ही परिणीता स्त्री से संबन्ध रखता है । जो वाजीकरण आदि प्रयोग से अधिक कामवासना उत्पन्न करे और वात्सायन के चौरासी आसनादि करके काम में तीव्रता लावे तो उसे कामभोग तीव्राभिलाष नामक यह अतिचार लगता है और इससे व्रत दूषित होता है।

ब्रह्मचर्य की महिमा - ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ तप है। ब्रह्मचारी को देवता भी नमस्कार करते हैं। काम भोग किंपाक फल और आशीविष के समान घातक है। ब्रह्मचर्य के अपालक रावण, जिनरक्षित, सूर्यकान्ता आदि की कैसी दुर्गति हुई? ब्रह्मचर्य के पालक जम्बू, मल्लिनाथ, राजीमती आदि का जीवन कैसा उज्ज्वल व आराधनीय बना आदि चिन्तन करना।

ब्रह्मचर्य की आराधना के लिए ब्रह्मचर्य की मर्यादा, सत्साहित्य का अध्ययन, सन्त मुनिराजों की संगति, ब्रह्मचर्य की नववाड़ पालन और बत्तीस उपमा का चिन्तन करना चाहिये। कुसंगति और व्यसनों से दूर रहना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य पालन से शरीर नीरोग, हृदय बलवान्, इन्द्रियां सतेज, बुद्धि तीक्ष्ण और चित्त स्वस्थ रहता है। अन्तरंग लाभ भी महान् हैं - संसार परिमित होता है यावत् केवलज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

५ अपरिग्रह अणुव्रत

पांचवां अणुव्रत-थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं - क्षेत्र वास्तु का यथापरिमाण, हिरण्य-सुवर्ण का यथापरिमाण, धन-धान्य का यथापरिमाण, द्विपद-चतुष्पद का यथापरिमाण, कुप्य का यथापरिमाण एवं जो परिमाण किया है उसके उपरान्त अपना करके परिग्रह रखने का पच्चक्खाण जावज्जीवाए, एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा एवं पांचवां व्रत स्थूलपरिग्रह विरमण के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोऊं - खेत्तवत्थुप्पमाणाइक्कमे, हिरण्णसुवण्णप्पमाणाइक्कमे, धणधण्णप्पमाणाइक्कमे, दुपयचउप्पयप्पमाणाइक्कमे,कुवियप्पमाणाइक्कमे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

कठिन शब्दार्थ - परिग्गहाओ - परिग्रह से, **खेत** - खुली जमीन, **वत्थु** - ढकी भूमि, **हिरण्ण** - चांदी, **सुवण्ण** - सोना, **दुपय** - द्विपद, **चउप्पय** - चतुष्पद, **धन** - रोकड पूंजी, सिक्के आदि, **धान्य** - गेहूँ आदि अनाज, **कुविय** - सोना चांदी के सिवाय धातु व अन्य घर सामग्री, **खेतवत्थुप्पमाणाइक्कमे** - क्षेत्र वस्तु के परिमाण का अतिक्रमण किया हो, **हिरण्णसुवण्णप्पमाणाइक्कमे** - हिरण्य सुवर्ण के परिमाण का अतिक्रमण किया हो, **दुपयचउप्पयप्पमाणाइक्कमे** - द्विपद, चतुष्पद के परिमाण का अतिक्रमण किया हो. **धणधण्णप्पमाणाइक्कमे** - धन धान्य के परिणाम का अतिक्रमण किया हो, **कुवियप्पमाणाइक्कमे** - कुप्य के परिणाम का उल्लंघन किया हो।

भावार्थ - खेत, महल, मकान, सोना, चाँदी, दास, दासी, गाय, हाथी, घोड़ा आदि धन धान्य तथा सोना चाँदी के सिवाय धातु तथा बर्तन आदि और शय्या आसन वस्त्र आदि घर संबंधी वस्तुओं का मैंने जो परिमाण किया है इसके उपरांत मैं सम्पूर्ण परिग्रह का मन, वचन,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काया से जन्म पर्यंत त्याग करता हूँ। यदि मैंने खेत मकान आदि का परिमाण उल्लंघन किया हो, दास दासी आदि द्विपद और गाय घोड़ा आदि चतुष्पद की संख्या के परिमाण का उल्लंघन किया हो, धन धान्य के परिमाण का उल्लंघन किया हो, सोने चाँदी के सिवाय अन्य धातुओं के एवं घर के अन्य सामान के परिमाण का अतिक्रमण किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे सब पाप निष्फल हो।

विवेचन - स्थूल परिग्रह विरमण तीन प्रकार का होता है - १. जितना परिग्रह वर्तमान में स्वयं के पास है, उससे डेढे दूने से अधिक परिग्रह नहीं रखूँगा। यदि उससे अधिक प्राप्त हुआ तो मैं ग्रहण नहीं करूंगा या धर्मादि में खर्च कर दूंगा। यह जघन्य प्रकार का स्थूल परिग्रह विरमण है। २. जितना पास है उससे अधिक विरमण करना मध्यम प्रकार का विरमण है। ३. जितना पास है उससे भी घटाकर विरमण करना उत्तम प्रकार का विरमण है।

परिग्रह पाप का मूल है, प्रभु ने फरमाया है - **"इच्छा हु आगाससमा अणंतिया"** इच्छा आकाश के समान अनन्त है । ज्यों -ज्यों लाभ होता है, लोभ बढ़ता जाता है। सभी जीवों के लिए परिग्रह से बढ़कर कोई बन्धन नहीं है । यह महान् अशान्ति का कारण है । इससे कलह, हिंसा, बेईमानी आदि का प्रादुर्भाव होता है।

अपरिग्रह व्रत का पालन करने से तृष्णा जन्य संकल्प विकल्प से मुक्ति मिलती है । वर्तमान में विद्यमान धनादि में आसक्ति मन्द होती है । अभाव में सन्तोष रहता है । निद्रा सुख से आती है, आदि अनेक लाभ हैं ।

परिग्रह कम करने के लिए परिग्रह पाप का कारण है अतः सम्पूर्ण अपरिग्रही कब बनूंगा? यह मनोरथ चिन्तन करना । परिग्रह में आसक्त दुर्योधन, कोणिक आदि तथा परिग्रह त्यागी भरत चक्रवर्ती, धन्ना मुनि, अर्हन्नक आदि के चरित्र पर ध्यान देना। अपरिग्रह अणुव्रत के पाँच अतिचार भावार्थ से स्पष्ट है।

६. दिशा परिमाण व्रत

छठा दिशिव्रत - ऊर्ध्व दिशा (उड्ढदिसि) का यथा परिमाण, अधो दिशा (अहोदिसि) का यथा परिमाण, तिर्यक् दिशा (तिरियदिसि) का यथा परिमाण एवं यथा परिमाण किया है, उसके उपरान्त स्वेच्छा काया से आगे जाकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पांच आश्रव सेवन का पच्चक्खाण जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं ✣ न करेमि मणसा वयसा कायसा एवं छठे दिशि व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोऊँ - उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कमे, अहोदिसिप्पमाणाइक्कमे, तिरियदिसिप्पमाणाइक्कमे, खित्तवुड्ढी, सइअन्तरद्धा, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

कठिन शब्दार्थ - **उड्ढ** - ऊर्ध्व (ऊंची), **अहो** - अधो (नीची), **तिरिय** - तिर्यक् (तिरछी), **दिसि** - दिशा, **उड्ढदिसिप्पमाणाइक्कमे** - ऊँची दिशा का परिमाण अतिक्रमण किया हो, **अहोदिसिप्पमाणाइक्कमे** - नीची दिशा का परिमाण अतिक्रमण किया हो, **तिरियदिसिप्पमाणइक्कमे** - तिरछी दिशा का परिमाप अतिक्रमण किया हो, **खित्तवुड्ढी** - क्षेत्र वृद्धि - क्षेत्र बढ़ाया हो, **सइअन्तरद्धा** - स्मृत्यन्तर्धान - क्षेत्र परिमाण के भूल जाने से पथ का सन्देह पड़ने पर आगे चला हो ।

भावार्थ - जो मैंने ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा और तिर्यक् दिशा का परिमाण किया है उसके आगे गमनागमन आदि क्रियाओं को मन, वचन, काया से न करूँगा। यदि मैंने ऊर्ध्व दिशा, अधोदिशा और तिर्यक् दिशा के परिमाण का उल्लंघन किया हो, क्षेत्र बढ़ाया हो, क्षेत्र परिमाण में संदेह होने पर आगे चला होऊँ तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ कि मेरे वे सब पाप मिथ्या हो।

विवेचन - दिशाएँ छह हैं। जिस दिशा में जितना जाना पड़े उतना परिमाण करना दिशा परिमाण है। जैसे-ऊंचे पर्वत पर या हवाई जहाज से इतने किलोमीटर से ऊंचा नहीं जाऊंगा। तलघर में, खान में इतने हाथ से नीचे नहीं जाऊंगा। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में इतने किलोमीटर से आगे नहीं जाऊंगा।

क्षेत्र वृद्धि - पूर्वादि दिशा की मर्यादित भूमि से आधी भूमि में भी मुझे जाना नहीं पड़ता और पश्चिमादि भूमि में मर्यादित भूमि से अधिक भूमि में जाना धनादि की दृष्टि से मुझे लाभप्रद है, इत्यादि सोचकर एक दिशा में घटाकर दूसरी में बढ़ाना। लोक असंख्यात कोडाकोडी योजन विस्तार वाला है, दिशाओं की मर्यादा करने से मर्यादा से बाहर जाने का सम्पूर्ण त्याग होने से महान् आस्रव रुक जाता है।

✣ "**दुविहं तिविहेणं**" भी कोई-कोई बोलते हैं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७. उपभोग परिभोग परिमाण व्रत

सातवां व्रत - उपभोगपरिभोगविहिं पच्चक्खायमाणे। १. उल्लणियाविहि, २ दंतणविहि, ३. फलविहि, ४, अब्भंगणविहि, ५. उवट्टणविहि, ६. मज्जणविहि, ७. वत्थविहि, ८. विलेवणविहि, ९. पुप्फविहि, १०. आभरणविहि, ११ धूवविहि, १२. पेज्जविहि, १३. भक्खणविहि, १४. ओदणविहि, १५. सूवविहि, १६. विगयविहि, १७. सागविहि, १८. महुरविहि, १९. जीमणविहि, २०. पाणीयविहि, २१. मुखवासविहि, २२ वाहणविहि, २३. उवाणहविहि, २४. सयणविहि, २५ सचित्तविहि, २६ दव्वविहि। इन छब्बीस बोलों का यथापरिमाण किया है इसके उपरान्त उपभोगपरिभोग वस्तु को भोग निमित्त से भोगने का पच्चक्खाण, जावज्जीवाए एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा एवं सातवां उपभोग-परिभोग दुविहे पण्णत्ते तंजहा-भोयणाओ य कम्मओ य। भोयणाओ समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा ते आलोऊं-सचित्ताहारे, सचित्त पडिबद्धाहारे, अप्पउलिओसहिभक्खणया, दुप्पउलिओसहि-भक्खणया, तुच्छोसहिभक्खणया, कम्मओ णं समणोवासएणं पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं न समायरियव्वाइं तंजहा ते आलोउं - इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे, दंतवाणिज्जे, लक्खवाणिज्जे, केसवाणिज्जे, रसवाणिज्जे, विसवाणिज्जे, जंतपीलणकम्मे, णिल्लंछणकम्मे, दवग्गिदावणया, सरदहतलाय-सोसणया, असईजणपोसणया, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

कठिन शब्दार्थ - **विहिं** - विधि का, **पच्चक्खायमाणे** - प्रत्याख्यान करते हुए, **उल्लणियाविहि** - अंगोछे की विधि - शरीर पोंछने के वस्त्रों की मर्यादा, **दंतणविहि** - दतौन, मंजन आदि की मर्यादा करना। **फलविहि** - आंवला आदि फल से सिर धोने की मर्यादा, **अब्भंगणविहि** - शरीर पर मालिश करने के लिए तेल आदि द्रव्यों की मर्यादा,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उवट्टणविहि - उबटन (पीठी आदि) की मर्यादा, **मज्जणविहि** - स्नान और स्नान के जल का परिमाण, **वत्थविहि** - पहनने के वस्त्रों की मर्यादा, **विलेवणविहि** - विलेपन-चन्दन आदि की मर्यादा, **पुप्फविहि** - फूलों तथा फूलमालाओं की मर्यादा, **आभरणविहि** - आभूषणों की मर्यादा, **धूवविहि** - अगरबत्ती, गुगल आदि धूप के द्रव्यों की मर्यादा, **पेज्जविहि** - पेय पदार्थों की मर्यादा करना। **भक्खणविहि** - घेवर आदि पक्वान्न की मर्यादा, **ओदणविहि** - रांधे हुए चावल, गेहूँ आदि की मर्यादा, **सूवविहि** - मूंग, चना, आदि दालों की मर्यादा, **विगयविहि** - घी, दूध, तेल आदि विकृतियों की मर्यादा, **सागविहि** - भिण्डी, तरोइ आदि शाक की मर्यादा करना, **महुरविहि** - मधुर फलों की मर्यादा, **जीमणविहि** - रोटी, बाटी आदि जीमने के द्रव्यों की मर्यादा, **पाणीयविहि** - पीने के पानी की मर्यादा, **मुखवासविहि**- लौंग, सुपारी आदि मुखवास की मर्यादा, **वाहणविहि** - घोड़ा, मोटर आदि वाहनों की मर्यादा, **उवाणहविहि** - जूते, चप्पल, मौजे आदि की मर्यादा, **सयणविहि** - गादी, पलंग आदि की मर्यादा, **सचित्तविहि** - सचित्त वस्तुओं की मर्यादा, **दव्वविहि** - खाने-पीने के पदार्थों की संख्या, **दुविहे** - दो प्रकार का, **भोयणाओ** - भोजन की अपेक्षा से, **कम्मओ** - कर्म की अपेक्षा से, **य** - और, **सचित्त पडिबद्धाहारे** - सचित्त प्रतिबद्ध का आहार किया हो, **अप्पउलिओसहिभक्खणया** - अपक्व का आहार किया हो, **दुप्पउलिओसहिभक्खणया**- दुष्पक्व का आहार किया हो, **तुच्छोसहिभक्खणया** - तुच्छौषधि का आहार किया हो, **पण्णरस** - पन्द्रह, **कम्मादाणाइं** - कर्मादान, **इंगालकम्मे** - अंगार कर्म, **वणकम्मे** - वन कर्म, **साडीकम्मे** - शाकटिक कर्म, **भाडीकम्मे** - भाटी कर्म, **फोडीकम्मे**- स्फोटी कर्म, **दंतवाणिज्जे** - दन्त वाणिज्य, **लक्खवाणिज्जे** - लाक्षा वाणिज्य, **केसवाणिज्जे**- केश वाणिज्य **रसवाणिज्जे** - रस वाणिज्य, **विसवाणिज्जे** - विष वाणिज्य, **जंतपीलणकम्मे**- यंत्र पीड़न कर्म, **निल्लंछणकम्मे** - निर्लांछन कर्म, **दवग्गिदावणया** - दवाग्नि दापनता, **सरदहतलायसोसणया** - सर, द्रह तड़ाग शोषणता, **असईजणपोसणया** - असतीजन पोषणता।

भावार्थ - मैंने शरीर पोंछने के अंगोछे आदि वस्त्र का, दतौन करने का, आंवले आदि फल से बाल धोने का, तेल आदि की मालिश करने का, उबटन करने का, स्नान करने के जल का, वस्त्र पहनने का, चन्दनादि का लेपन करने का, पुष्प सूंघने का, आभूषण पहनने का, धूप जलाने का, दूध आदि पीने का, घेवर आदि मिठाई का, चावल गेहूँ आदि का, मूंग आदि की दाल का, दूध, दही आदि विगय का, शाक का, मधुर रस वाले फलों का, जीमने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के द्रव्यों का पीने के पानी का, इलायची लौंग आदि मुखवास का, घोड़ा, मोटर, कार आदि सवारी का, जूते आदि पहनने का, पलंग आदि पर सोने का, सचित्त वस्तु के सेवन का तथा इनसे बचे हुए शेष पदार्थों का जो परिमाण किया है उसके सिवाय उपभोग तथा परिभोग में आने वाली सब वस्तुओं का त्याग करता हूँ। जीवन पर्यंत उसका मन, वचन, काया से सेवन नहीं करूँगा।

उपभोग परिभोग दो प्रकार का है - १. भोजन संबंधी और २. कर्म-धंधा व्यापार-संबंधी। भोजन संबंधी उपभोग परिभोग के पाँच और कर्म संबंधी उपभोग परिभोग के पन्द्रह इस तरह कुल बीस अतिचार होते हैं। मैं उनकी आलोचना करता हूँ। यदि मैंने १. मर्यादा से अधिक सचित्त का आहार किया हो, २ सचित्त पडिबद्ध का आहार किया हो, ३. अपक्व का आहार किया हो, ४. दुष्पक्व का आहार किया हो, ५. तुच्छौषधि का भक्षण किया हो तथा पन्द्रह कर्मादान - १. अंगार कर्म २. वन कर्म ३. शाकटिक कर्म ४. भाटी कर्म ५. स्फोटी कर्म ६. दंत वाणिज्य ७. लाक्षा वाणिज्य ८. केश वाणिज्य ९. रस वाणिज्य १०. विष वाणिज्य ११. यंत्रपीड़न कर्म १२. निर्लाञ्छन कर्म १३. दावाग्नि दापनता १४. सरोहद तड़ाग शोषणता १५. असतीजन पोषणता का सेवन किया हो तो मैं उनकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे वे सब पाप निष्फल हों।

विवेचन - जो पदार्थ एक ही बार भोगे जाते हैं, वे 'उपभोग' कहलाते हैं जैसे-अन्न, पानी आदि। बार-बार भोगे जाने योग्य पदार्थ 'परिभोग' कहलाते हैं जैसे - वस्त्र, आभूषण, शय्या आदि। उपभोग परिभोग योग्य वस्तुओं का परिमाण करना, छब्बीस बोलों की मर्यादा करना एवं मर्यादा के उपरान्त उपभोग परिभोग योग्य वस्तुओं के भोगोपभोग का एवं पन्द्रह कर्मादान का त्याग करना उपभोग परिभोग परिमाण व्रत है।

सातवें व्रत के भोजन संबंधी पाँच अतिचार इस प्रकार हैं -

१. सचित्ताहार - सचित्त त्यागी श्रावक का सचित्त वस्तु जैसे - पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि का आहार अनाभोग आदि से करना एवं सचित्त वस्तु का परिमाण करने वाले श्रावक का परिमाणोपरान्त सचित्त वस्तु का आहार करना अथवा जो वस्तुएँ अचित्त उपभोग में ली जाती हैं उनका सचित्त रूप प्रयोग में लेना सचित्ताहार है।

सचित्त त्याग से निम्न लाभ हैं - १. स्वाद विजय २. जहां अचित्त वस्तु खाने की सुविधा न हो वहाँ संतोष ३. खरबूजादि ऐसे पदार्थ जिनको सूखा कर नहीं खाया जाता,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उनका सर्वथा त्याग। ४. पर्व तिथियों को घर में आरंभ नहीं होना, जीवों के प्रति विशेष अनुकम्पा का लक्ष्य आदि कई लाभ हैं । यह सबके लिए उपयोगी हो सकता है ।

२. सचित्त प्रतिबद्धाहार - सचित्त वृक्षादि से सम्बद्ध अचित्त गोन्द या पक्के फल आदि खाना अथवा सचित्त बीज से सम्बद्ध अचित्त खजूर आदि खाना या बीज सहित फल को यह सोचकर खाना कि इसमें अचित्त अंश खा लूंगा और संचित्त बीजादि अंश को फेंक दूंगा, "सचित्तप्रतिबद्धाहार" है ।

३. अपक्व औषधि भक्षण - अपक्व अर्थात् पूरी तरह अचित्त न बने हुए पदार्थों का आहार करने से अपक्व औषधि भक्षण अतिचार लगता है।

४. दुष्पक्व औषधि भक्षण - दुष्पक्व अर्थात् अधपके या अविधि से पके हुए या बुरी तरह से विशेष हिंसक तरीके से पकाये गये पदार्थ जैसे छिलके समेत सेके हुए भुट्टे, होले, ऊंबी आदि का आहार करना, दुष्पक्व औषधि भक्षण अतिचार है ।

५. तुच्छौषधि - तुच्छ अर्थात् अल्प सार वाले-जिसमें खाने का अंश कम और फेंकने का अंश ज्यादा हो जैसे - सीताफल, गन्ना आदि, ऐसे पदार्थों का भक्षण करने से तुच्छौषधि भक्षण अतिचार लगता है ।

कर्मादान - जिन धन्धों और कार्यों से ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का विशेष बन्ध होता है, उन्हें "कर्मादान" कहते हैं । अथवा कर्मों के हेतुओं को कर्मादान कहते हैं । कर्मादान पन्द्रह हैं। जिनका स्वरूप इस प्रकार है -

१. इंगालकम्मे (अंगार कर्म) - अंगार अर्थात् अग्नि विषयक कार्य को "अंगारकर्म" कहते हैं। अग्नि से कोयला बनाने और बेचने का धंधा करना। इसी प्रकार अग्नि के प्रयोग से होने वाले दूसरे कर्मों का भी इसमें ग्रहण हो जाता है जैसे कि ईंटों के भट्टे पकाना आदि।

२. वणकम्मे (वन कर्म) - वन विषयक कर्म को "वन कर्म" कहते हैं। जंगल की खरीद कर वृक्षों और पत्तों आदि को काट कर बेचना और उससे आजीविका करना वनकर्म है। इसी प्रकार (वनोत्पन्न) बीजों का पीसना (आटे आदि की चक्की) भी वन कर्म है।

३. साड़ीकम्मे (शाकटिक कर्म) - गाड़ी, तांगा, इक्का आदि तथा उनके अवयवों (पहिया आदि) को बनाने और बेचने आदि का धंधा करके आजीविका करना "शाकटिक कर्म" है।

४. भाडीकम्मे (भाटी कर्म) - गाड़ी आदि से दूसरों का सामान एक जगह से दूसरी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जगह भाड़े से ले जाना। बैल, घोड़े आदि किराये पर देना और मकान आदि बना कर भाड़े पर देना इत्यादि धंधे करके आजीविका करना "भाटी कर्म" है।

५. फोडीकम्मे (स्फोटिक कर्म) - हल कुदाली आदि से भूमि फोड़ना। इस प्रकार का धंधा करके आजीविका करना "स्फोटिक कर्म" है।

६. दंतवाणिज्जे (दंत वाणिज्य) - हाथीदांत, मृग आदि का चर्म (मृगछाला आदि) चमरी गाय के केशों से बने हुए चामर और भेड़ के केश - ऊन आदि को खरीदने और बेचने का धंधा करके आजीविका करना "दंत वाणिज्य" है।

७. लक्खवाणिज्जे (लाक्षा वाणिज्य) - लाख का क्रय-विक्रय करके आजीविका करना "लाक्षावाणिज्य" है। इसमें त्रस जीवों की महाहिंसा होती है। इसी प्रकार त्रस जीवों की उत्पत्ति के कारण भूत तिलादि द्रव्यों का व्यापार करना भी इसी में सम्मिलित है।

८. केसवाणिज्जे (केशवाणिज्य) - केश वाले जीवों का अर्थात् गाय, भैंस आदि पशु तथा दासी आदि को बेचने का व्यापार करना "केश वाणिज्य" है।

९. रस वाणिज्जे (रस वाणिज्य) - मदिरा आदि रसों को बेचने का धंधा करना "रस वाणिज्य" है।

१०. विसवाणिज्जे (विष वाणिज्य) - विष (अफीम, शंखिया आदि जहर) को बेचने का धंधा करना "विष वाणिज्य" है। जीव घातक तलवार आदि शस्त्रों का व्यापार करना भी इसी में सम्मिलित है।

११. जंतपीलणकम्मे (यंत्रपीडन कर्म) - तिल, ईख आदि पीलने के यंत्र - कोल्हू, चरखी आदि से तिल ईख आदि पीलने का धंधा करना "यंत्रपीडन कर्म" है। उसी प्रकार महारम्भपोषक जितने भी यंत्र हैं उन सबका समावेश यंत्रपीडन कर्म में होता है।

१२. निल्लंछणकम्मे (निर्लांछनकर्म) - बैल, घोड़े आदि को खसी (नपुंसक) बनाने का धंधा करना "निर्लांछन कर्म" है।

१३. दवग्गिदावणया (दावाग्निदापनता) - खेत आदि साफ करन के लिए जंगल में किसी से आग लगवा देना अथवा स्वयं लगाना दावाग्निदापनता है। इसमें असंख्य त्रस और अनंत स्थावर जीवों की हिंसा होती है।

१४.सरदहतलायपरिसोसणया (सरोह्रदतडागपरिशोषणता) - स्वत: बना हुआ जलाशय 'सरोवर' कहलाता है। नदी आदि में जो अधिक गहरा प्रदेश होता है उसे 'ह्रद' कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो खोद कर जलाशय बनाया जाता है उसे 'तड़ाग' (तालाब) कहते हैं। इन सरोवर, ह्रद, तालाब आदि को सूखाना "सरोह्रदतडागपरिशोषणता" है।

१५. **असईजण पोसणया (असतीजन पोषणता)** - आजीविका कमाने के लिए दुश्चरित्र स्त्रियों का पोषण करना "असतीजन पोषणता" है। पाप बुद्धि पूर्वक कुर्क्कुट मार्जाद (बिल्ली) आदि हिंसक जानवरों का पोषण करना भी इसी में सम्मिलित है।

शंका - पांचवां, छठा और सातवां व्रत प्रायः एक करण तीन योग से क्यों लिये जाते हैं?

समाधान - क्योंकि श्रावक अपने पास मर्यादा से अधिक धन हो जाने पर दान पुण्य आदि में व्यय करता है, वैसे अपने पुत्रादि को देने का ममत्व भी त्याग नहीं पाता। इसी प्रकार कहीं गड़ा धन मिल जाय तो उसे अपने स्वजनों को देने का मोह भी त्याग नहीं पाता।

इसी प्रकार छठे व्रत की भी स्थिति है जैसे - श्रावक अपनी की हुई दिशाओं की मर्यादा के उपरांत स्वयं तो नहीं जाता पर कई बार अपने पुत्रादि को विद्या व्यापार आदि के लिये भेजने का प्रसंग आ जाता है। इसी प्रकार उपभोग परिभोग वस्तुओं की मर्यादा के उपरान्त पुत्रादि को भोगने के लिए कहने का अवसर आ जाता है । इसलिए उक्त व्रत एक करण तीन योग से ग्रहण किये जाते हैं । यह बात सामान्य दर्जे के श्रावक को लक्ष्य में रखकर कही गई है, विशिष्ट श्रावक इन व्रतों को विशिष्ट करण योगों से भी ग्रहण कर सकता है। रात्रि भोजन का त्याग श्रावक के सातवें व्रत में गर्भित है, यह उपभोग परिभोग की कालाश्रित मर्यादा है। उपभोग परिभोग की वस्तुओं की मर्यादा से संकल्प विकल्प से मुक्ति मिलती है। आवश्यकताएँ घटती हैं। जीवन संतोषमय व त्याग मय बनता है । धर्माचरण के लिए अधिक समय मिलता है। मर्यादित भूमि के बाहर उपभोग परिभोग की वस्तुओं का सम्पूर्ण और मर्यादित भूमि में भी बहुत सी वस्तुओं का त्याग होने से आस्रव रुकता है।

८. अनर्थ दण्ड विरमण व्रत

आठवाँ व्रत-अणट्ठादण्ड विरमण - चउव्विहे अणट्ठादण्डे पण्णत्ते तंजहा - अवज्झाणायरिए, पमायायरिए *, हिंसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे, एवं अणट्ठादण्ड सेवन का पच्चक्खाण जिसमें आठ आगारआए वा, राए

---

* पाठान्तर - अवज्झाणाचरिए, पमायाचरिए

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वा, णाए वा, परिवारे वा, देवे वा, णागे वा, जक्खे वा, भूए वा एत्तिएहिं आगारेहिं अण्णत्थ जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा एवं आठवां अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोउं - कंदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे उवभोगपरिभोगाइरित्ते, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

कठिन शब्दार्थ - **अणट्ठादंडे** - अनर्थदण्ड, **अवज्झाणायरिए** - अपध्यान करना, **पमायायरिए** - प्रमाद पूर्वक आचरण करना, **हिंसप्पयाणे** - हिंसा आदि पापों के साधन देना, **पावकम्मोवएसे** - पापकर्म का उपदेश देना, **आए** - अपने लिए, **वा** - अथवा, **राए** - राजा के लिए, **णाए** - ज्ञाति के लिए, **परिवारे** - सेवक भागीदार आदि के लिए, **देवे** - वैमानिक ज्योतिषी देवों के लिए, **णागे** - भवनपति देवों के लिए, **भूए** - भूत आदि के लिए, **जक्खे** - यक्ष आदि व्यंतर देवों के लिए, **एत्तिएहिं** - इत्यादि, **आगारेहिं** - आगारों के, **अण्णत्थ** - सिवाय दूसरे प्रकार से, **कंदप्पे** - काम विकार पैदा करने वाली कथा की हो, **कुक्कुइए** - भण्ड कुचेष्टा की हो, **मोहरिए** - मुखरी वचन बोला हो, **संजुत्ताहिगरणे** - अधिकरण जोड़ रखा हो, **उवभोगपरिभोगाइरित्ते** - उपभोग परिभोग अधिक बढ़ाया हो।

भावार्थ - अनर्थ दंड चार प्रकार का कहा है - १. अपध्यान २. प्रमादचर्या ३. हिंसादान और ४. पापोपदेश। मैं इन चारों प्रकार के अनर्थदंड का त्याग करता हूँ। यदि आत्म रक्षा के लिए, राजा की आज्ञा से, जाति अथवा परिवार (कुटुम्ब) के मनुष्यों के लिए तथा नाग, भूत, यक्ष आदि देवों के वशीभूत होकर अनर्थदण्ड का सेवन करना पड़े तो इसका आगार रखता हूँ। इन आगारों के सिवाय मैं जन्म पर्यन्त अनर्थदंड का मन, वचन, काया से स्वयं सेवन नहीं करूँगा, न दूसरों से कराऊँगा। यदि मैंने काम जागृत करने वाली कथा की हो, भांडों की तरह दूसरों को हंसाने के लिए हंसी दिल्लगी की हो या दूसरों की नकल की हो, निरर्थक बकवास किया हो, तलवार, ऊखल मूसल आदि हिंसाकारी हथियारों या औजारों का निष्प्रयोजन संग्रह किया हो, उपभोग परिभोग में आने वाली वस्तुओं का अधिक संग्रह किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे वे सब पाप निष्फल हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवेचन - जिससे आत्मा व अन्य प्राणी दंडित हो अर्थात् उनकी हिंसा हो इस प्रकार की मन, वचन, काया की कलुषित प्रवृत्ति को दण्ड कहते हैं। दण्ड के दो भेद हैं -

१. **अर्थदण्ड** - स्व, पर या उभय के प्रयोजन के लिये त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा करना अर्थदण्ड है ।

२. **अनर्थ दण्ड** - जो कार्य स्वयं के, परिवार के, सगे सम्बन्धी मित्रादि के हित में न हो, जिसका कोई प्रयोजन न हो और व्यर्थ में आत्मा पापों से दंडित हो, उसे अनर्थ दण्ड कहते हैं। विकथा करना, बुरा उपदेश देना, फिजूल बातें करना आदि प्रवृत्तियां अनर्थ दण्ड हैं। अनर्थ दण्ड चार प्रकार का होता है -

१. **अवज्झाणायरिए (अपध्यानाचरित)** - बिना कारण आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान करना या सकारण तीव्र आर्त्तध्यान करना अपध्यानाचरित कहलाता है । क्रोध में अपना सिर आदि पीट लेना, बिना कारण ही दांत पीसना, पुरानी बातों को याद करके रोना, शेख चिल्ली के समान भौतिक सुख पाने के लिये कल्पना की उडानें भरना अपध्यानाचरित है ।

२. **पमायायरिए (प्रमादाचरित)** - प्रमादपूर्वक आचरण करना अर्थात् मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा में लगे रहना तथा प्रमाद से कार्य करना जिससे जीवों की हिंसा हो जैसे - बिना देखे चलना, फिरना, वस्तु को उठाना, रखना, पानी, तेल, घी आदि तरल पदार्थों के बर्तनों को खुले रख देना आदि प्रमादाचरित है।

३. **हिंसप्पयाणे (हिंस्र प्रदान)** - हिंसा आदि पापों के साधन अस्त्र शस्त्रादि या तत्संबंधी साहित्य दूसरों को देना हिंस्र प्रदान कहलाता है ।

४. **पावकम्मोवएसे (पापकर्मोपदेश)** - पाप कार्यों का उपदेश देना, पाप कार्यों की प्रेरणा करना पापकर्म उपदेश है।

आठवें व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार है -

१. **कंदप्पे** (कंदर्प) - काम उत्पन्न करने वाले वचन का प्रयोग करना, राग के आवेश में हास्य मिश्रित मोहोद्दीपक मजाक करना कन्दर्प कहलाता है ।

२. **कुक्कुइए** (कौत्कुच्य) - भांडों की तरह भौएं, नेत्र, नासिका, ओष्ठ, मुख, हाथ, पैर आदि अंगों को विकृत बना कर दूसरों को हंसाने वाली चेष्टा करना कौत्कुच्य अतिचार है।

३. **मोहरिए** (मौखर्य) - ढिठाई के साथ असत्य, ऊटपटांग वचन बोलने से मौखर्य अतिचार लगता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४. संजुत्ताहिगरणे (संयुक्ताधिकरण) - पृथक्-पृथक् स्थानों पर पड़े हुए शस्त्रों के अवयवों को मिलाकर एक स्थान पर रखना, शस्त्रों का विशेष संग्रह रखना संयुक्ताधिकरण कहलाता है । कार्य करने में समर्थ ऐसे ऊखल और मूसल, शिला और लोढ़ा, हल और फाल, गाड़ी और जूआ, धनुष और बाण, वसूला और कुल्हाड़ी आदि दुर्गति में ले जाने वाले अधिकरणों को जो साथ ही काम आते हैं, एक साथ रखना संयुक्ताधिकरण अतिचार है ।

५. उवभोगपरिभोगाइरित्ते (उपभोग परिभोगातिरेक) - उपभोग परिभोग अधिक बढ़ाया हो अर्थात् उपभोग परिभोग में आने वाली वस्तुओं का अधिक संग्रह किया हो तो यह अतिचार लगता है।

प्रश्न - कंदर्पादि से कौन-कौन से अनर्थदण्ड होते हैं?

उत्तर - कंदर्प और कौत्कुच्य से अपध्यानाचरित और प्रमादाचरित अनर्थदण्ड होता है। मौखर्य से पापकर्मोपदेश, संयुक्ताधिकरण से हिंस्रप्रदान और उपभोग परिभोगातिरेक से हिंस्रप्रदान और प्रमादाचरित अनर्थदण्ड होता है।

९. सामायिक व्रत

नववां व्रत - सामायिक सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावनियमं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा ऐसी मेरी सद्दहणा है प्ररूपणा है, सामायिक की शुद्ध फरसना करके शुद्ध होऊँ ❀ एवं नववें सामायिक व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोउं - मणदुप्पणिहाणे, वयदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइ अकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

कठिन शब्दार्थ - सामायिक - समभाव की साधना, **सावज्जं जोगं** - सावद्य योग का, **जावनियमं** - यावत् नियम तक, **सद्दहणा** - श्रद्धा, **प्ररूपणा** - प्ररूपणा - प्रतिपादन करना, **मणदुप्पणिहाणे** - मनोदुष्प्रणिधान - मन के अशुभ योग प्रवर्तायें हो, **वयदुप्पणिहाणे**-

---

❀ जब सामायिक में न हो पौषधादि में हो तब इस प्रकार बोलें- ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है, सामायिक का अवसर आये, सामायिक करूं तब फरसना करके शुद्ध होऊं ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वचनदुष्प्रणिधान - वचन के अशुभ योग प्रवर्तायें हो, **कायदुप्पणिहाणे** - कायदुष्प्रणिधान - काया के अशुभ योग प्रवर्तायें हो, **सामाइयस्स सइ अकरणया** - सामायिक की स्मृति न की हो, **सामाइयस्सअणवट्ठियस्स करणया** - समय पूर्ण हुए बिना सामायिक पारी हो।

भावार्थ - मैंने सावद्य योग का त्याग कर जितने काल का नियम किया है उसके अनुसार सामायिक व्रत का पालन करता हूँ। मैं नियम पर्यंत मन, वचन, काया से पापजनक क्रिया न करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा। "सामायिक का यह स्वरूप है और यह करने योग्य है?" ऐसी मेरी श्रद्धा है और अन्य के समक्ष भी ऐसा ही कहता हूँ। मैंने सामायिक के समय मन में बुरे विचार किये हो, कठोर या पापजनक वचन बोले हो, अयतनापूर्वक शरीर से चलना फिरना, हाथ पाँव को फैलाना, संकोचना आदि क्रियाएं की हो, सामायिक करने का काल याद न रखा हो, समय पूर्ण हुए बिना सामायिक पारी हो या अनवस्थित रूप से जैसे तैसे सामायिक की हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे सम्पूर्ण पाप निष्फल हो।

विवेचन - समभाव की प्राप्ति को सामायिक कहते हैं । सामायिक में सावद्य योगों का त्याग किया जाता है। अठारह पाप स्थान को सावद्य योग कहते हैं। साधुजी की सामायिक जीवन पर्यन्त और श्रावक की सामायिक एक दो मुहूर्त या नियम पर्यन्त होती है । साधुजी की सामायिक तीन करण तीन योग से होती है तथा श्रावक की सामायिक प्रायः दो करण तीन योग से होती है।

शंका - सामायिक व्रत को इतने पीछे नववें व्रत में क्यों लिया गया ?

समाधान - आठ व्रत यावज्जीवन ग्रहण किये जाते हैं और सामायिक १-२ मुहूर्त पर्यन्त। अथवा सामायिक के शुद्धाराधन के लिए अठारह पापों का ज्ञान आवश्यक है। अणुव्रतों और गुणव्रतों में इनका वर्णन आ जाता है ।

१०. देशावकाशिक व्रत

दसवां व्रत - देशावकाशिक - प्रतिदिन प्रभात से प्रारम्भ कर के पूर्वादि छहों दिशाओं में जितनी भूमिका की मर्यादा रखी हो, उसके उपरांत आगे जाने का तथा दूसरों को भेजने का पच्चक्खाण, जाव अहोरत्तं दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा तथा जितनी भूमिका की हद

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रखी हो, उसमें जो द्रव्यादि की मर्यादा की है, उसके उपरान्त उपभोग परिभोग वस्तु को भोग निमित्त से भोगने का पच्चक्खाण जाव अहोरत्तं एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा एवं दसवें देशावकाशिक व्रत के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा ते आलोउं - आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहियापुग्गल पक्खेवे, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

कठिन शब्दार्थ - **जाव अहोरत्तं** - एक दिन रात पर्यन्त, **आणवणप्पओगे** - नियमित सीमा से बाहर की वस्तु मंगवाई हो, **पेसवणप्पओगे** - परिमाण किये हुए क्षेत्र से बाहर वस्तु भिजवाई हो, **सद्दाणुवाए** - शब्द करके चेताया हो, **रूवाणुवाए** - रूप दिखाकर अपने भाव प्रकट किये हो, **बहिया-पुग्गलपक्खेवे** - कंकर आदि फेंक कर दूसरों को बुलाया हो।

भावार्थ - छठे दिग्व्रत में जो दिशाओं का परिमाण किया है देशावकाशिक व्रत में उसका प्रतिदिन संकोच किया जाता है। मैं उस संकोच किये गये दिशाओं का परिमाण से बाहर के क्षेत्र में जाने का तथा दूसरों को भेजने का त्याग करता हूँ। एक दिन और एक रात तक परिमाण की गई दिशाओं से आगे मन, वचन, काया से न स्वयं जाऊँगा और न दूसरों को भेजूँगा। मर्यादित क्षेत्र में द्रव्यादि का जितना परिमाण किया है उस परिमाण के सिवाय उपभोग परिभोग निमित्त से भोगने का त्याग करता हूँ। मन, वचन, काया से मैं उनका सेवन नहीं करूँगा। यदि मैंने मर्यादा के बाहर की वस्तु मंगवाई हो, भिजवाई हो, शब्द करके चेताया हो, रूप दिखा कर अपने भाव प्रकट किये हो, कंकर आदि फेंककर दूसरों को बुलाया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे वे सब पाप निष्फल हो।

विवेचन - पहले के सब व्रतों में जो मर्यादाएं यावज्जीवन के लिए की थी, उनका और भी अधिक संक्षेप प्रतिदिन के लिए करना देशावकाशिक व्रत है। वर्तमान में चौदह नियमों से सब व्रतों का प्रतिदिन संक्षेप किया जाता है । चौदह नियम इस प्रकार हैं - **१. सचित्त** - पृथ्वीकाय आदि सचित्त की मर्यादा **२. द्रव्य** - खान, पान संबन्धी द्रव्यों की मर्यादा **३. विगय** - पांच विगयों में से विगय की मर्यादा **४. पन्नी** - पगरखी, चप्पल, जूते, मौजे आदि की मर्यादा **५. ताम्बूल** - मुखवास की मर्यादा **६. वस्त्र** - पहनने ओढ़ने के वस्त्रों की मर्यादा **७. कुसुम** - पुष्प, इत्र आदि की मर्यादा **८ वाहन** - कार, मोटर आदि वाहनों की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मर्यादा **९. शयन्** - सोने योग्य खाट, पलंग, बिस्तर की मर्यादा **१०. विलेपन्** - केशर, चन्दन, तेल, साबुन, अंजन आदि की मर्यादा **११. ब्रह्मचर्य** - चौथे अणुव्रत को भी संकुचित करना, कुशील की मर्यादा **१२. दिग्** - दिशाओं की मर्यादा **१३. स्नान** - स्नान की संख्या और जल की मर्यादा **१४. भक्त** - भोजन-पानी की मर्यादा, एक बार या दो बार तथा वस्तु का परिमाण करना।

प्रतिदिन चौदह नियम धारण करने को दसवें व्रत में गिना है क्योंकि चौदह नियम धारण करने से व्रतों का संक्षेप होता है और मर्यादित भूमि के उपरान्त आस्रव का त्याग होता है।

चौदह नियमों में से किसी एक नियम को प्रतिदिन धारण करना भी देशावकाशिक व्रत के अन्तर्गत है। किसी भी करण योग से मर्यादित भूमि के बाहर पांच आस्रव का त्याग दसवाँ व्रत है। सामायिक में सावद्य भाषा टालकर चौदह नियमों की धारणा की जा सकती है जैसे इतने द्रव्य उपरान्त त्याग आदि ।

दसवें व्रत के ५ अतिचार इस प्रकार हैं -

१. **आणवणप्पओगे** (आनयन प्रयोग) - मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर स्वयं न जा सकने से दूसरे को 'तुम यह चीज लेते आना' इस प्रकार संदेश आदि देकर वस्तु मंगाना 'आनयन प्रयोग' अतिचार है ।

२. **पेसवणप्पओगे** (प्रेष्य प्रयोग) - मर्यादित क्षेत्र से बाहर स्वयं जाने से मर्यादा का अतिक्रम हो जायेगा । इस भय से नौकर चाकर आदि आज्ञाकारी पुरुष को भेज कर कार्य कराना 'प्रेष्य प्रयोग' अतिचार है ।

३. **सद्दाणुवाए** (शब्दानुपात) - अपने घर की बाड़ या चहारदीवारी के अन्दर नियमित क्षेत्र से बाहर कार्य होने पर व्रती का व्रत भंग के भय से स्वयं बाहर न जाकर निकटवर्ती लोगों को छींक, खांसी आदि शब्द द्वारा ज्ञान कराना 'शब्दानुपात' अतिचार है ।

४. **रूवाणुवाए** (रूपानुपात) - नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर दूसरों को अपने पास बुलाने के लिए अपना या पदार्थ विशेष का रूप दिखाना 'रूपानुपात' अतिचार है।

५. **बहियापुग्गलपक्खेवे** (बहिः पुद्गल प्रक्षेप) - नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर दूसरों को जताने के लिए ढ़ेला, कंकर आदि फेंकना 'बहिःपुद्गल प्रक्षेप' कहलाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

११. प्रतिपूर्ण पौषध व्रत

ग्यारहवां व्रत-पडिपुण्ण पौषध-असणं पाणं खाइमं साइमं का पच्चक्खाण, अबंभ सेवन का पच्चक्खाण, अमुक मणि सुवर्ण का पच्चक्खाण, माला-वण्णग-विलेवण का पच्चक्खाण, सत्थ-मुसलादि-सावज्जजोग सेवन का पच्चक्खाण, जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि, मणसा, वयसा, कायसा, ऐसी मेरी सद्दहणा है प्ररूपणा है✪ पौषध का अवसर आये पौषध करूँ तब फरसना करके शुद्ध होऊँ एवं ग्यारहवां व्रत प्रतिपूर्ण पौषध के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोउं -अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय-सेज्जासंथारए, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय-सेज्जासंथारए, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय-उच्चार-पासवण-भूमि, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय-उच्चार-पासवण-भूमि, पोसहस्स सम्मं अणणु-पालणया, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

कठिन शब्दार्थ - **पडिपुण्ण** - प्रतिपूर्ण, **असणं** - अशन, **पाणं** - पान, **खाइमं** - खादिम, **साइमं** - स्वादिम, **अबंभ** - मैथुन, **अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय सेज्जा संथारए** - पौषध में शय्या-संथारा न देखा हो या अच्छी तरह न देखा हो, **अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय-सेज्जा संथारए** - पूंजा न हो या अच्छी तरह से पूंजा न हो, **अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय उच्चार पासवण भूमि** - उच्चार प्रस्रवण की भूमि न देखी हो या अच्छी तरह न देखी हो, **अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय-उच्चार पासवण भूमि** - उच्चार प्रस्रवण की भूमि पूंजी न हो या अच्छी तरह से पूंजी न हो, **पोसहस्ससम्मं अणणुपालणया** - पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन न किया हो।

भावार्थ - मैं प्रतिपूर्ण पौषध व्रत के विषय में एक दिन रात के लिए अशन, पान, खादिम और स्वादिम इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करता हूँ। अब्रह्म सेवन का, अमुक मणि सुवर्ण आदि के आभूषण पहनने का, फूलमाला पहनने का, सुगंधित चूर्ण और चंदन

✪ जब पौषध हों तब यह पाठ बोलें - ऐसी मेरी सद्दहणा है प्ररूपणा है पौषध की शुद्ध फरसना कर के शुद्ध होऊँ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आदि के लेप करने का, तलवार आदि शस्त्र और हल मूसल आदि औजारों से होने वाले सभी सावद्य व्यापार का मैं त्याग करता हूँ यावत् एक दिन रात तक पौषध व्रत का पालन करता हुआ मैं उन पाप क्रियाओं का मन, वचन, काया से सेवन नहीं करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा। ऐसी मेरी श्रद्धा और प्ररूपणा तो है किन्तु पौषध का समय आने पर जब उसका पालन करूँगा तब शुद्ध होऊँगा। यदि मैंने पौषध में शय्या संस्तारक का प्रतिलेखन प्रमार्जन न किया हो या अच्छी तरह न किया हो, मल मूत्र त्याग करने की भूमि का प्रतिलेखन प्रमार्जन न किया हो या अच्छी तरह नहीं किया हो तथा पौषध का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं किया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरे वे सब पाप निष्फल हो।

विवेचन - पौषध के दो प्रकार हैं- **१. प्रतिपूर्ण** - जिसमें चारों आहार छोड़े जायें और उपवास सहित अष्टप्रहर का हो **२. देश पौषध** - जिसमें पानी या चारों आहार किये जायें वह देश पौषध है। चार प्रहर आदि कोई भी काल मर्यादा। जिसमें मात्र पानी लिया जाता है उसे तिविहार पौषध कहते हैं। जिसमें चारों आहार किये जाते हैं, ऐसे पौषध को दया कहते हैं।

भगवती सूत्र शतक १२ उद्देशक १ में शंख श्रावक ने आठ प्रहर से कम का उपवास युक्त पौषध किया था तथा पुष्कली आदि श्रावकों ने खाते पीते पौषध किया था। जिसको अभी 'दया' कहते हैं।

सामायिक केवल एक मुहूर्त्त की होती है, जबकि पौषध कम से कम चार प्रहर का होता है, सामायिक में निद्रा और आहारादि का त्याग करना ही होता है, जब कि देश पौषध चार या अधिक प्रहर का होने से उसमें निद्रा भी ली जा सकती है और आहार भी किया जा सकता है। पौषध व्रत सामायिक का विशिष्ट बड़ा रूप है।

सामायिक अल्प काल की होती है अतः इन छूटों के बिना हो सकती है, यदि इनकी छूट सामायिक में दी जाय तो सामायिक में ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना नहीं हो सकेगी। पौषध विशेष काल का होने के कारण बिना छूट उसका पालन कठिन होता है।

शंका - पहले सामायिक ली हुई है और पौषध करना चाहे तो सामायिक में पौषध ले सकता है या नहीं?

समाधान - हाँ, ले सकता है क्योंकि पाल कर लेने से बीच में अव्रत लगता है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लेकिन जब तक सामायिक का समय पूर्ण न हो तब तक सामायिक के विशेष नियमों का ध्यान रखे । जैसे पैर फैलाना, सोना आदि नहीं करे।

शंका - पौषध में सामायिक करे या नहीं?

समाधान - आहार युक्त देश पौषध में सामायिक ली और पाली जा सकती है। पौषध के ५ अतिचार हैं जिनका अर्थ भावार्थ से स्पष्ट है।

१२. अतिथि संविभाग व्रत

बारहवाँ अतिथि-संविभाग व्रत-समणे णिग्गंथे फासुयएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइम-वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं पाडिहारिय पीढ-फलग-सेज्जा-संथारएणं ओसह-भेसज्जेणं पडिलाभेमाणे विहरामि, ऐसी मेरी सद्दहणा-प्ररूपणा तो है, साधु-साध्वी का योग मिलने पर निर्दोष दान दूं, तब फरसना कर के शुद्ध होऊँ एवं बारहवें व्रत अतिथि-संविभाग के पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तंजहा ते आलोउं - सचित्तनिक्खेवणया, सचित्तपिहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरियाए, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

कठिन शब्दार्थ - अतिथि - जिनके आने की तिथि नियत नहीं हैं, **संविभाग** - अपने लिए तैयार किये हुए भोजनादि में से कुछ हिस्सा देना, **समणे** - श्रमण साधु, **णिग्गंथे** - निर्ग्रन्थ - पंच महाव्रतधारी, **फासुय** - प्रासुक (अचित्त), **एसणिज्जेणं** - एषणीय (उद्गमादि दोष रहित), **पडिग्गह** - पात्र, **कंबल** - कम्बल, **पायपुंछणेणं** - पाद पोंछन (पांच पोंछने का रजोहरण आदि), **पाडिहारिय** - प्रातिहार्य - लौटा देने योग्य, **पीढ-फलग** - चौकी, पाटा, **सेज्जा संथारएणं** - शय्या के लिए संस्तारक तृण आदि का आसन, **ओसह** - औषध, **भेसज्जेणं** - भेषज, **पडिलाभेमाणे** - बहराता हुआ, **विहरामि**- रहता हूँ, **सचित्तनिक्खेवणया**- अचित्त वस्तु सचित्त वस्तु पर रक्खी हो, **सचित्तपिहणया** - अचित्त वस्तु सचित्त से ढँकी हो, **कालाइक्कमे** - साधुओं को भिक्षा देने का समय टाल दिया हो, **परववएसे** - आप सूझता होते हुए भी दूसरों से दान दिलाया हो, **मच्छरियाए** - मत्सर (ईर्ष्या) भाव से दान दिया हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावार्थ - मैं अतिथिसंविभाग व्रत का पालन करने के लिए निर्ग्रन्थ साधुओं को अचित्त, दोष रहित अशन-पान-खाद्य, स्वाद्य आहार का, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद पौंछन, चौकी, पट्टा, शय्या, संस्तारक, औषध-भेषज आदि का साधु-साध्वी का योग मिलने पर दान दूँ तब शुद्ध होऊँ, ऐसी मेरी श्रद्धा प्ररूपणा है। यदि मैं साधु को देने योग्य अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु पर रखा हो, अचित्त वस्तु को सचित्त वस्तु से ढंका हो, साधुओं को भिक्षा देने का समय टाल दिया हो, स्वयं सूझता होते हुए भी दूसरों से दान दिलाया हो, ईर्ष्या भाव से दान दिया हो तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ और चाहता हूँ कि मेरा वह सब पाप निष्फल हो।

विवेचन - जिनके आने की कोई तिथि या समय नियत नहीं है ऐसे पंच महाव्रतधारी निर्ग्रन्थ श्रमणों को उनके कल्प के अनुसार १ अशन २ पानी ३ खाद्य (खादिम) ४ स्वाद्य (स्वादिम) ५ वस्त्र ६ पात्र ७ कम्बल ८. पादपोंछन ९ पीठ १० फलक ११ शय्या (साधु-साध्वी के ठहरने का स्थान) १२ संस्तारक १३ औषध और १४ भेषज - ये चौदह प्रकार की वस्तुएँ निष्काम बुद्धि पूर्वक आत्म-कल्याण की भावना से देना तथा दान का संयोग न मिलने पर सदा ऐसी भावना रखना अतिथिसंविभाग व्रत है।

जिन वस्तुओं को साधु-साध्वी लेने के बाद वापस नहीं करते हैं उन्हें **"अपडिहारी"** (अप्रातिहार्य) वस्तुएँ कहते हैं । इसके आठ भेद हैं - १. अशन २. पान. ३. खाद्य ४. स्वाद्य ५. वस्त्र ६ पात्र ७. कम्बल और ८. पादपोंछन।

जिस वस्तु को साधु-साध्वी अपने उपयोग में लेकर कुछ काल तक रखकर बाद में वापस कर देते हैं उन्हें **"पडिहारी"** (प्रातिहार्य) कहते हैं । इसके छह भेद हैं - १. पीठ (चौकी) २. फलक (पाट) ३. शय्या (पौषधशाला, घर) ४. संस्तारक (तृण आदि का आसन) ५. औषध और ६. भेषज।

उपरोक्त चौदह प्रकार की अचित्त और दोष रहित वस्तुएँ साधु-साध्वियों को उनकी आवश्यकतानुसार देना, चौदह प्रकार का दान कहलाता है।

सूंठ, हल्दी, आंवला, हरड़, लवंग आदि असंयोगी द्रव्य "औषध" कहे जाते हैं । हिंगाष्टक चूर्ण, त्रिफला आदि संयोगी वस्तुएँ "भेषज" कहलाती हैं।

साधु-साध्यिां दान के उत्कृष्ट (उत्तम) पात्र हैं अतः उनका इस बारहवें व्रत में उल्लेख किया गया है । प्रतिमाधारी श्रावक, व्रतधारी श्रावक और सामान्य स्वधर्मी सम्यक्त्वी भी दान के पात्र हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बारहवें व्रत के पाँच अतिचार ये हैं –

१. सचित्त निक्खेवणया (सचित्त निक्षेप) – साधु को नहीं देने की बुद्धि से कपट पूर्वक अचित्त वस्तुओं को सचित्त पर रखना "सचित्त निक्षेप" कहलाता है । जैसे–रोटी के बर्तन को नमक आदि के बर्तन पर रखना, धोवन पानी के पात्र को सचित्त जल के घड़े पर रखना, खिचड़ी आदि को चूल्हे पर रखना, मिठाई आदि को हरी पत्तल पर रखना आदि ।

२. सचित्त पिहणया (सचित्त पिधान) – साधु को नहीं देने की बुद्धि से कपट पूर्वक अचित्त अन्न आदि को सचित फलादि से ढंकना सचित्त पिधान अतिचार है ।

३. कालाइक्कमे (कालातिक्रम) – उचित भिक्षा काल का अतिक्रमण करना कालातिक्रम अतिचार है । भोजन के समय द्वार बन्द रखना, स्वयं घर के बाहर रहना, रात्रि के समय दान की भावना भाना आदि कालातिक्रम अतिचार है ।

४. परव्वएसे (परव्यपदेश) – आहारादि अपना होने पर भी न देने की बुद्धि से उसे दूसरे का बताना परव्यपदेश अतिचार है तथा आप सूझता होते हुए भी दास नौकर आदि से दान दिलवाना, यह भी इसी अतिचार में आता है।

५. मच्छरियाए (मत्सरिता) – अमुक पुरुष ने दान दिया है, क्या मैं उससे कृपण या हीन हूँ ? इस प्रकार ईर्षा भाव से दान देने में प्रवृत्ति करना, विशिष्ट दानी कहलाने के लिए दान देना आदि मत्सरिता अतिचार है ।

इस व्रत को धारण करने वाले को मुख्य रूप से निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये –

१. भोजन बनाने वाले और करने वाले को सचित्त वस्तुओं के संघट्टे के बिना बैठना चाहिये।

२. घर में सचित्त-अचित्त वस्तुओं को अलग-अलग रखने की व्यवस्था होनी चाहिये।

३. सचित्त वस्तुओं का काम पूर्ण होने पर उनको यथा स्थान रखने की आदत होनी चाहिये।

४. कच्चे पानी के छींटे, हरी वनस्पति का कचरा व गुठलियां आदि को घर में नहीं बिखेरने की प्रवृत्ति रखनी चाहिये।

५. धोवन पानी के बारे में अच्छी जानकारी करके अपने घर में सहज बने अचित्त कल्पनीय पानी को तत्काल नहीं फैंकने की आदत रखनी चाहिये, उसे योग्य स्थान में रखना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

६. दिन में घर का दरवाजा खुला रखने की प्रवृत्ति रखनी चाहिये।

७. साधु मुनिराज घर में पधारें तो सूझता होने पर तथा मुनिराज के अवसर होने पर स्वयं के हाथ से दान देने की उत्कृष्ट भावना रखनी चाहिये।

८. साधुजी की गोचरी के विधि-विधान की जानकारी, उनकी संगति, चर्चा, शास्त्र स्वाध्याय से निरंतर बढ़ाते रहना चाहिये।

९. साधु मुनिराज गवेषणा करने के लिए कुछ भी पूछताछ करें तो झूठ नहीं बोलना चाहिये और उनकी गवेषणा से नाराज भी नहीं होना चाहिये ।

शंका - क्या सामायिक, पौषध वाला साधु साध्वी को आहार पानी आदि बहरा सकता है?

समाधान - सामायिक पौषध वाला खुले श्रावक से आहारादि वस्तु की याचना करके स्वयं के घर से या दूसरों के घर से साधुओं को बहरा सकता है । स्वयं के पास रहा हुआ उपकरण प्रमार्जनी, वस्त्र, पुस्तक आदि बिना किसी की आज्ञा से भी प्रतिलाभित कर सकता है।

बड़ी संलेखना का पाठ

अह भंते! अपच्छिम-मारणंतिय संलेहणा झूसणा आराहणा पौषध शाला पूंज कर उच्चारपासवण भूमिका पडिलेह कर गमणागमणे पडिक्कम कर, दर्भादिक संथारा संथार कर, दर्भादिक संथारा दुरूह कर, पूर्व या उत्तर दिशा सम्मुख पल्यंकादि आसन से बैठ कर करयल-संपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी "णमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं" ऐसे अनंत सिद्ध भगवान् को नमस्कार कर के "णमोत्थुणं अरहंताणं भगवंताणं जाव संपाविउकामाणं" जयवंते वर्तमान काले महाविदेह क्षेत्र में विचरते हुए तीर्थंकर भगवान् को नमस्कार कर के अपने धर्माचार्यजी को नमस्कार करता हूँ। साधु प्रमुख चारों तीर्थ को खमा के, सर्व जीव-राशि को खमा के, पहले जो व्रत आदरे हैं, उनमें जो अतिचार दोष लगे हों, वे सर्व आलोच के पडिक्कम कर के, निन्द के, निःशल्य हो कर के, सव्वं पाणाइवायं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पच्चक्खामि, सव्वं मुसावायं पच्चक्खामि, सव्वं अदिण्णादाणं पच्चक्खामि, सव्वं मेहुणं पच्चक्खामि, सव्वं परिग्गहं पच्चक्खामि, सव्वं कोहं माणं जाव मिच्छादंसणसल्लं, सव्वं अकरणिज्जं जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि, मणसा वयसा कायसा ऐसे अठारह पापस्थान पच्चक्ख के सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामि जावज्जीवाए ऐसे चारों आहार पच्चक्ख के, जं पि य इमं सरीरं इट्ठं, कंतं, पियं, मणुण्णं, मणामं, धिज्जं, विसासियं, संमयं, अणुमयं, बहुमयं, भण्डकरण्डगसमाणं, रयणकरंडगभूयं, मा णं सीयं, मा णं उण्हं, मा णं खुहा, मा णं पिवासा, मा णं वाला, मा णं चोरा, मा णं दंसमसगा, मा णं वाइय-पित्तिय-कप्फिय (सिंभिय) सण्णिवाइय, विविहा रोगायंका परिसहा उवसग्गा फासा फुसंतु एवं पि य णं चरमेहिं उस्सासणिस्सासेहिं वोसिरामि-त्ति कट्टु, ऐसे शरीर को वोसिरा के, कालं अणवकंखमाणे विहरामि, ऐसी मेरी सद्दहणा प्ररूपणा तो है, फरसना करूं तब शुद्ध होऊँ ऐसे अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा झूसणा आराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तंजहा ते आलोउं-इहलोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामभोगा संसप्पओगे, मा मज्झ हुज्ज मरणंते वि सड्ढा परूवणम्मि अण्णहा भावो, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

कठिन शब्दार्थ - **अह** - अथ, **अपच्छिम** - अंतिम - जिसके पश्चात् और कोई क्रिया करना शेष नहीं रहता, **मारणंतिय** - मृत्यु के समय की जाने वाली, **संलेहणा** - संलेखना-देह और कषायों को क्षीण करने की क्रिया, **झूसणा** - सेवन करना, **आराहणा** - अंतकाल तक आराधन करना, **उच्चारपासवण भूमिका** - मल-मूत्र त्यागने की भूमि, **पडिलेह**- देख करके, **दर्भादिक** - दर्भ (घास) आदि का, **दुरूह कर** - आरूढ़ होकर, **करयलसंपरिग्गहियं**- दोनों हाथ जोड़ कर, **सिरसावत्तं** - मस्तक से आवर्तन करके, **मत्थए**- मस्तक पर, **अंजलिं कट्टु** - हाथ जोड़ कर, **निःशल्य** - शल्य रहित, **करंतं पि अन्नं न**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समणुजाणामि - दूसरों को करते हुए भला भी नहीं समझूंगा, **जं पि य** - और भी जो, **इमं** - जानता हूँ, **सरीरं** - यह शरीर, **इट्ठं** - इष्ट, **कंतं** - कान्ति युक्त, **पियं** - प्रिय, **मणुण्णं** - मनोज्ञ, **मणामं** - अत्यन्त मनोहर, **धिज्जं** - धैर्यशाली, **विसासियं** - विश्वासनीय, **संमयं** - मानने योग्य (माननीय), **अणुमयं** - विशेष सम्मान को प्राप्त, अनुमोदनीय, **बहुमयं**- बहुत माननीय, **भण्डकरण्डगसमाणं** - आभूषणों के करण्डिये (करण्ड डिब्बा) के समान, **रयणकरण्डगभूयं**- रत्नों के करण्डि ये के समान, **मा णं** - न हो, **सीयं** - शीत (सर्दी), **उण्हं** - उष्णता, **खुहा** - क्षुधा, **पिवासा** - प्यास, **वाला** - सर्प का डसना (काटना), **चोरा** - चोर, **दंसमसगा** - डांस-मच्छर, **वाइय** - वात, **पित्तिय** - पित्त, **कप्फिय** - कफ, **सण्णिवाइयं**- सन्निपात, **विविहा** - अनेक प्रकार के, **रोगायंका** - रोग का आतंक, **परीसहा** - परीषह, **उवसग्गा** - उपसर्ग, **फासा फुसंतु** - स्पर्श करे, संबन्ध करे, **एवं पिय णं** - ऐसे इस शरीर को भी, **चरमेहिं** - अन्तिम, **उस्सासणिस्सासेहिं** - श्वासोच्छ्वास में, **कालं अणवकंखमाणे**- काल की आकांक्षा नहीं करता हुआ।

भावार्थ - मृत्यु का समय निकट आने पर संलेखना तप करने वाला पहले संथारे का स्थान निश्चित्त करे। वह स्थान निर्दोष - जीव जंतु और कोलाहल से रहित तथा शांत हो फिर उच्चार प्रस्रवण की भूमि (बड़ी नीत लघुनीत परठने का स्थान) देख कर निर्धारित करे। इसके बाद संथारे की भूमि का प्रमार्जन करे और उस पर दर्भ आदि का संथारा बिछाकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुंह करके बैठे। ईर्यापथिकी - गमनागमन का प्रतिक्रमण करे फिर दोनों हाथ जोड़ कर नमोत्थुणं के पाठ से सिद्ध भगवान् एवं अरहंत भगवान् की स्तुति करे। इसके बाद गुरुदेव को वंदना करके चतुर्विध तीर्थ से क्षमायाचना करते हुए संसार के सभी प्राणियों से क्षमायाचना करे। पहले धारण किये हुए व्रतों में जो अतिचार लगे हों उनकी आलोचना और निंदा करे। इसके बाद सर्व हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ यावत् मिथ्यादर्शन शल्य रूप अठारह पापों का एवं चारों आहार का त्याग करे तथा सम्पूर्ण पापजनक योग का तीन करण तीन योग से (मन, वचन, काया से पाप कार्य स्वयं करूँगा नहीं, कराऊँगा नहीं और करते हुए को भला भी नहीं समझूंगा) त्याग करे। तत्पश्चात् उत्साह पूर्वक शरीर त्याग की प्रतिज्ञा करता हुआ कहे कि - मेरा यह शरीर जो मुझे, इष्ट, कांत, प्रिय, मनोज्ञ, मनोहर, धैर्य देने वाला विश्वसनीय, माननीय, अनुमोदनीय, बहुत माना हुआ, आभूषणों के करंडिये के समान रत्न के करंडिये के समान सदैव लगता रहा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मैं सदैव यत्न करता रहा कि इसे कहीं शीत न लग जाय, गर्मी न लग जाय, इसे भूख प्यास न लगे, इस सर्प न काटे, चोरों का भय न हो, डांस मच्छर न काटें, वात, पित्त, कफ आदि के रोग न हो, सन्निपात आदि विविध भयंकर रोगों का आतंक परीषह उपसर्ग आदि पीड़ाएं नहीं आयें, ऐसे यत्नपूर्वक पाले-पोषे हुए इस शरीर से अपना ममत्व हटा कर मैं इसका त्याग करता हूँ और अंतिम श्वासोच्छवास तक इस शरीर से अपनेपन का त्याग करता हूँ और काल की इच्छा नहीं करता हुआ विचरता हूँ।

ऐसी मेरी श्रद्धा और प्ररूपणा है जब अंतिम समय आवे तब स्पर्शना द्वारा शुद्ध होऊँ। अंतिम मरण समय संबंधी सलेखना के विषय में कोई दोष लगा हो - मैंने राजा चक्रवर्ती आदि के इस लोक संबंधी सुख की आकांक्षा की हो, देव, इन्द्र आदि के परलोक संबंधी सुख की आकांक्षा की हो, प्रशंसा फैलने पर बहुत काल तक जीवित रहने की इच्छा की हो, दुःख से व्याकुल हो कर शीघ्र मरने की इच्छा की हो तथा कामभोग की अभिलाषा की हो, तो मैं उसकी आलोचना करता हूँ। मेरा वह सब पाप निष्फल हो।

विवेचन - आयुष्य पूरा होने पर आत्मा का शरीर से अलग होना अथवा शरीर से प्राणों का निकलना "मरण" कहलाता है। मरण दो प्रकार का बतलाया है - १. सकाम (पंडित) मरण और २. अकाम (बाल) मरण। ज्ञानी जीवों का मरण सकाम मरण होता है और अज्ञानी जीवों का मरण अकाम मरण होता है।

संलेखना एक प्रकार का तप है। संलेखना शरीर और कषाय को कृश करने वाला तप है।

तप से निम्न लाभ है - इहलोक दृष्टि से रोग मुक्ति होती है। शारीरिक मानसिक विकार नष्ट होते हैं । शरीर स्वस्थ बनता है । आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मदृढ़ता का विकास होता है। कर्म मल का विनाश होने से आत्मा निर्मल सशक्त बनती है। लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। कर्म रूपी कचरे को जलाने के लिए तप अग्नि का काम करता है ।

नित्य रात्रि को संलेखना करनी चाहिये। इसकी विधि भी मारणांतिक संलेखना के समान ही है। जहाँ **"विहरामि"** शब्द आया है उसके बाद "यदि पारूँ तो अनशन पालना कल्पता है, मर जाऊं तो जीवन पर्यन्त अनशन है" इतना कह देना चाहिये ।

निम्न दोहे से भी इसे ग्रहण किया जा सकता है :-

आहार शरीर उपधि, पचक्खूं पाप अट्ठार ।
जब तक मैं बोलूं नहीं, एक बार नवकार ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मारणांतिक संलेखना की विधि इस प्रकार है।

संलेखना का योग्य अवसर देख कर साधु-साध्वीजी की सेवा में या उनके अभाव में अनुभवी श्रावक-श्राविका के सम्मुख अपने व्रतों में लगे अतिचारों की निष्कपट आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिये। पश्चात् कुछ समय के लिए या यावज्जीवन के लिए आगार सहित अनशन लेना चाहिये। इसमें आहार और अट्ठारह पाप का तीन करण तीन योग से त्याग किया जाता है। यदि किसी का संयोग नहीं मिले तो स्वयं आलोचना कर संलेखना तप ग्रहण किया जा सकता है। यदि तिविहार अनशन ग्रहण करना हो तो **"पाण"** शब्द नहीं बोलना चाहिये। गादी, पलंग का सेवन, गृहस्थों द्वारा सेवा आदि कोई छूट रखनी हो तो उसके लिए आगार रख लेना चाहिये।

शंका - उपसर्ग के समय संलेखना कैसे करनी चाहिये ?

समाधान - जहां उपसर्ग उपस्थित हो, वहां की भूमि पूंज कर **"णमोत्थुणं से विहरामि"** तक पाठ बोलना चाहिये और आगे इस प्रकार बोलना चाहियें "यदि इस उपसर्ग से बचूं तो अनशन पालना कल्पता है, अन्यथा जीवन पर्यन्त अनशन है।"

शंका - क्या संलेखना, आत्महत्या है?

समाधान - संलेखना, आत्महत्या नहीं है। संलेखना का उद्देश्य आत्मघात करने का नहीं बल्कि आत्मगुण घातक अवगुणों के घात करने का है। संलेखना आत्मोत्थान की दृष्टि से की जाती है। यह आत्मशुद्धि और प्रायश्चित्त का महानतम व्रत है। यह घोर तप है और अंतिम घड़ियों में साधनाशील को चिरशांति प्रदान करने का प्रबल साधन है। आत्म-हत्या राग द्वेष एवं मोहवृत्ति से ही होती है। आत्मघात प्रायः लज्जा से, निराशा से, आवेश से किया जाता है। संथारे में प्राणनाश अवश्य हो जाता है परन्तु वह राग-द्वेष और मोह का कारण नहीं है। इसी कारण मारणांतिक संलेखना को हिंसा की कोटि में समाविष्ट नहीं किया जा सकता। संलेखना में प्रमाद का अभाव है क्योंकि इसमें रागादिक नहीं पाये जाते। रागादिक के अभाव के कारण ही संलेखना करने वाले को आत्मघात का दोष नहीं लगता।

जैसे कोई व्यक्ति समाज सेवा और राष्ट्रसेवा के लिए बलिदान हो जाता है तो हम उसके बलिदान को आत्महत्या नहीं मानते । इसी प्रकार जो व्यक्ति आत्मशुद्धि और आत्मोत्थान के लिए अपना तन और मन धर्म साधना हेतु न्यौछावर कर देता है उसके इस महान् त्याग को आत्म हत्या कैसे माना जा सकता है? आत्म हत्या निंदनीय अपराध है, कायरतापूर्ण अधम कार्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है जबकि संलेखना पवित्र, प्रशंसनीय और आत्मोत्थान का वीरोचित कार्य है। अतः संलेखना-संथारे को आत्महत्या नहीं मानना चाहिये। यदि कोई मानता है तो यह उसकी भूल है।

[तस्स धम्मस्स का पाठ]

[तस्स धम्मस्स केवलिपण्णत्तस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए विरओमि विराहणाए तिविहेणं पडिक्कंतो वंदामि जिण-चउव्वीसं ।]

कठिन शब्दार्थ - **तस्स धम्मस्स** - उस धर्म की, **केवलिपण्णत्तस्स** - केवली प्ररूपित, **अब्भुट्ठिओमि** - उद्यत होता हूं, **आराहणाए** - आराधना के लिये, **विरओमि** - निवृत्त होता हूं, **विराहणाए** - विराधना से, **तिविहेणं** - तीन योग से, **पडिक्कंतो**- प्रतिक्रमण करता हुआ, **जिणचउव्वीसं** - चौबीस तीर्थंकरों को।

भावार्थ - मैं उस केवली प्ररूपित धर्म की आराधना के लिए उद्यत होता हूँ, विराधना से निवृत्त होता हूँ और मन, वचन और काया द्वारा प्रतिक्रमण करता हुआ चौबीस तीर्थंकरों को वंदना करता हूँ।

पच्चीस मिथ्यात्व का पाठ

१. जीव को अजीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व, २ अजीव को जीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व, ३ धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व, ४ अधर्म को धर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व, ५. साधु को असाधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व, ६. असाधु को साधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व, ७. मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व, ८. संसार के मार्ग को मोक्ष का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व, ९. मुक्त को अमुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व, १०. अमुक्त को मुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व, ११ आभिग्रहिक मिथ्यात्व १२ अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व १३ आभिनिवेशिक मिथ्यात्व १४. सांशयिक मिथ्यात्व, १५. अनाभोग मिथ्यात्व, १६. लौकिक मिथ्यात्व, १७. लोकोत्तर मिथ्यात्व, १८ कुप्रावचनिक मिथ्यात्व १९ जिन धर्म से न्यून श्रद्धे तो मिथ्यात्व २०. जिन धर्म से अधिक श्रद्धे तो मिथ्यात्व, २१. जिन धर्म से विपरीत श्रद्धे तो मिथ्यात्व, २२. अक्रिया मिथ्यात्व,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२३. अज्ञान मिथ्यात्व, २४. अविनय मिथ्यात्व, २५. आशातना मिथ्यात्व। ऐसे पच्चीस प्रकार के मिथ्यात्व में से किसी मिथ्यात्व का सेवन किया हो, कराया हो, करते हुए का अनुमोदन किया हो, जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

विवेचन - मोहनीय कर्म के उदय से तत्त्वार्थ में श्रद्धा नहीं होना या विपरीत श्रद्धा होना, न्यूनाधिक श्रद्धना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के २५ भेदों का विवेचन इस प्रकार है -

१. जीव को अजीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व - जीव तत्त्व न मानना या जड़ से उत्पन्न मानना, पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि सम्मूर्च्छिम आदि को जीव नहीं मानना, अंडों एवं जलचर जीवों को खाद्य पदार्थ मानकर उनमें जीव नहीं मानना मिथ्यात्व है ।

२. अजीव को जीव श्रद्धे तो मिथ्यात्व - जिसमें जीव नहीं है उसमें जीव मानना। ईश्वर ने संसार की रचना की है ऐसा मानना। मूर्ति और चित्रादि को भगवान् मानना, सम्मान देना, हलन चलन करते पुद्गल स्कंधों को जीवाणु मानना । दही थूक आदि अजीव को जीव मानने रूप मिथ्यात्व है ।

३. धर्म को अधर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व - धर्म को अधर्म समझने का अर्थ है - परम मान्य सर्वज्ञ कथित सूत्रों को मिथ्या समझना, उनको कल्याणकारी नहीं मानना, धर्म के उपकरणों (वस्त्र, पात्र, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि) को परिग्रह मानकर अधर्म मानना, वायुकाय के जीवों की रक्षा के लिये मुख पर मुखवस्त्रिका बांधने को अधर्म मानना आदि धर्म को अधर्म मानना अभयदान आदि दान देने रूप, धर्म को अधर्म मानना नामक मिथ्यात्व है।

४. अधर्म को धर्म श्रद्धे तो मिथ्यात्व - अधर्म को धर्म समझने का अर्थ है - मिथ्या शास्त्रों को सम्यक्शास्त्र मानना, राग एवं विषय-वासना वर्द्धक ऐसे मिथ्या श्रुतों को भगवान् की वाणी समझना । वीतराग वाणी के विपरीत द्रव्य पूजन की प्रवृत्ति को धर्म प्रवृत्ति समझना आदि अधर्म को धर्म समझने रूप मिथ्यात्व है।

५. साधु को असाधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व - जिनकी श्रद्धा प्ररूपणा शुद्ध है, जो महाव्रत आदि श्रमण धर्म के पालक हैं ऐसे सुसाधु को असाधु समझना मिथ्यात्व है ।

६. असाधु को साधु श्रद्धे तो मिथ्यात्व - जो पांच महाव्रत पांच समिति तीन गुप्ति आदि से रहित हैं जिनकी श्रद्धा प्ररूपणा खोटी है जिनके आचरण सुसाधु जैसे नहीं हैं उन्हें लौकिक विशेषता के कारण या साधु वेश देख कर सुसाधु समझना मिथ्यात्व है ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७. मोक्ष के मार्ग को संसार का मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व - मोक्ष मार्ग- सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप की या संवर निर्जरा की अथवा दान, शील तप, भाव की मखौल (मजाक) उड़ाना, उसे बहुमान्य न समझ कर संसार का हेतु समझना मिथ्यात्व है ।

८. संसार के मार्ग को मोक्ष मार्ग श्रद्धे तो मिथ्यात्व - संसार मार्ग को मोक्ष मार्ग समझने का अर्थ है - मिथ्या श्रद्धा, ज्ञान, आचरण आदि को सम्यक् समझना, संसार बढ़ाने वाले लौकिक अनुष्ठानों को (यज्ञादि को) मोक्ष का हेतु समझना।

९. मुक्त को अमुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व - मुक्त आत्मा को संसार में लिप्त समझना, अर्हंत सिद्ध को कर्म मुक्त सुदेव नहीं मानना मिथ्यात्व है।

१०. अमुक्त को मुक्त श्रद्धे तो मिथ्यात्व - रागी-द्वेषी को मुक्त समझना-इतर पंथों के देव जो राग-द्वेष से युक्त हैं, अज्ञानवश उन्हें मुक्त समझना मिथ्यात्व है ।

११. आभिग्रहिक मिथ्यात्व - तत्त्व अतत्त्व की परीक्षा किये बिना ही पक्षपातपूर्वक, किसी तत्त्व को पकड़े रहना और अन्य पक्ष का खंड़न करना आभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है।

१२. अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व - गुण दोष की परीक्षा किये बिना ही सब धर्मों को बराबर समझना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व कहलाता है।

१३. आभिनिवेशिक मिथ्यात्व - अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी कदाग्रह वश पकड़े हुए असत् आग्रह को नहीं छोड़े, सत्य स्वीकार नहीं करे-ऐसे अतत्त्व के आग्रह को आभिनिवेशिक मिथ्यात्व कहते हैं।

१४. सांशयिक मिथ्यात्व - देव, गुरु, धर्म के विषय में अथवा तत्त्व के विषय में शंकाशील होना, सांशयिक मिथ्यात्व है । जिनागमों में निरूपित तत्त्व, मुक्तात्मा के स्वरूप अथवा जिनेश्वरों की वीतरागता सर्वज्ञतादि में संदेह करना, आगमों की अमुक बात सत्य है या असत्य - इस प्रकार की शंका करना सांशयिक मिथ्यात्व के उदय का परिणाम है।

सांशयिक मिथ्यात्व से बचने का एक मात्र उपाय जिनेश्वर के वचनों में दृढ़ विश्वास करना है। संशय उत्पन्न होने पर ऐसा विचार करना चाहिये कि - **"तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"** अर्थात वीतराग भगवन्तों ने जो फरमाया है वह सर्वथा सत्य है और नि:शंक है अत: उसमें शंका नहीं करनी चाहिये ।

१५. अनाभोगिक मिथ्यात्व - अनाभोग का अर्थ है - उपयोग का न होना। अत: बिना उपयोग जो मिथ्यात्व लगता है, उसे अनाभोग मिथ्यात्व कहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनाभोगिक मिथ्यात्व एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी जीवों को तथा ज्ञान विकल जीवों को होता है। अज्ञान के गाढ़ अंधकार में पड़े हुए जीवों को यह मिथ्यात्व लगता है। जिन जीवों को किसी भी प्रकार के मत का पक्ष नहीं होता है और जो धर्म-अधर्म का विचार ही नहीं कर सकते, वे अनाभोगिक मिथ्यात्वी हैं।

१६. लौकिक मिथ्यात्व - लौकिक देव देवियों को तारक देव, लौकिक गुरु (कलाचार्य आदि) को तारक गुरु और लौकिक धर्म (ग्राम धर्म आदि) को सही तारक धर्म समझना लौकिक मिथ्यात्व है।

१७. लोकोत्तर मिथ्यात्व - लोकोत्तर देव, गुरु, धर्म से सांसारिक (भौतिक) वस्तुओं की चाह (याचना) करना लोकोत्तर मिथ्यात्व कहलाता है।

१८. कुप्रावचनिक मिथ्यात्व - दर्शनान्तरीय (अन्यमतों वाले) प्रवर्तकों को सुदेव, इन मत के गुरुओं को सुगुरु एवं इन धर्मों का सुधर्म समझना कुप्रावचनिक मिथ्यात्व है।

शंका - लौकिक, लोकोत्तर और कुप्रावचनिक कौन-कौन से हैं?

समाधान - **लौकिक देव** - भैरव, भवानी, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, गुणशिलक, पूर्णभद्र, मुद्गरपाणि यक्ष आदि। **लौकिक गुरु** - वंशावली आदि लिखने वाले भाट, चारण आदि कुलगुरु एवं कलाचार्य शिक्षक आदि। **लौकिक धर्म** - ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म, समाज, न्याति आदि की व्यवस्थाएं।

लोकोत्तर देव - आत्म-कल्याणकारी धर्म प्रवर्तक देव - अर्हन्त (तीर्थंकर) सिद्ध भगवान्। **लोकोत्तर गुरु** - तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा में चलने वाले - निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, सम्यग्दृष्टि। **लोकोत्तर धर्म** - अर्हन्त (तीर्थंकर) प्रणीत अहिंसा, संयम, तप के लक्षण वाला निर्ग्रन्थ प्रवचन।

कुप्रावचनिक देव - ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, बुद्ध, गोशालक यीशु, कबीर, मोहम्मद आदि। **कुप्रावचनिक गुरु** - परिव्राजक, संन्यासी, तापस, बौद्ध भिक्षु (दलाई लामा) पादरी, मुल्ला, आजीवक भिक्षु, ब्रह्माकुमारी, वैदिक धर्म के आचार्य आदि। **कुप्रावचनिक धर्म** - उपर्युक्त कुप्रावचनिक देव गुरु की मान्यता विधि - विधान आदि।

१९. जिन धर्म से न्यून श्रद्धे तो मिथ्यात्व - जिनेश्वर भगवान् द्वारा प्ररूपित सिद्धान्त से कुछ भी कम मानना, इसी प्रकार प्ररूपणा तथा फरसना में कमी करना, न्यून करण मिथ्यात्व है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२०. जिन धर्म से अधिक श्रद्धे तो मिथ्यात्व - जिन प्रवचन से अधिक मानना मिथ्यात्व है। निर्ग्रंथ प्रवचन की मर्यादा से अधिक प्ररूपणा आदि करने, सैद्धांतिक मर्यादा का अतिक्रमण करने, आगम पाठों में वृद्धि करने आदि से यह मिथ्यात्व लगता है ।

२१. जिन धर्म से विपरीत श्रद्धे तो मिथ्यात्व - जिन मार्ग से विपरीत श्रद्धा- सुदेव, सुगुरु और सुधर्म से विपरीत श्रद्धा प्ररूपणा करना, निर्ग्रन्थ प्रवचन से विपरीत प्रचार करना, सावद्य एवं संसारलक्षी प्रवृत्ति करना या उसका प्रचार करना, सावद्य प्रवृत्ति में धर्म मानना, विपरीत मिथ्यात्व है ।

२२. अक्रिया मिथ्यात्व - सम्यक् चारित्र की उत्थापना करते हुए एकान्तवादी बन कर आत्मा को अक्रिय मानना, चारित्रवानों को "क्रिया जड़" कह कर तिरस्कार करना, अक्रिया मिथ्यात्व कहलाता है ।

२३. अज्ञान मिथ्यात्व - ज्ञान को बन्ध और पाप का कारण मान कर अज्ञान को श्रेष्ठ मानना । "ज्ञान व्यर्थ है, जाने वह ताने, भोले का भगवान् है" - इस प्रकार कहना अज्ञान मिथ्यात्व है ।

२४. अविनय मिथ्यात्व - पूजनीय देव, गुरु और धर्म का विनय नहीं करके अविनय करना उनकी आज्ञा का उल्लंघन करना अविनय मिथ्यात्व है । यह मिथ्यात्व गुण और गुणीजनों के प्रति अश्रद्धा होने पर उत्पन्न होता है । अश्रद्धा होने से ही अविनय होता है इसलिए अविनय भी मिथ्यात्व है ।

२५. आशातना मिथ्यात्व - आशातना का अर्थ है - विपरीत होना, प्रतिकूल व्यवहार करना, विरोधी हो जाना, निन्दा करना । देव, गुरु और धर्म की आशातना करना, इनके प्रति ऐसा व्यवहार करना कि जिससे ज्ञानादि गुणों और ज्ञानियों को ठेस पहुँचे।

अर्हंत भगवान् ने जो मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है उसका यही उद्देश्य है कि भव्य जीव सुखपूर्वक मोक्ष नगर में पहुँचे, हिंसादि मय कुमार्ग, हिंसा मिश्रित कुमार्ग या लौकिक सुखप्रद पुण्यमार्ग में भटक न जावें या अन्य इन्हें भटका न दें । संसार परिभ्रमण से बचें ।

सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति के स्थान का पाठ

१. उच्चारेसु वा २. पासवणेसु वा ३. खेलेसु वा ४. सिंघाणेसु वा ५. वंतेसु वा ६. पित्तेसु वा ७. पूएसु वा ८. सोणिएसु वा ९. सुक्केसु वा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१०. सुक्कपुग्गल परिसाडेसु वा ११. विगयजीवकलेवरेसु वा १२ इत्थीपुरिस संजोगेसु वा १३. णगरणिद्धमणेसु वा १४. सव्वेसु चेव असुइ-ठाणेसु वा। इन चौदह स्थानों में उत्पन्न होने वाले सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की विराधना की हो जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

कठिन शब्दार्थ - **उच्चारेसु** - मनुष्यों की विष्ठा (मल) में, **पासवणेसु** - मूत्र में, **खेलेसु** - कफ में, **सिंघाणेसु** - नाक के मैल (श्लेष्म) में, **वंतेसु** - वमन (उल्टी) में, **पित्तेसु** - पित्त में, **सोणिएसु** - रक्त (खून) में, **पूएसु** - पीप (राध) में, **सुक्केसु** - पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज में, **सुक्कपुग्गल परिसाडेसु** - वीर्य के सूखे हुए पुद्गल पुनः गीले होने पर उनमें पैदा होने वाले, **इत्थीपुरिस संजोगेसु** - स्त्री पुरुष के संयोग (मैथुन) में, **विगयजीवकलेवरेसु** - जीव रहित मनुष्य के शरीरों में, **णगरणिद्धमणेसु** - नगर की नालियों - गटरों में, **सव्वेसु चेव असुइ-ठाणेसु वा** - सभी अशुचि स्थानों में उत्पन्न होने वाले सम्मूर्च्छिम जीव।

भावार्थ - सम्मूर्च्छिम मनुष्यों के उत्पन्न होने के चौदह स्थान इस प्रकार हैं - १. उच्चार (विष्ठा) २. मूत्र ३. खेंखार ४. नाक का मैल (श्लेष्म) ५. वमन ६. पित्त ७. पीप ८. रुधिर ९. वीर्य १०. सुखी हुई अशुचि फिर गीली हो जाय उसमें ११. मनुष्य के कलेवर (शव) में १२ स्त्री-पुरुष के संयोग में १३. नगर के खाल में १४. मनुष्य के सभी अशुचि के स्थानों में। इन चौदह स्थानों में उत्पन्न होने वाले सम्मूर्च्छिम जीवों की विराधना की हो तो उसका पाप मिथ्या (निष्फल) हो।

विवेचन - संज्ञी मनुष्यों के मल-मूत्र आदि अशुचि में उत्पन्न होने वाले मनुष्य संमूर्च्छिम मनुष्य कहलाते हैं । ये बिना गर्भ के उत्पन्न होते हैं।

शंका - **'सव्वेसु चेव असुइठाणेसु'** से क्या आशय समझना चाहिये?

समाधान - एक से तेरह स्थानों में से दो, तीन, चार आदि बोल शामिल करने से जीवों की उत्पत्ति हो तो वह इस अन्तिम भेद में गिना जाता है।

श्रमण सूत्र के पाठों के विषय में चर्चा

शंका - श्रमण नाम साधु का है, इसलिए श्रमण सूत्र साधु को ही पढ़ना उचित हैं या श्रावक को भी?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाधान - श्रमण साधु का ही नाम है ऐसा संकुचित अर्थ शास्त्र सम्मत नहीं है। व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र के बीसवें शतक के आठवें उद्देशक में कहा है - **"तित्थं पुण चाउव्वण्णा- इण्णे समणसंघे तंजहा - समणा, समणीओ, सावगा, साचियाओ"** अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक-श्राविका इन चारों को श्रमण संघ कहते हैं। यद्यपि व्यवहार में श्रमण, साधु का ही नाम है तथापि भगवान् ने तो चारों तीर्थों को ही श्रमण संघ के रूप में कहा है। इस आप्त वाक्य को प्रत्येक मुमुक्षु को मानना चाहिए।

शंका - श्रमण सूत्र में साधु के आचार का ही कथन है, इसलिए साधु को ही पढ़ना उचित है, श्रावक के लिए उसका क्या उपयोग है?

समाधान - श्रावक कृत अनेक धर्म क्रियाओं में श्रमण सूत्र के पाठ परम उपयोगी होते हैं। उदाहरण के लिए - १. जब श्रावक पौषधव्रत में या संवर में निद्राग्रस्त होते हैं तब निद्रा में लगे हुए दोषों से निवृत्त होने के लिए श्रमण सूत्र का प्रथम पाठ **"इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए"** कहना चाहिए। निद्रा के दोषों से निवृत्त होने का अन्य कोई पाठ नहीं है।

२. ग्यारहवीं पडिमाधारी श्रावक भिक्षोपजीवी ही होते हैं तथा कई स्थानों पर दयाव्रत का पालन करने वाले श्रावक भी गोचरी करते हैं। उसमें लगे हुए दोषों की निवृत्ति करने के लिए दूसरा पाठ **"पडिक्कमामि गोयरग्गचरियाए"** कहना पड़ता है।

३. श्रावक-श्राविका ने सामायिक, पौषधव्रत में मुँहपत्ति तथा वस्त्र, पूंजनी आदि का प्रतिलेखन नहीं किया हो तो उस दोष की निवृत्ति करने के लिए तीसरा पाठ **"पडिक्कमामि चउकालं सज्झायस्स अकरणयाए"** कहना चाहिये।

४. चौथे पाठ में "एक बोल से लगाकर तेतीस बोल" तक कहे हैं। वे सब ही ज्ञेय (जानने योग्य) है कुछ हेय (छोड़ने योग्य) और कुछ उपादेय (स्वीकारने योग्य) है। अतः इन बोलों का ज्ञान भी श्रावकों के लिए आवश्यक है।

५. पांचवां पाठ **"निर्ग्रन्थ प्रवचन" (नमो चउवीसाए)** का हैं जिसमें जिन प्रवचन (शास्त्र) की एवं जैनमत की महिमा है तथा आठ बोलों में हेय-उपादेय का कथन है। वह भी श्रावकों के लिए परमोपयोगी है।

इस प्रकार श्रमण सूत्र में एक भी विषय या पाठ ऐसा नहीं है जो कि श्रावक के लिए अनुपयोगी हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शंका - श्रावक, श्रमण सूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे या करते हैं, इसका कोई प्रमाण है क्या?

समाधान - बारह वर्षों के महादुष्काल से धर्मस्खलित जैनों के पुनरुद्धारक श्रावक श्रेष्ठ श्री लोंकाशाह गुजरात देश के अहमदाबाद शहर में हुए। उस देश में अर्थात् गुजरात झालावाड़, काठियावाड़, कच्छ आदि देशों में छह कोटि एवं आठ कोटि वाले सभी श्रावक श्रमण सूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे एवं करते हैं। सनातन जैन साधुमार्गी समाज के पुनरुद्धारक परम पूज्य श्री लवजी ऋषिजी महाराज के तृतीय पाट पर विराजित हुए परम पूज्य श्री कहनाजी ऋषिजी महाराज की सम्प्रदाय के श्रावक श्रमण सूत्र बोलते हैं। बाईस संप्रदाय के मूलाचार्य परम पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज की सम्प्रदाय के श्रावक श्रमण सूत्र सहित प्रतिक्रमण करते हैं।

उपर्युक्त शंका-समाधान से सिद्ध होता है कि **श्रावक को श्रमण सूत्र सहित प्रतिक्रमण करना चाहिए।** श्रमण सूत्र के पाठों के बिना श्रावक की क्रिया पूरी तरह शुद्ध नहीं हो सकती है। क्योंकि श्रावकों को अवश्य जानने योग्य विषय और आचरण करने योग्य विषय श्रमण सूत्र में है। प्राचीन काल के श्रावक श्रमण सूत्र सहित प्रतिक्रमण करते थे, वर्तमान में भी कुछ श्रावक श्रमण सूत्र सहित प्रतिक्रमण करते हैं और जो श्रमण सूत्र सहित प्रतिक्रमण नहीं करते हैं, उन्हें भी करना चाहिए।

ढ़ाई द्वीप का पाठ

ढ़ाई द्वीप पन्द्रह क्षेत्र में तथा बाहर श्रावक-श्राविका दान देवे, शील पाले, तपस्या करे, शुभ भावना भावे, संवर करे, सामायिक करे, पौषध करे, प्रतिक्रमण करे, तीन मनोरथ चिन्तवे, चौदह नियम चित्तारे, जीवादि नव पदार्थ जाने, श्रावक के इक्कीस गुण कर के युक्त, एक व्रतधारी जाव बारह व्रतधारी, भगवन्त की आज्ञा में विचरे ऐसे बड़ों को हाथ जोड़ पांव पड़ के क्षमा माँगता हूं। आप क्षमा करें आप क्षमा करने योग्य हैं और शेष सभी से क्षमा मांगता हूँ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिक्रमण करने की विधि

(१)

निरवद्य स्थान में विधि पूर्वक सामायिक करें। यदि कारणवशात् (रेल आदि में) सामायिक न कर सकें तो संवर धारण करें। फिर खड़े होकर शासनपति भगवान् महावीर स्वामी को या गुरु महाराज विराजित हों तो उन्हें **गुरु वन्दन सूत्र** (तिक्खुत्तो के पाठ) से तीन बार वन्दना कर के क्षेत्र विशुद्धि के लिये **'चउवीसत्थव'** की आज्ञा लें। चउवीसत्थव में **नमस्कार सूत्र, आलोचना सूत्र** (इच्छाकारेणं का पाठ) और **उत्तरीकरण सूत्र** (तस्सउत्तरी का पाठ) कहकर काउस्सग्ग करें। काउस्सग्ग में चार ✣ **चतुर्विंशतिस्तव सूत्र** (लोगस्स) का ध्यान करें। **'णमो अरहंताणं'** कह कर काउस्सग्ग पारें। फिर **काउस्सग्ग शुद्धि का पाठ** बोलकर एक **चतुर्विंशतिस्तव सूत्र** प्रकट बोले। फिर नीचे बैठकर बायां घुटना खड़ा

✣ अनेक प्रकार के चउवीसत्थ होते हैं। उनमें अलग-अलग प्रकार से कायोत्सर्गों की विधि बताई गई है। **'जिनकल्प'** गाथा १८-२२ में कायोत्सर्ग की विधि इस प्रकार बताई गई है -

गमणागमणं विहारे सूयम्मि सावज्ज - सुविणयाईसु।
नावा नइसंतारे, पायच्छित्त विउस्सग्गे॥१८॥
भत्तेपाणे सयणासयणे य, अरहंत समण सेज्जासु।
उच्चारे पासवणे, पणवीसं होंति उसासा॥१९॥
हत्थसया बहिरओ, गमणागमण इएसु पणवीसं।
पाणी वहाई-सुविणे, सयमट्ठसयं चउत्थम्मि॥२०॥
देसिय-राइय-पक्खिय, चाउम्मास चरिमेसु परिमाणं।
सयमद्धं तिण्णीसया, पंचसयऽट्ठुत्तरं सहस्सं॥२१॥
उद्देस समुद्देसे, सत्तावीसं अणुण्णवणियाए।
अट्ठेव य उसासा, पट्ठवणं पडिक्कमणाइं॥२२॥

इन गाथाओं में १-४ आदि लोगस्स के कायोत्सर्ग का वर्णन है। स्वप्नान्तक, प्राणवध आदि का चार लोगस्स का कायोत्सर्ग बताया है। इस आधार से मानसिक प्रमादजन्य अतिचारों की शुद्धि के लिए पूज्य श्री धर्मदासजी म. सा. की परम्परा में चार लोगस्स का चउवीसत्थव करने की परम्परा रही हुई है, जो उचित ही प्रतीत होती है। अतः प्रतिक्रमण के चउवीसत्थव में चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करना प्रामाणिक लगता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रख कर **प्रणिपात सूत्र** (णमोत्थुणं) का पाठ दो बार बोले। गुरु के सम्मुख या पूर्व-उत्तर दिशा में मुंह करके गुरु वन्दन सूत्र से तीन बार वन्दन करके प्रतिक्रमण करने की आज्ञा लेवें । प्रतिक्रमण में -**'इच्छामि णं भंते'** का पाठ और **'नमस्कार सूत्र'** बोलें फिर प्रथम आवश्यक की आज्ञा लेकर खड़े रह कर -

१. **प्रतिज्ञा सूत्र** (करेमि भंते) **इच्छामि ठामि, उत्तरीकरण सूत्र** (तस्स उत्तरी का पाठ) बोल कर कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित होकर कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग में ९९ अतिचार (आगमे तिविहे, दर्शन सम्यक्त्व, बारह व्रतों के अतिचार, छोटी संलेखना) व अठारह पाप का चिंतन करें। सब पाठों के अन्त में **'तस्स मिच्छामि दुक्कडं'** के स्थान पर **'तस्स आलोउं'** कहें, **'णमो अरहंताणं'** कहकर काउस्सग्ग पारें । काउस्सग्ग शुद्धि का पाठ बोलकर पहला आवश्यक समाप्त करें । दूसरे आवश्यक की आज्ञा लेवें ।

२. दूसरे आवश्यक में एक **चतुर्विंशतिस्तव सूत्र** प्रकट कहें। फिर तीसरे आवश्यक की आज्ञा लेवें।

३. तीसरे आवश्यक में **द्वादशावर्त्त गुरु वन्दन सूत्र** (इच्छामि खमासमणो) का पाठ दो बार बोलें। (खमासमणो की पूरी विधि पृष्ठ ४८-५० पर देखें) फिर चौथे आवश्यक की आज्ञा लेवें।

४. चौथे आवश्यक में खड़े होकर **आगमे तिविहे, दर्शन सम्यक्त्व** और **बारह व्रतों के अतिचार** सहित सम्पूर्ण पाठ कहें फिर पर्यंकासन से बैठ कर दोनों हाथ जोड़ मस्तक पर दसों अंगुलियां स्थापन कर बड़ी संलेखना का पाठ बोलकर समुच्चय का पाठ बोलें । तत्पश्चात् **अठारह पापस्थानक, पच्चीस मिथ्यात्व, चौदह संमूर्च्छिम स्थान का पाठ** बोलें फिर तीन बार वन्दना करके श्रमणसूत्र की आज्ञा लेकर बायां घुटना पृथ्वी पर रख कर और दायां घुटना ऊँचा रखकर दोनों हाथ जोड़कर **नमस्कार सूत्र, प्रतिज्ञा सूत्र** (करेमि भंते का पाठ) **चत्तारि मंगलं का पाठ, इच्छामि ठामि ✣, इच्छाकारेणं** के पाठ कहें फिर **शय्या सूत्र** (इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसिज्जाए), **गोचरचर्या सूत्र** (पडिक्कमामि गोयरचरियाए), **काल प्रतिलेखना सूत्र** (पडिक्कमामि चाउक्कालं सज्झायस्स), **तेतीस बोल** का पाठ कहें

✣ "इच्छामि ठामि काउस्सग्गं" के स्थान पर "इच्छामि पडिक्कमिउं" बोलें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्पश्चात् दोनों घुटने खड़े रख कर दोनों हाथ जोड़ कर और सिर झुका कर **निर्ग्रंथ प्रवचन** (नमो चउवीसाए) का पाठ बोलते हुए '**अब्भुट्ठिओमि**' शब्द से खड़े हो कर पूरा पाठ बोलें। फिर दो बार द्वादशावर्त्त गुरु वन्दन सूत्र का पाठ कहें। पश्चात् दोनों घुटने नमाकर घुटनों के ऊपर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक को नीचा नमा कर एक नमस्कार सूत्र कह कर पाँच पदों की वन्दना कहें । फिर पालकी आसन से बैठकर **अनंत चौबीसी आदि दोहे, आयरिय उवज्झाए, ढाई द्वीप, चौरासी लाख जीवयोनि, क्षमापना का पाठ व अठारह पापस्थान** कह कर चौथा आवश्यक पूरा करें। पांचवें आवश्यक की आज्ञा लेवें ।

५. पांचवें आवश्यक में '**प्रायश्चित्त का पाठ**' **एक नमस्कार सूत्र, प्रतिज्ञा सूत्र, इच्छामि ठामि** और **उत्तरीकरण सूत्र** बोल कर कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग में **चतुर्विंशतिस्तव सूत्र** का ध्यान करें। कायोत्सर्ग में दैवसिक प्रतिक्रमण में ४ लोगस्स का, रात्रिक प्रतिक्रमण में ४ लोगस्स का, पाक्षिक प्रतिक्रमण में १२ लोगस्स का, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण में २० लोगस्स का एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में ४० लोगस्स तथा एक नमस्कार सूत्र का ध्यान करना चाहिए (इसका विशेष वर्णन पृष्ठ १२५ पर देखें)। '**णमो अरहंताणं**' कह कर काउस्सग्ग पारें। काउस्सग्ग शुद्धि का पाठ बोल कर एक लोगस्स प्रकट कह कर दो बार '**द्वादशावर्त्त गुरु वन्दन सूत्र**' बोलें। फिर छठे आवश्यक की आज्ञा लेवें।

६. छठे आवश्यक में खड़े होकर साधुजी महाराज से अपनी शक्ति अनुसार पच्चक्खाण करें । यदि साधुजी महाराज न हों तो बड़े श्रावक जी से पच्चक्खाण करें । यदि वे भी न हों तो फिर स्वयमेव '**गंठिसहियं मुट्ठिसहियं**' का पाठ बोलकर पच्चक्खाण करें। '**प्रतिक्रमण का सम्मुच्चय पाठ**' बोलकर बायां घुटना खड़ा करके दो बार '**प्रणिपात सूत्र**' कहें। फिर तीन बार वन्दना करके अपने स्वधर्मी भाइयों को खमावें। फिर स्वाध्याय, चौबीसी और स्तवन आदि के द्वारा आत्म-गुणों में वृद्धि करें ।

नोट - चातुर्मासी व संवत्सरी के दिन दो प्रतिक्रमण किये जाते हैं (ज्ञाता सूत्र अध्ययन ५)। प्रथम दैवसिक प्रतिक्रमण चार आवश्यक तक ही किया जाता है बाद में चातुर्मासिक एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण की आज्ञा लेकर छहों आवश्यक (चउवीसत्थव को छोड़ कर) किये जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(२)

श्रमण सूत्र (निद्रादोष निवृत्ति आदि पाठ) जिनको याद न हों वे प्रतिक्रमण इस प्रकार कर सकते हैं -

चउवीसत्थव करने के बाद गुरु के सम्मुख या पूर्व उत्तर-दिशा में मुँह करके **'गुरु वन्दन सूत्र'** से तीन बार वन्दन करके प्रतिक्रमण करने की आज्ञा लेवें। प्रतिक्रमण में **'इच्छामि णं भंते'** का पाठ और **'नमस्कार सूत्र'** बोलें फिर प्रथम आवश्यक की आज्ञा लेकर खड़े रह कर

१. **प्रतिज्ञा सूत्र** (करेमि भंते), **इच्छामि ठामि, उत्तरीकरण सूत्र** (तस्स उत्तरी का पाठ) बोलकर कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित होकर कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग में ९९ अतिचार **(आगमे तिविहे, दर्शन सम्यक्त्व, बारह व्रतों के अतिचार, छोटी संलेखना)** व **अठारह पाप** का चिन्तन करें। सब पाठों के अन्त में **'तस्स मिच्छामि दुक्कडं'** के स्थान पर **'तस्स आलोउं'** कहें, **'णमो अरहंताणं'** कहकर काउस्सग्ग पारें। काउस्सग्ग शुद्धि का पाठ बोल कर पहला आवश्यक समाप्त करें। दूसरे आवश्यक की आज्ञा लेवें।

२. दूसरे आवश्यक में एक **चतुर्विंशतिस्तव सूत्र** प्रकट कहें। फिर तीसरे आवश्यक की आज्ञा लेवें ।

३. तीसरे आवश्यक में **द्वादशावर्त्त गुरु वन्दन सूत्र** (इच्छामि खमासमणो) का पाठ दो बार बोलें । (खमासमणो की पूरी विधि पृष्ठ ४८-५० पर देखें ।) फिर चौथे आवश्यक की आज्ञा लेवें ।

४. 'श्रावक सूत्र' करने वाले खड़े होकर ९९ अतिचार के पाठों - (आगमे तिविहे, दर्शन सम्यक्त्व, बारह व्रतों के अतिचार छोटी संलेखना) समुच्चय का पाठ व अठारह पाप प्रकट कहें फिर **'तस्स सव्वस्स'** का पाठ बोल कर तीन बार वन्दना कर श्रावक सूत्र की आज्ञा लें और दाहिना घुटना खड़ा रख कर बैठे । फिर **एक नमस्कार सूत्र, प्रतिज्ञा सूत्र, चत्तारि मंगलं, इच्छामि ठामि का पाठ ★, इच्छाकारेणं, आगमे तिविहे, दंसण समकित** और **बारह व्रतों** के अतिचार सहित सम्पूर्ण पाठ कहें। तत्पश्चात् पालखी आसन से बैठकर

★ "**इच्छामि ठामि काउस्सग्गं**" के स्थान पर "**इच्छामि पडिक्कमिउं**" बोलें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बड़ी संलेखना का पाठ कहें। फिर खड़े हो कर '**तस्स धम्मस्स**' का पाठ कह कर दो बार '**द्वादशावर्त सूत्र**' कहें ।

पश्चात् दोनों घुटने नमा कर घुटनों के ऊपर दोनों हाथ जोड़ कर मस्तक को नीचा नमाकर एक नमस्कार-सूत्र कहकर **पांच पदों की वन्दना** कहें । फिर नीचे बैठ कर अनन्त चौबीसी आदि दोहे, **आयरिय उवज्झाए, ढाई द्वीप, चौरासी लाख जीवयोनि, क्षमापना का पाठ** व **अठारह पापस्थान** कहकर चौथा आवश्यक पूरा करें। पांचवें आवश्यक की आज्ञा लेवें ।

५. पांचवें आवश्यक में **प्रायश्चित्त का पाठ**, एक **नमस्कार सूत्र, प्रतिज्ञा सूत्र, इच्छामि ठामि** और **उत्तरीकरण सूत्र** बोल कर कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग में **चतुर्विंशतिस्तव सूत्र** का ध्यान करें। (इसका विषेश वर्णन पृष्ठ १२५ पर देखें) '**णमो अरहंताणं**' कह कर काउस्सग्ग पारे। काउर्स्सग्ग शुद्धि का पाठ बोलकर एक लोगस्स प्रकट कहकर दो बार **द्वादशावर्त्त गुरु वन्दन सूत्र** बोलें। फिर छठे आवश्यक की आज्ञा लेवें।

६. छठे आवश्यक में खड़े होकर साधुजी महाराज से अपनी शक्ति अनुसार पच्चक्खाण करें। यदि साधुजी महाराज न हों तो बड़े श्रावकजी से पच्चक्खाण करें। यदि वे भी न हों तो फिर स्वयमेव '**गंठिसहियं मुट्ठिसहियं**' का पाठ बोल कर पच्चक्खाण करें। '**प्रतिक्रमण का समुच्चय पाठ**' बोल कर बायां घुटना खड़ा करके दो बार प्रणिपात सूत्र कहें। फिर तीन बार वन्दना करके अपने स्वधर्मी भाइयों को खमावें। फिर स्वाध्याय, चौबीसी और स्तवन आदि के द्वारा आत्म-गुणों में वृद्धि करें।

॥ द्वितीय परिशिष्ट समाप्त ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट तृतीय

आवश्यक सम्बन्धी विशेष विचारणा

१. आवश्यक का शब्दार्थ

(अ) **'अवश्यं करणाद् आवश्यकम्'** - अर्थात् जो अवश्य किया जाय वह आवश्यक है। साधु और श्रावक दोनों ही नित्यप्रति अर्थात् दिन और रात्रि के अन्त में सामायिकादि की साधना करते हैं अतः वह साधना आवश्यक कहलाती है। अनुयोगद्वार सूत्र में भी कहा है -

समणेण सावएण य, अवस्स कायव्वयं हवइ जम्हा।
अंतो अहो-निसस्स य, तम्हा आवस्सयं नाम॥

(आवश्यक वृत्ति गाथा २ पृष्ठ ५३)

(आ) **'आपाश्रयो वा इदं गुणानाम्, प्राकृतशैल्या आवस्सयं'** - अर्थात् प्राकृत भाषा में आधारवाचक आपाश्रय शब्द भी 'आवस्सय' कहलाता है। जो गुणों की आधारभूमि हो, वह आवस्सय-आपाश्रय है। आवश्यक आध्यात्मिक समता, नम्रता, आत्म-निरीक्षण आदि सद्गुणों का आधार है, अतः वह आपाश्रय भी कहलाता है।

(इ) **'गुणानां वश्यमात्मानं करोतीति'** - जो आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर गुणों के अधीन करे, वह आवश्यक है। अथवा - **'ज्ञानादि गुणानाम् आसमन्ताद्वश्या इन्द्रिय कषायादि भावशत्रवो यस्मात् तद् आवश्यकम्।'** - अर्थात् आचार्य मलयगिरि कहते हैं कि - इन्द्रिय और कषाय आदि भाव शत्रु जिस साधना के द्वारा ज्ञानादि गुणों के वश्य किये जायँ अर्थात् पराजित किये जायँ, वह आवश्यक है।

(ई) **ज्ञानादि गुण कदम्बकं मोक्षो वा आसमन्ताद् वश्यं क्रियतेऽनेन इत्यावश्यकम्** - अर्थात् ज्ञानादि गुण समूह और मोक्ष पर जिस साधना के द्वारा अधिकार किया जाय, वह आवश्यक है।

(उ) **गुणशून्यमात्मानं गुणैरावासयति इति आवासकम्** - अर्थात् गुणों से शून्य आत्मा को जो गुणों से वासित करे, वह आवासक (आवश्यक) है। गुणों से आत्मा को वासित करने का अर्थ है - गुणों से युक्त करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ऊ) गुणैर्वा आवासकं=अनुरञ्जकं वस्त्रधूपादिवत् - अर्थात् जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से अनुरंजित करे वह आवासक (आवश्यक) है। जैसे वस्त्र धूपादि से अनुरंजित किया जाता है।

(ए) गुणैर्वा आत्मानं आवासयति=आच्छादयति इति आवासकम् - अर्थात् जो ज्ञानादि गुणों के द्वारा आत्मा को आवासित - आच्छादित करे, वह आवासक (आवश्यक) है। जब आत्मा ज्ञानादि गुणों से आच्छादित रहेगी तो दुर्गुण-रूप धूल आत्मा पर नहीं पड़ने पाएगी।

२. आवश्यक के पर्यायवाची शब्द

एक पदार्थ के अनेक नाम परस्पर पर्यायवाची कहलाते हैं। अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के आठ पर्यायवाची शब्द बताये हैं -

आवस्सयं अवस्स-करणिज्जं, धुवनिग्गहो विसोही य।
अज्झयणे छक्क वग्गो, नाओ आराहणा मग्गो।

(अ) आवस्सयं (आवश्यक) - **अवश्यं क्रियते इति आवश्यकं** - अर्थात् जो साधना चतुर्विध संघ के द्वारा अवश्य करने योग्य हो, उसे आवश्यक कहते हैं।

(आ) अवस्सकरणिज्जं (अवश्यकरणीय) - मुमुक्षु साधकों के द्वारा नियम-पूर्वक अनुष्ठेय (करने योग्य) होने के कारण अवश्यकरणीय है।

(इ) धुवनिग्गहो (ध्रुव निग्रह) - अनादि होने के कारण कर्मों को ध्रुव कहते हैं। कर्मों का फल जन्म जरा मरणादि संसार भी अनादि है अतः वह भी ध्रुव (अनादि) कहलाता है। जो कर्म और कर्मफल स्वरूप संसार का निग्रह करता है, वह ध्रुव निग्रह है।

(ई) विसोही (विशोधि) - कर्मों से मलिन आत्मा की विशुद्धि का हेतु होने से आवश्यक, विशोधि कहलाता है।

(उ) अज्झयणे छक्कवग्गो (अध्ययन षट्वर्ग) - आवश्यक सूत्र के सामायिक आदि छह अध्ययन हैं। अतः अध्ययन षट्वर्ग है।

(ऊ) नाओ (न्याय) - अभीष्ट अर्थ की सिद्धि का सम्यक् उपाय होने से न्याय है। अथवा आत्मा और कर्म के अनादिकालीन सम्बन्ध का अपनयन (दूर) करने के कारण भी न्याय कहलाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(ए) आराहणा (आराधना) - मोक्ष की आराधना का हेतु होने से आराधना है।

(ऐ) मग्गो (मार्ग) - मोक्षपुर का प्रापक (मार्ग-उपाय) होने से मार्ग है।

३. आवश्यक के ६ प्रकार

अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के छह प्रकार बताये गये हैं - **सामाइयं, चउवीसत्थओ, वंदणयं, पडिक्कमणं, काउस्सग्गो, पच्चक्खाणं।**

१. **सामायिक** - समभाव (समता) की साधना।

२. **चतुर्विंशतिस्तव** - वीतराग देव की स्तुति।

३. **वन्दन** - गुरुदेवों को वन्दन।

४. **प्रतिक्रमण** - संयम में लगे दोषों की आलोचना।

५. **कायोत्सर्ग** - शरीर के ममत्व का त्याग।

६. **प्रत्याख्यान** - नये व्रतों का ग्रहण। जैसे - चौविहार, नवकारसी, पौरुषी आदि का ग्रहण।

अनुयोगद्वार सूत्र में छह आवश्यकों के अर्थाधिकार का उल्लेख किया गया है। वह इस प्रकार है -

सावज्जजोग-विरई, उक्कित्तणं गुणवओ य पडिवत्ती।
खलियस्स निंदणा, वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव॥

१. **सावज्जजोगविरई** (सावद्य योग विरति) - प्राणातिपात, असत्य आदि सावद्य योगों का त्याग करना। सावद्य व्यापारों का त्याग करना ही सामायिक है।

२. **उक्कित्तणं** (उत्कीर्तन) - तीर्थंकर देव स्वयं कर्मों को क्षय करके शुद्ध हुए हैं और दूसरों को आत्मशुद्धि के लिये सावद्य योग विरति का उपदेश दे गये हैं। अतः उनके गुणों की स्तुति करना उत्कीर्तन है। यह चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक का अर्थाधिकार है।

३. **गुणवओ य पडिवत्ती** (गुणवत्प्रतिपत्ति) - अहिंसादि पाँच महाव्रतों के धारक संयमी गुणवान् हैं, उनकी वन्दनादि के द्वारा उचित प्रतिपत्ति करना गुणवत्प्रत्ति है। यह वन्दन आवश्यक का अर्थाधिकार है।

४. **खलियस्स निंदणा** (स्खलित निन्दना) - संयम क्षेत्र में विचरण करते हुए साधक से प्रमादादि के कारण स्खलनाएं हो जाती हैं, उनकी शुद्ध बुद्धि से संवेग की परमोत्तम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावना में पहुंच कर निन्दा करना स्खलित निन्दना है। दोष को दोष मान कर उससे पीछे हटना प्रतिक्रमण का अर्थाधिकार है।

५. **वण्तिगिच्छ** (व्रणचिकित्सा) - कायोत्सर्ग का ही दूसरा नाम व्रण-चिकित्सा है। स्वीकृत चारित्र साधना में जब कभी अतिचार रूप दोष लग जाता है तो वह एक प्रकार का भाव व्रण (घाव) हो जाता है। कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है, जो उस भावव्रण पर चिकित्सा का काम देता है।

६. **गुणधारणा** (गुणधारणा) - प्रत्याख्यान का दूसरा पर्यायवाची गुणधारणा है। कायोत्सर्ग के द्वारा भावव्रण के ठीक हो जाने पर प्रत्याख्यान के द्वारा फिर उस शुद्ध स्थिति को परिपुष्ट किया जाता है। किसी भी त्याग रूप गुण को निरतिचार रूप से धारण करना गुणधारणा है।

४. आवश्यक का आध्यात्मिक फल

१. सामाइएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

अर्थ - हे भगवन्! सामायिक करने से इस आत्मा को क्या लाभ होता है?

सामाइएणं सावज्जं जोग विरइं जणयइ।

सामायिक करने से सावद्य योग-पापकर्म से निवृत्ति होती है।

२. चउव्वीसत्थएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

अर्थ - हे भगवन्! चतुर्विंशतिस्तव से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है?

चउव्वीसत्थएणं दंसण विसोहिं जणयइ।

अर्थ - चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन विशुद्धि होती है।

३. वंदणएणं भंते! जीवे किं जणयइ?

अर्थ - हे भगवन्! वन्दन करने से आत्मा को क्या लाभ होता है?

वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चा गोयं कम्मं निबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निवेत्तइ, दाहिण भावं च णं जणयइ।

अर्थ - वन्दन करने से यह आत्मा नीच गोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्र कर्म का बंध करता है, सुभग, सुस्वर आदि सौभाग्य की प्राप्ति होती है, सब उसकी आज्ञा शिरसा स्वीकार करते हैं और वह दाक्षिण्य भाव कुशलता (चतुराई) एवं सर्वप्रियता को प्राप्त होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४. पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

अर्थ - हे भगवन्! प्रतिक्रमण करने से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है?

पडिक्कमणेणं वयं छिद्दाइं पिहेइ, पिहिय वयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयण मायासु उवउत्ते अपुहुत्ते सुप्पणिहिए विहरइ।

अर्थ - प्रतिक्रमण करने से अहिंसा आदि व्रतों के दोष रूप छिद्रों का निरोध होता है और छिद्रों का निरोध होने से जीव आस्रव का निरोध करता है तथा (शबलादि दोषों से रहित) शुद्ध चारित्र का पालन करता है और इस प्रकार आठ प्रवचन माता में सावधान होता है और संयम में तल्लीन रहता हुआ समाधिपूर्वक एवं अपनी इन्द्रियों को असन्मार्ग से हटा कर संयम मार्ग में विचरण करता है।

५. काउस्सग्गेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

अर्थ - हे भगवन्! कायोत्सर्ग करने से आत्मा को क्या लाभ होता है?

काउस्सग्गेणं तीय-पडुपन्न पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्ध पायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरिय भरुव्व भारवहे पसत्थ झाणोवगए सुहंसुहेणं विहरइ।

अर्थ - कायोत्सर्ग करने से अतीतकाल एवं आसन्न भूत(वर्तमान)काल के प्रायश्चित्त विशोध्य अतिचारों की शुद्धि होती है और इस प्रकार विशुद्धि प्राप्त आत्मा प्रशस्त (धर्म) ध्यान में रमण करता हुआ उसी प्रकार सुखपूर्वक विचरण करता है जिस प्रकार सिर का बोझ उतर जाने से मजदूर सुख का अनुभव करता है।

६. पच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?

अर्थ - हे भगवन्! प्रत्याख्यान करने से आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है?

पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीईभूए विहरइ।

अर्थ - प्रत्याख्यान करने से हिंसा आदि आस्रवद्वार बंद हो जाते हैं एवं इच्छा का निरोध हो जाता है, इच्छा का निरोध होन से समस्त विषयों के प्रति वितृष्ण रहता हुआ साधक शान्तचित्त होकर विचरण करता है।

५. आवश्यक के भेद

आवश्यक के दो भेद हैं - द्रव्यावश्यक और भावावश्यक।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्यावश्यक - द्रव्यावश्यक के दो भेद हैं - १. आगमतो द्रव्यावश्यक २. नो आगमतो द्रव्यावश्यक।

१. आगमतो द्रव्यावश्यक - जस्स णं आवस्सए ति पयं (१) सिक्खियं (२) ठियं (३) जियं (४) मियं (५) परिजियं (६) नामसमं (७) घोससमं (८) अहीणक्खरं (९) अणच्चक्खरं (१०) अव्वाइद्धक्खरं (११) अक्खलियं (१२) अमिलियं (१३) अवच्चामेलियं (१४) पडिपुण्णं (१५) पडिपुण्ण घोसं (१६) कंठोट्ठविप्पमुक्कं (१७) गुरुवायणोवगयं, से णं तत्थ (१८) वायणाए (१९) पुच्छणाए (२०) परियट्टणाए (२१) धम्मकहाए णो अणुप्पेहाए, कम्हा? अणुवओगो दव्वमितिकट्टु। (अनुयोगद्वार सूत्र १३)

अर्थात् - जिस किसी ने आवश्यक ऐसा पद अर्थात् आवश्यक का अर्थाधिकार शुद्ध सीखा है, स्थिर किया है, पूछने पर शीघ्र उत्तर दिया है, पद अक्षर की संख्या का सम्यक् प्रकार से जानपना किया है, आदि से अन्त तथा अन्त से आदि तक पढ़ा है, अपने नाम सदृश पक्का किया है, उदात्तानुदात्तादि घोष सहित, अक्षर, बिन्दु, मात्रा हीन नहीं, अक्षर, बिन्दु, मात्रा अधिक नहीं, अधिक अक्षर तथा उलट पुलटकर न बोले हों, बोलते समय अटके नहीं हो, मिले हुए अक्षर नहीं बोले हों, एक पाठ को बार-बार नहीं बोला हो, सूत्र सदृश पाठ को अपने मन से बना कर सूत्र से जोड़ कर नहीं बोला हो, काना मात्रादि परिपूर्ण हो, काना मात्रादि परिपूर्ण घोष सहित हो, कण्ठ ओष्ठ से न मिला हुआ यानें स्फुट (प्रकट) हो, गुरु की दी हुई वाचना से पढ़ा हो, दूसरों को वाचना देता हो, प्रश्न पूछता हो, बारंबार याद करता हो, धर्मोपदेश देता हो, इन इक्कीस बोलों सहित है परन्तु उसमें उपयोग नहीं है उसे आगम से द्रव्यावश्यक कहते हैं क्योंकि जो उपयोग रहित होता है वह द्रव्यावश्यक कहा जाता है।

नैगमनय के मत से एक पुरुष उपयोग रहित आवश्यक करे तो एक द्रव्यावश्यक, दो पुरुष करे तो दो द्रव्यावश्यक इत्यादि जितने पुरुष उपयोग रहित आवश्यक करें उनको उतने ही द्रव्यावश्यक कहता है। इसी प्रकार व्यवहार नय भी कहता है। संग्रह नय के मत से एक पुरुष या बहुत पुरुष उपयोग रहित आवश्यक करे उन सब को आगम से एक द्रव्यावश्यक कहते हैं। ऋजु सूत्र नय के अभिप्राय से एक पुरुष उपयोग रहित आवश्यक करे उसे एक द्रव्यावश्यक परन्तु जुदे-जुदे उपयोग रहित आवश्यक करने वालों को यह नय आगम से द्रव्यावश्यक नहीं मानता है, क्योंकि यह नय अतीत अनागत को छोड़ कर केवल वर्तमान को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही मुख्य कर उपयोग रहित अपने ही आवश्यक को आगम से एक द्रव्यावश्यक मानता है। जैसे - स्वधन (अपना धन)। शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत ये तीन नय वाले, जो आवश्यक का जानकार है और उपयोग रहित हो उसे आवश्यक नहीं मानते हैं क्योंकि जानकार है वह उपयोग रहित नहीं होता और जो उपयोग रहित है वह जानकार नहीं होता, इसलिये इसे ये आगम से द्रव्यावश्यक ही नहीं मानते हैं।

२. नो आगमतो द्रव्यावश्यक - **(१) ज्ञ शरीर नो आगम से द्रव्यावश्यक** - जैसे कोई पुरुष आवश्यक इस सूत्र के अर्थ का जानकार था, वह कालधर्म को प्राप्त हो गया, उसके मृतक शरीर को भूमि पर या संथारे पर लेटा हुआ देख कर किसी ने कहा कि - इस शरीर द्वारा जिनोपदिष्ट भाव से आवश्यक इस सूत्र का अर्थ सामान्य या विशेष या समस्त प्रकार के भेदानुभेदों द्वारा प्ररूपता था तथा क्रिया विधि द्वारा सम्यक् प्रकार दिखलाता था, जैसे - किसी घड़े में पहले शहद या घी रखा था अब खाली हो जाने पर भी उस घड़े को देख कर कोई कहे कि यह शहद या घी का घड़ा था इत्यादि।

(२) भव्य शरीर नो आगम से द्रव्यावश्यक - जैसे किसी श्रावक के घर पर लड़के का जन्म हुआ। उसे देखकर कोई कहे कि यह लड़का इस शरीर से जिनोपदिष्ट भाव वाले आवश्यक इस सूत्र का जानकार भविष्यतकाल में होगा। जैसे - नये घड़े को देखकर कोई कहे कि यह शहद या घी का घड़ा होगा इत्यादि।

(३) ज्ञ शरीर भव्यशरीर व्यतिरिक्त नो आगम से द्रव्यावश्यक - इसके तीन भेद हैं - **१. लौकिक ज्ञ शरीर** - जैसे कोई राजेश्वर, तलवर, माडंबिक, कौटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी सेनापति आदि का प्रभात पहले यावत् जाज्वल्यमान सूर्य उदय के समय मुंह धोना, दंत प्रक्षालन, तेल लगाना, स्नान मज्जन करना, सर्षप दूब आदि मांगलिक उपचारों का करना, आरिसे में मुंह देखना, धूप, पुष्पमाला, सुगन्ध, ताम्बूल, वस्त्र, आभूषणादि सब वस्तुओं द्वारा शरीर का श्रृंगार करके नित्य प्रति राजसभा, पर्वत या बाग बगीचे में जाना। ये लौकिक ज्ञ शरीर भव्य शरीर व्यतिरिक्त नो आगम से द्रव्यावश्यक हैं। **२. कुप्रावचनिक ज्ञ शरीर** - **"चरग चीरिग चम्म खंडिअ भिक्खोंड पंडुरग गोअम गोव्वतिअ गिहिधम्म धम्मचिंतग अविरुद्ध विरुद्ध वुड्ढ सावगप्पभिइओ पासंडत्था कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव तेयसा जलंते इंदस्स वा खंदस्स वा रुद्दस्स वा सिवस्स वा वेसमेणस्स वा देवस्स वा नागस्स वा जक्खस्स वा भूअस्स वा**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मुग्गंदस्स वा अज्जाए वा दुग्गाए वा कोट्ट किरियाए वा उवलेवण संमज्जण आवरिसण धुव पुप्फ गंधमल्लाइयाइं दव्वावस्सयाइं करेंति से तं कुप्पावणियं दव्वावस्सयं।'' (अनुयोगद्वार २०)

१. खाते हुए फिरने वाले २. रास्ते में पड़े हुए चीथड़ों को पहनने वाले ३. चर्म को पहनने वाले ४. भिक्षा मांगकर खाने वाले ५. त्वचा पर भस्म लगाने वाले ६. बैल को रमाकर आजीविका करने वाले ७. गाय की वृत्ति से चलने वाले ८. गृहस्थ धर्म को ही कल्याणकारी मानने वाले ९. यज्ञादि धर्म की चिन्ता वाले १०. विनयवादी ११. नास्तिकवादी १२. तापस १३. ब्राह्मण प्रमुख १४. पाखंड मार्ग में चलने वालों का प्रभात पहले यावत् जाज्वल्यमान सूर्योदय के समय इन्द्र के स्थान पर, स्कन्द (कार्तिकेय) के स्थान पर, महादेव के स्थान पर, व्यन्तर विशेष के स्थान पर, वैश्रमण के स्थान पर, सामान्य देव के स्थान पर, नागदेव के स्थान पर, यक्ष और भूत (व्यन्तर विशेष) के स्थान पर, बलदेव के स्थान पर, आर्या प्रशान्त रूप देवी के स्थान पर, महिषारूढ देवी के स्थान पर गोबरादि से लीपना, संमार्जन करना, सुगंधित जल छिड़कना, धूप देना, पुष्प चढ़ाना, गंध देना, सुगंध माल्य पहिनाना इत्यादि द्रव्यावश्यक करते हैं। यह कुप्रावचनिक ज्ञ भव्य शरीर व्यतिरिक्त नो आगमतो द्रव्यावश्यक है।

३. लोकोत्तर ज्ञ शरीर - ''जे इमे समणगुणमुक्कजोगी छक्काय निरणुकंपा, हया इव उद्दामा, गया इव निरंकुसा, घट्ठा, मट्ठा, तुप्पोट्ठा, पंडुरपडपाउरणा, जिणाणमणाणाए, सच्छंद विहरिऊणं उभओकालं आवस्सयस्स उवट्ठवंति से तं लोगुत्तरिअं दव्वावस्सयं॥''

जो ये साधु के २७ गुणों तथा शुभ योगों से रहित हैं, षट्काय की अनुकंपा से रहित हैं, बिना लगाम के घोड़े की तरह उतावले चलने वाले हैं, अंकुश रहित हस्तिवत् मदोन्मत्त हैं, फेनादि किसी द्रव्य से सुहाली करने के लिये जंघाओं को घिसने वाले हैं, तेल जल आदि से शरीर के केशों को संवारने वाले हैं, होठों के मालिश करने वाले अथवा शीत रक्षादि के लिये मदन (मेण) से होठों को वेष्टित रखने वाले हैं, धोये हुए सफेद वस्त्रों को पहिनने वाले हैं, तीर्थंकरों की आज्ञा से बाहिर हैं, स्वच्छन्द मति से विचरते हुए जो दोनों वक्त आवश्यक करते हैं, उसे लोकोत्तर ज्ञ शरीर भव्य शरीर व्यतिरिक्त नो आगम से द्रव्यावश्यक कहते हैं।

॥ इति द्रव्यावश्यक सम्पूर्ण॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भावावश्यक - इसके दो भेद हैं - १. आगम से भाव आवश्यक २. नो आगम से भाव आवश्यक।

१. आगम से भाव आवश्यक - जिसने आवश्यक इस सूत्र के अर्थ का ज्ञान किया है और उपयोग सहित है। उसको आगम से भावावश्यक कहते हैं।

२. नो आगम से भावावश्यक - इसके तीन भेद होते हैं -

१. लौकिक नो आगम से भावावश्यक - जो लोग पूर्वाह्न (प्रभात समय) में उपयोग सहित महाभारत और अपराह्न (दोपहर बाद) में उपयोग सहित रामायण को बांचे तथा श्रवण करे।

२. कुप्रावचनिक नो आगम से भावावश्यक - जो ये पूर्वोक्त चरक, चीरिक यावत् पाखंड मार्ग में चलने वाले यथावसर **"इज्जंजंलिहोमजपोन्दरुक्कण-मोक्कारमाइयाइं भावावस्सयाइं करेंति से तं कुप्पावणियं भावावश्यं॥"**

अर्थात् - यज्ञ विषय जलांजलि को देना अथवा संध्यार्चन समय जलांजलि को देना या देवी के सम्मुख हाथ जोड़ना। अग्नि हवन करना, मंत्रादि का जप करना, देवतादि के सम्मुख वृषभवत् शब्द करना, **नमो भगवते दिवस नाथाय** इत्यादि नमस्कार करना आदि। ये पूर्वोक्त कृत्य जो भाव से उपयोग सहित करे। यह कुप्रावचनिक नो आगम से भावावश्यक है।

३. लोकोत्तर नो आगम से भावावश्यक - "जण्णं इमे समणे वा समणी वा सावओ वा साविओ वा तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झावसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पियकरणे, तब्भावणाभाविए, अण्णत्थ कत्थइ मणं अकरेमाणे उभओकालं आवस्सय करेंति से तं लोगुत्तरिअं भावावास्सयं।"

अर्थात् - जो ये शान्त स्वभाव रखने वाले साधु, साध्वी, साधु के समीप जिनप्रणीत समाचारी को सुनने वाले श्रावक, श्राविका, उसी आवश्यक में सामान्य प्रकार से उपयोग सहित चित्त को रखने वाले, उसी आवश्यक में विशेष प्रकार से उपयोग सहित मन को रखने वाले, उसी आवश्यक में शुभ परिणाम रूप लेश्या वाले। तच्चित्तादि भावयुक्त उसी आवश्यक की विधिपूर्वक क्रिया करने के अध्यवसाय वाले, उसी आवश्यक में प्रारंभकाल से लेकर प्रतिक्षण चढ़ते-चढ़ते प्रयत्न विशेष के अध्यवसाय रखने वाले, उसी आवश्यक के अर्थ के विषय में उपयोग सहित (तीव्रतर वैराग्य को रखने वाले), उसी आवश्यक में सब इन्द्रियों को

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लगाने वाले, उसी आवश्यक के विषय में अव्यवच्छिन्न उपयोग सहित अनुष्ठान से उत्कृष्ट भाव द्वारा परिणत ऐसे आवश्यक के परिणाम रखने वाले, उसी आवश्यक के सिवाय अन्यत्र किसी स्थान पर मन, वचन, काया के योगों को न करते हुए चित्त को एकाग्र रखनें वाले, दोनों समय उपयोग सहित आवश्यक करे उसको लोकोत्तर नोआगम से भावावश्यक कहते हैं। इति लोकोत्तर नो आगम से भावावश्यक।

॥ इति भावावश्यक सम्पूर्ण॥

६. आवश्यक की महत्ता

जइ दोसो तं छिदइ, असंतदोसम्मि णिज्जरं कुणइ।
कुसल तिगिच्छरसायण, मुवणीयमिंद पडिक्कमणं॥

अर्थ - उभयकाल आवश्यक (भाव सहित) करना कुशल चिकित्सक के उस रसायन के समान है, जो रोग होने पर उसका उपशमन कर देता है और नहीं होने पर शरीर में बल वृद्धि (तेज कान्ति) कर देता है। इसी प्रकार आवश्यक करने से अगर व्रतों में अतिचार-दोष लगे हों तो उसकी शुद्धि हो जाती है और नहीं लगे हों तो स्वाध्याय रूप होने से कर्मों की निर्जरा होती है और बराबर स्मृति बने रहने से भविष्य में अतिचार न लगे, इसकी सजगता बनी रहती हैं। अत: आवश्यक करना हर दृष्टि से उपयोगी है।

७. आवश्यक का विस्तृत विवेचन

आवश्यक के छह भेद हैं - १. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वन्दना ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान।

१. सामायिक आवश्यक - (अ) सम् एकीभावे वर्तते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः। समय एव सामायिकम्। समयः प्रयोजनमस्येति सामायिकम्।

'सम' उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक 'इण' धातु से समय शब्द बनता है। सम् का अर्थ एकीभाव है और अय का अर्थ गमन है अर्थात् जो एकीभाव रूप से बाह्य परिणति से वापस मुड़ कर आत्मा की और गमन किया जाता है उसे समय कहते हैं। समय का भाव सामायिक होता है।

(आ) सम + आय = अर्थात् समभाव का आना सामायिक है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(इ) जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं॥
जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं॥ (अनुयोगद्वार सूत्र)

अर्थ - जिसकी आत्मा संयम में, नियम में, तप में लीन हैं वस्तुतः उसी का सच्चा सामायिक व्रत है। ऐसा केवलज्ञानियों ने कहा है।

जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों पर समभाव रखता है, वस्तुतः उसी का सच्चा सामायिक व्रत है। ऐसा केवलज्ञानियों ने कहा है।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव उक्त छह भेदों से साम्यभाव रूप सामायिक धारण किया जाता है।

१. **नाम सामायिक** - शुभाशुभ नामों पर राग-द्वेष नहीं करना।

२. **स्थापना सामायिक** - स्थापित पदार्थ की सुरूपता कुरूपता को देखकर राग-द्वेष नहीं करना - स्थापना सामायिक है।

३. **द्रव्य सामायिक** - सोने और मिट्टी में समभाव। आत्मा की दृष्टि से दोनों जड़।

४. **क्षेत्र सामायिक** - चाहे सुन्दर बाग हो या कंटीली झाड़ियों से भरी हुई बंजर भूमि हो, दोनों में समभाव।

निश्चय नय की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ अपने में ही केन्द्रित रहता है। जड़ जड़ में रहता है, आत्मा आत्मा में रहता है।

५. **काल सामायिक** - वर्षा या कोई दूसरा मौसम हो समभाव रखना क्योंकि यह सब पुद्गलों का विकार है।

६. **भाव सामायिक** - समस्त जीवों पर मैत्री भाव धारण करना भाव सामायिक है।

भाव सामायिक के प्रकार और परिभाषा

(१) आया सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे॥ भगवती १-८

वस्तुतः अपने शुद्ध स्वरूप में रहा हुआ आत्मा ही सामायिक है। सामायिक का प्रयोजन भी शुद्ध, बुद्ध, मुक्त चिच्चमत्कार स्वरूप आत्म तत्त्व की प्राप्ति ही है।

(२) सावज्ज जोग विरओ, तिगुत्तो छसु संजओ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होइ॥ (आवश्यक निर्युक्ति)

अर्थात् - जब साधक सावद्य योग से विरत होता है, छह काय जीवों के प्रति संयत होता है, मन, वचन और काया को एकाग्र करता है, स्व स्वरूप में उपयुक्त होता है, यतना से विचरण करता है, तब वह स्वयं ही सामायिक है।

(३) पर द्रव्यों से निवृत्त होकर साधक की ज्ञान चेतना जब आत्मस्वरूप में प्रवृत्त होती है, तभी भाव सामायिक होती है। अथवा राग-द्वेष से रहित माध्यस्थभावापन्न आत्मा सम कहलाता है। उस सम में गमन करना ही भाव सामायिक है।

(४) भाव सामायिकं सर्वजीवेषु मैत्रीभावोऽशुभपरिणामवर्जनं वा।

अर्थात् संसार के सभी जीवों पर मैत्री भाव रखना, अशुभ परिणति का त्याग कर शुभ एवं शुद्ध परिणति में रमण करना, भाव सामायिक है। (अनगार धर्मामृत टीका ८-१०)

(५) सामाइयं च तिविहं, सम्मत्त सुयं तहा चरित्तं च।
दुविहं चेव चरित्तं, अगारमणगारियं चेव॥ (आवश्यक निर्युक्ति ७९६)

अर्थात् - सम्यक्त्व सामायिक से विश्वास की शुद्धि, श्रुत सामायिक से विचारों की शुद्धि, चारित्र सामायिक से आचार की शुद्धि होती है। तीनों मिलकर ही आत्मा को विशुद्ध बनाते हैं। चारित्र के दो भेद - अगार (गृहस्थ-श्रावक) चारित्र, अनगार (साधु) चारित्र।

(६) सामाइयं संखेवो चोद्दस पुव्वत्थ पिंडोत्ति। (विशेषावश्यक भाष्य २७९६)

अर्थात् - सामायिक चौदह पूर्वों का अर्थ-पिंड है।

(७) सामाइयं नाम सावज्जजोगं परिवज्जणं, निरवज्जजोग पडिसेवणं च।

सावद्य योगों का त्याग करना और निरवद्य योगों में प्रवृत्ति करना ही सामायिक है।

२. चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक - सावद्य योगों से विरति का उपदेश तीर्थंकर प्रभु ने दिया है। अत: उनकी स्तुति की जाती है। भगवत्स्तुति का अर्थ है - उच्च नियमों, सद्गुणों एवं उच्च आदर्शों का स्मरण करना। तीर्थंकरों की भक्ति के द्वारा साधक अपने औद्धत्य तथा अहंकार का नाश करता है, सद्गुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि होती है फलस्वरूप प्रशस्त भावों से संचित कर्मों को नष्ट करता है।

तीर्थंकर प्रभु हमारे आराध्य हैं। पहले उन्होंने स्वयं ही अपने आपको पापों से विरत कर पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति की है, बाद में हमारे ऊपर अनन्त अनुकम्पा कर जिनवाणी की वर्षा की है अत: उनके नामों के स्मरण से दर्शन की विशुद्धि होती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३. वन्दन आवश्यक - **(अ)** संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में 'गुरु' भारी को कहते हैं, अतः जो अपने से अहिंसा सत्य आदि महाव्रत रूप गुणों में भारी हैं, वे सर्व विरति साधु-साध्वी गुरु कहलाते हैं। इस कोटि में गणधर से लेकर सामान्य साधु-साध्वी सभी संयमीजनों का अन्तर्भाव हो जाता है।

(आ) गृणाति-कथयति सद्धर्म तत्त्वं स गुरुः (आचार्य हेमकीर्ति)

अर्थात् जो सत्य धर्म का उपदेश देता है वह गुरु है।

(इ) 'वदि' अभिवादन स्तुत्योः, इति कायेन अभिवादने वाचा स्तवना इति वन्दना। (आवश्यक-चूर्णि)

अर्थात् - गुरुदेव को वन्दना करने का अर्थ - गुरुदेव का वचन से स्तवन करना और काया से अभिवादन करना।

वन्दनीय कौन? - जो द्रव्य चारित्र (वेश-लिङ्ग) और भाव चारित्र से शुद्ध हैं ऐसे चारित्र सम्पन्न त्यागी, विरागी, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर एवं गुरुदेव आदि ही वन्दनीय हैं। जैसे मोहर लगा हुआ शुद्ध चांदी या सोने का सिक्का सर्वत्र आदर पाता है उसी प्रकार जो अपनी साधना के लिये अन्दर तथा बाहर से एक रूप हों, वे मुनि ही साधना जगत् में अभिवंदनीय माने गये हैं।

आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में कहते हैं -

पासत्थाइ वंदमाणस्स, नेव कित्ती न निज्जरा होइ।
कायकिलेसं एमेव कुणइ, तह कम्मबंधं च॥ ११०८॥

अर्थात् जो मनुष्य गुणहीन अवंद्य व्यक्ति को वन्दन करता है, उसके न तो कर्मों की निर्जरा होती है और न कीर्ति ही। प्रत्युत असंयम का, दुराचार का अनुमोदन करने से कर्मों का बन्ध होता है। वह वन्दन व्यर्थ का कायक्लेश है।

जो पार्श्वस्थ सदाचारियों से वन्दन कराते हैं वे असंयम में और वृद्धि करके अपना अधःपतन कराते हैं।

जे बंभचेर-भट्ठा, पाए पाडंति बंभयारीणं।
ते होंति टुंटमुंटा, बोहि य सुदुल्लहा तेसिं॥ ११०९॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुट्ठुत्तरं नासंति, अप्पाणं जे चरित्तपब्भट्ठा।
गुरुजण वंदाविंति सुसमण जहुत्तकारिं च॥ १११०॥

- जो पार्श्वस्थ आदि ब्रह्मचर्य अर्थात् संयम से भ्रष्ट हैं, परन्तु अपने को गुरु कहलाते हुए सदाचारी सज्जनों से वन्दन कराते हैं वे अगले जन्म में अपंग, रोगी, टूंट, मूंट होते हैं, और उनको धर्म मार्ग का मिलना अत्यन्त कठिन हो जाता है॥ ११०९॥

जो चारित्र भ्रष्ट लोग अपने को यथोक्तकारी गुणश्रेष्ठ साधक से वन्दन कराते हैं और सद्गुरु होने का ढोंग रचते हैं, वे अपनी आत्मा का सर्वथा नाश कर डालते हैं॥१११०॥

वन्दन का फल - **विणओवयार माणस्स, भंजणा पूयणा गुरुजणस्स।**
तित्थयराण य आणा, सुय धम्माराहणाऽकिरिया॥ १२१५॥

- वन्दन आवश्यक का यथाविधि पालन करने से विनय की प्राप्ति होती है। अहंकार का अर्थात् गर्व का नाश होता है, उच्च आदर्शों की झांकी का स्पष्टतया भान होता है, गुरुजनों की पूजा होती है, तीर्थंकरों की आज्ञा का पालन होता है और श्रुतधर्म की आराधना होती है। यह श्रुतधर्म की आराधना आत्मशक्तियों का क्रमिक विकास करती हुई अन्त में मोक्ष का कारण बनती है। (**सवणे नाणे** ..... भगवती २-५)

वन्दन क्रिया का मुख्य उद्देश्य अपने में विनय एवं नम्रता का भाव प्राप्त करना है। जैन धर्म में विनय एवं नम्रता को तप कहा है -

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे।
विणयाउ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो॥ १२१६॥

- जिनशासन का मूल विनय है। विनीत साधक ही सच्चा संयमी हो सकता है। जो विनय से हीन, उसको कैसा धर्म और कैसा तप? अर्थात् अविनीत को धर्म और तप की प्राप्ति नहीं होती है।

४. प्रतिक्रमण आवश्यक - आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र की वृत्ति में कहा है - **प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणं, अयमर्थः - शुभयोगेभ्योऽशुभयोगान्तरं क्रान्तस्य शुभेषु एव क्रमणात्प्रतीपं क्रमणम्।**

अर्थात् शुभ योगों से अशुभ योगों में गये हुए अपने आपको पुनः शुभ योगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य हरिभद्र ने आवश्यक सूत्र की टीका में प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुए तीन प्राचीन श्लोक उद्धृत किये हैं -

स्वस्थानाद् यत्परस्थानं, प्रमादस्य वशाद्गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते॥ २॥

अर्थ - प्रमादवश शुभ योग से गिर कर अशुभ योग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभ योगों को प्राप्त करना प्रतिक्रमण है।

क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशं गतः।
तत्रापि च स एवार्थः, प्रतिकूलगमात्स्मृतः॥ 3॥

अर्थ - रागद्वेषादि औदयिक भाव संसार का मार्ग है और समता, क्षमा, दया, नम्रता आदि क्षायोपशमिक भाव मोक्ष का मार्ग है। क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदयिक भाव से क्षायोपशमिक भाव में लौट आता है, तो यह भी प्रतिकूल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है।

प्रति प्रतिवर्तनं वा, शुभेषु योगेषु मोक्षफल देषु।
निःशल्यस्य यतेर्यत्, तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम्॥ ४॥

अर्थ - अशुभ योग से निवृत्त होकर निःशल्य भाव से उत्तरोत्तर शुभ योग में प्रवृत्त होना ही प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण का विषय -

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे पडिक्कमणं।
असद्दहणे य तहा, विवरीय परूवणाए य॥ १२६८॥ (आवश्यक निर्युक्ति)

१. हिंसादि पापों का प्रतिक्रमण २. स्वाध्याय प्रतिलेखन आदि न करने का प्रतिक्रमण ३. अमूर्त तत्त्वों के विषय में अश्रद्धा होने पर और ४. आगम विरुद्ध विचारों की प्ररूपणा हो जाने पर प्रतिक्रमण करना होता है।

काल के भेद से तीन प्रकार का प्रतिक्रमण होता है - **"अईयं पडिक्कमेइ, पडुप्पन्नं संवरेइ, अणागयं पच्चक्खाइ।"**

निन्दा द्वारा भूतकालिक अशुभ योग की निवृत्ति होती है, अतः यह अतीत काल का प्रतिक्रमण है। संवर के द्वारा वर्तमान काल विषयक अशुभ योगों की निवृत्ति होती है, अतः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह वर्तमान प्रतिक्रमण है। प्रत्याख्यान के द्वारा भविष्यकालीन अशुभ योगों की निवृत्ति होती है, अतः यह भविष्यकालीन प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के प्रकार - काल की अपेक्षा से प्रतिक्रमण के पांच भेद भी माने गये हैं - दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक।

स्थानांग सूत्र में ६ प्रकार का प्रतिक्रमण बताया गया है - १. **उच्चार प्रतिक्रमण** २. **प्रस्रवण प्रतिक्रमण**। उपयोग पूर्वक दोनों (उच्चार - बडी नीत और प्रस्रवण - लघुनीत) को परठने के बाद ईर्या का प्रतिक्रमण करना।

३. **इत्वर प्रतिक्रमण** - दैवसिक तथा रात्रिक आदि स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना इत्वर प्रतिक्रमण है।

४. **यावत्कथिक प्रतिक्रमण** - महाव्रत आदि के रूप में यावज्जीवन के लिये पाप से निवृत्ति करना यावत्कथिक प्रतिक्रमण है।

५. **यत्किञ्चन्मिथ्या प्रतिक्रमण** - संयम में सावधान रहते हुए यदि प्रमादवश कोई आचरण हो जाय तो उसी समय पश्चात्ताप पूर्वक **मिच्छामि दुक्कडं** देना यत्किञ्चन्मिथ्या प्रतिक्रमण है।

६. **स्वप्नांतिक प्रतिक्रमण** - सो कर उठने पर या विकार वासना रूप कुस्वप्न देखने पर उसका प्रतिक्रमण करना स्वप्नांतिक प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के पर्यायवाची शब्द - आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्द कथन किये हैं -

पडिक्कमणं पडिचरणा, परिहरणा वारणा नियत्ती य।
निन्दा गरिहा सोही, पडिक्कमणं अट्ठहा होइ॥१२३३॥

(१) प्रतिक्रमण - **'प्रति'** उपसर्ग है और **'क्रमुपाद विक्षेपे'** धातु है। दोनों का मिलाकर अर्थ होता है कि - जिन कदमों से बाहर गया है उन्हीं कदमों से लौट आए। जो साधक किसी प्रमाद के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप स्व-स्थान से हटकर मिथ्यात्व, अज्ञान एवं असंयम रूप परस्थान में चला गया है, उसका पुनः स्वस्थान में लौट आना, प्रतिक्रमण है।

(२) प्रतिचारणा - अहिंसा, सत्य आदि संयम क्षेत्र में भली प्रकार विचरण करना, अग्रसर होना प्रतिचारणा है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(३) प्रतिहरणा - सब प्रकार से अशुभयोगों का दुर्ध्यानों का, दुराचरणों का त्याग करना परिहरणा है।

(४) वारणा - **'आत्म निवारणा वारणा'** अर्थात् वारणा का अर्थ निषेध है। भगवान् ने साधकों को विषय भोग की ओर जाने से रोका है। जो जिनेश्वर प्रभु की आज्ञानुसार चलते हैं, अपने को विषय भोग से बचा कर रखते हैं, वे मोक्षपुरी में पहुंच जाते हैं।

(५) निवृत्ति - **'असुभभाव नियत्तणं नियत्ती'** अशुभ अर्थात् पापाचरण रूप अकार्य से निवृत्त होना निवृत्ति है।

(६) निन्दा - आत्म-साक्षी से पूर्वकृत आचरणों को बुरा समझना उसके लिये पश्चात्ताप करना निंदा है।

(७) गर्हा - गुरुदेव या किसी भी अनुभवी साधक के समक्ष अपने पापों की निंदा करना गर्हा है।

(८) शुद्धि - शुद्धि का अर्थ निर्मलता है। प्रतिक्रमण आत्मा पर लगे हुए दोष रूप दागों को धो डालने की साधना है, अतः वह शुद्धि कहलाता है।

५. कायोत्सर्ग आवश्यक - संयम में लगे अतिचारों को प्रतिक्रमण रूपी जल से धोने के बाद जो कुछ अशुद्धि का अंश रह जाता है उसे कायोत्सर्ग के उष्ण जल से धोया जाता है। आचार्य सकलकीर्ति कहते है -

ममत्वं देहतो नश्येत्, कायोत्सर्गेण धीमताम्।
निर्ममत्वं भवेन्नूनं, महाधर्म-सुखकारकम्॥१८॥ (८४ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार)

अर्थ - कायोत्सर्ग के द्वारा ज्ञानी साधकों का शरीर पर से ममत्व भाव छूट जाता है और शरीर पर से ममत्व भाव का छूट जाना ही वस्तुतः महान् धर्म और सुख है।

आचार्य भद्रबाहु आवश्यक निर्युक्ति में इस ममत्व त्याग पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं -

वासी चंदणकप्पो जो, मरणे जीविए य समासण्णो।
देहे य अपडिबद्धो, काउस्सग्गो हवइ तस्स॥१५४८॥

अर्थ - चाहे कोई भक्ति भाव से चंदन लगाए, चाहे कोई द्वेष वश वसौले से छीले, चाहे जीवन रहे, चाहे इसी क्षण मृत्यु आ जाये, परन्तु जो साधक देह में आसक्ति नहीं रखता है उक्त सब स्थितियों में समचेतना रखता है, वस्तुतः उसी का कायोत्सर्ग शुद्ध होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

काउसग्गे जह सुट्ठियस्स, भज्जंति अंगमंगाइं।
इय भिंदंति सुविहिया, अट्ठविहं कम्म संघायं॥१५५१॥

अर्थ - जिस प्रकार कायोत्सर्ग में निःस्पन्द खड़े हुए अंग-अंग टूटने लगता है, दुःखने लगता है, उसी प्रकार सुविहित साधक कायोत्सर्ग के द्वारा आठों कर्म समूह को पीड़ित करते है एवं उन्हें नष्ट कर डालते हैं।

अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवुत्ति कय-बुद्धि।
दुक्ख परिकिलेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ॥१५५२॥

अर्थ - कायोत्सर्ग में शरीर से सब दुःखों की जड़ ममता का सम्बन्ध तोड़ देने के लिए साधक को यह सुदृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि शरीर और है और आत्मा और है।

आगम साहित्य में कायोत्सर्ग के दो भेद किये है - द्रव्य और भाव।

दव्वतो कायचेट्ठा निरोहो, भावतो झाणं।

द्रव्य कायोत्सर्ग का अर्थ है - शरीर की चेष्टा का निरोध करना।

भाव कायोत्सर्ग का अर्थ है - दुर्ध्यानों का त्याग कर धर्म तथा शुक्ल ध्यान में रमण करना। कायोत्सर्ग में ध्यान की ही महिमा है। द्रव्य के साथ भाव युक्त कायोत्सर्ग सब दुःखों का क्षय करने वाला है।

६. प्रत्याख्यान आवश्यक - प्रत्याख्यान का अर्थ है - त्याग करना। प्रवचन सारोद्धार वृत्ति में कहा है - **'अविरति स्वरूप प्रभृति प्रतिकूलतया आ मर्यादया आकार-करण स्वरूपया आख्यानं - कथनं प्रत्याख्यानम्।'**

(प्रत्याख्यान शब्द तीन शब्दों से मिल कर बना है --प्रति+आ+आख्यान)

अविरति एवं असंयम के 'प्रति' अर्थात् प्रतिकूल रूप में 'आ' मर्यादा स्वरूप आकार के साथ 'आख्यान' अर्थात् प्रतिज्ञा करना, प्रत्याख्यान है अथवा - आत्म स्वरूप के प्रति 'आ' अर्थात् अभिव्याप्त रूप से जिससे अनाशंसा रूप गुण उत्पन्न हो, इस प्रकार का आख्यान-कथन करना प्रत्याख्यान है। अथवा - भविष्यत्काल के प्रति आ=मर्यादा के साथ अशुभ योग से निवृत्ति और शुभ योग में प्रवृत्ति का आख्यान करना, प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान के मुख्य दो भेद हैं - मूल गुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान। दोनों के सर्व और देश के भेद से दो-दो भेद हैं। पाँच महाव्रत सर्व मूलगुण प्रत्याख्यान है। पाँच अणुव्रत देश मूल गुण प्रत्याख्यान है। अनागतादि १० भेद सर्व उत्तरगुण प्रत्याख्यान है जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधु और श्रावक दोनों के लिये हैं। तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत देश उत्तरगुण प्रत्याख्यान है जो श्रावकों के लिये होते हैं। (भगवती सूत्र श० ७ उ० २)

प्रत्याख्यान की विशुद्धि - प्रत्याख्यान को पूर्ण विशुद्ध रूप से पालन करने में ही साधक की महत्ता है। छह प्रकार की विशुद्धियों से युक्त पाला हुआ प्रत्याख्यान ही शुद्ध और दोष रहित होता है।

(१) श्रद्धान विशुद्धि - शास्त्रोक्त विधि के अनुसार पांच महाव्रत तथा बारह व्रत आदि प्रत्याख्यान का विशुद्ध श्रद्धान करना।

(२) ज्ञान विशुद्धि - जिनकल्प, स्थविरकल्प, मूलगुण, उत्तरगुण तथा प्रातःकाल आदि के रूप में जिस समय जिसके लिये जिस प्रत्याख्यान का जैसा स्वरूप होता है, उसको ठीक वैसा ही जानना, ज्ञान विशुद्धि है।

(३) विनय विशुद्धि - विनय पूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करना। प्रत्याख्यान के समय जितनी वन्दनाओं का विधान है, तदनुसार वन्दन करना।

(४) अनुभाषणा शुद्धि - प्रत्याख्यान करते समय गुरु के सम्मुख हाथ जोड़ कर उपस्थित होना, गुरु के कहे अनुसार पाठों को ठीक-ठीक बोलना, तथा गुरु के **'वोसिरह'** कहने पर **'वोसिरामि'** आदि यथा समय कहना, अनुभाषणा शुद्धि है।

(५) अनुपालना शुद्धि - भयंकर वन, दुर्भिक्ष, बीमारी आदि में भी व्रत को दृढ़ता के साथ ठीक-ठीक पालन करना, अनुपालना शुद्धि है।

(६) भाव विशुद्धि - रागद्वेष तथा परिणाम रूप दोषों से रहित, पवित्र भावना से प्रत्याख्यान करना तथा पालना, भाव विशुद्धि है।

प्रत्याख्यान से अमुक व्यक्ति की पूजा हो रही है अतः मैं भी प्रत्याख्यान करूं, यह राग है।

मैं ऐसा प्रत्याख्यान करूं जिससे सब लोग मेरे प्रति ही अनुरक्त हो जाय, फलतः अमुक साधु का फिर आदर ही न होने पाए यह द्वेष है।

रागद्वेष युक्त तथा ऐहिक तथा पारलौकिक कीर्ति यश-वैभव आदि किसी भी फल की इच्छा से प्रत्याख्यान करना परिणाम दोष है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

८. आवश्यक क्रम

(१) सामायिक - जो अन्तर्दृष्टिवाले साधक है उनके जीवन का प्रधान उद्देश्य समभाव अर्थात् सामायिक करना है।

(२) चतुर्विंशतिस्तव - अन्तर्दृष्टि वाले साधक जब किन्हीं महापुरुषों को समभाव की पूर्णता के शिखर पर पहुंचे हुए जानते हैं, तब वे भक्ति भाव से गद्‌गद् होकर उनके वास्तविक गुणों की स्तुति करने लगते हैं।

(३) वन्दना - अन्तर्दृष्टि वाले साधक अतीव नम्र एवं गुणानुरागी होते हैं अतएव वे समभाव स्थित साधु पुरुषों को यथा समय वन्दन करते रहते हैं।

(४) प्रतिक्रमण - अन्तर्दृष्टि वाले साधक इतने अप्रमत्त जागरूक तथा सावधान रहते हैं कि यदि कभी पूर्व वासनावश अथवा कुसंस्कारवश आत्मा समभाव से गिर जाय तो यथाविधि प्रतिक्रमण, आलोचना, पश्चात्ताप आदि करके पुनः अपनी पूर्व स्थिति को पा लेते हैं।

(५) कायोत्सर्ग - ध्यान से संयम के प्रति एकाग्रता की भावना परिपुष्ट होती है। इसलिये अन्तर्दृष्टि वाले साधक बार-बार कायोत्सर्ग (ध्यान) करते है।

(६) प्रत्याख्यान - ध्यान के द्वारा विशेष चित्तशुद्धि होने पर आत्म दृष्टि साधक आत्म स्वरूप में विशेष लीन हो जाते हैं। अत एव उनके लिये जड़ वस्तुओं के भोग का प्रत्याख्यान करना सहज स्वाभाविक हो जाता है।

कार्य कारण सम्बन्ध - जब तक आत्मा समभाव में स्थित न हो, तब तक भाव-पूर्वक चतुर्विंशतिस्तव किया ही नहीं जा सकता। जो स्वयं समभाव को प्राप्त है वही रागद्वेष रहित समभाव में स्थित वीतराग पुरुषों के गुणों को जान सकता हैं और उनकी प्रशंसा कर सकता है अतएव सामायिक के बाद चतुर्विंशतिस्तव है।

जो मनुष्य अपने इष्ट देव वीतराग देव की स्तुति करता है। वही उनकी वाणी के उपदेशक, गुरुदेवों को भक्ति पूर्वक वंदन कर सकता है। अत एव वंदन आवश्यक का स्थान चतुर्विंशतिस्तव के बाद रखा है।

जो वीतराग देव और गुरु के प्रति समर्पित है वही अपना हृदय स्पष्टतया खोल कर कृत पापों की आलोचना कर सकता है। अतः वन्दना के बाद प्रतिक्रमण आवश्यक रखा गया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जब तक प्रतिक्रमण के द्वारा पापों की आलोचना करके चित्त शुद्धि न की जाय, तब तक धर्म ध्यान के लिये एकाग्रता सम्पादन करने का, जो कायोत्सर्ग का उद्देश्य है, वह सिद्ध नहीं हो सकता। अतः आलोचना के बाद कायोत्सर्ग आवश्यक रखा गया है।

जो साधक कायोत्सर्ग के द्वारा विशेष चित्त शुद्धि, एकाग्रता और आत्मबल प्राप्त करता है वही प्रत्याख्यान का सच्चा अधिकारी है। प्रत्याख्यान सबसे ऊपर की आवश्यक क्रिया है। उसके लिये विशिष्ट चित्त शुद्धि और विशेष उत्साह की अपेक्षा है, जो कायोत्सर्ग के बिना पैदा नहीं हो सकते। इसी विचारधारा को सामने रख कर कायोत्सर्ग के पश्चात् प्रत्याख्यान का क्रम आता है।

॥ तृतीय परिशिष्ट समाप्त ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ